वीर सेवा मन्दिर का त्रैमासिक

6129
वीर सेवा मन्दिर
२१ दरियागंज
नई दिल्ली-११०००२

अनेकान्त

(पत्र-प्रवर्तक : आचार्य जुगलकिशोर मुख्तार 'युगवीर')

वर्ष ४१ : कि० १ जनवरी-मार्च १९८८

इस अंक में—

क्रम	विषय	पृ०
१.	उपदेशी-पद	१
२.	जैन साध्वाचार के आदर्श भगवान कुन्दकुन्द —डा० ज्योति प्रसाद जैन	२
३.	पार्श्वनाथ विषयक प्राकृत-अपभ्रंश रचनाएँ —डॉ० प्रेमसुमन जैन	४
४.	समयसार का दार्शनिक पृष्ठ —डॉ० दरबारीलाल कोठिया	८
५.	आगम-तुल्य ग्रंथो की प्रामाणिकता का मूल्यांकन —डॉ० एन० एल० जैन	१३
६.	आगम के मूल रूपों में फेर-बदल घातक है —श्री पद्मचन्द्र शास्त्री	१७
७.	श्री ब्र० कुंवर दिग्विजयसिंह जी के शास्त्रार्थ ने मेरे द्वार खोले – श्री पद्मचन्द्र शास्त्री	२१
८.	ग्रन्थ-प्रशस्तियों का उपयुक्त प्रकाशन —डॉ० ज्योतिप्रसाद जैन	२३
९.	क्या कुन्दकुन्द भारती बदलेगी? —श्री पद्मचन्द्र शास्त्री	२५
१०.	जरा सोचिए : —सम्पादक	२३

प्रकाशक :

वीर सेवा मन्दिर, २१ दरियागंज, नई दिल्ली-२

जैन साध्वाचार के आदर्श भगवान कुन्दकुन्द

□ डा० ज्योति प्रसाद जैन, लखनऊ

आज के युग में, जब जैन साध्वाचार अनेकविध शिथिलाचार, विकृतियों एवं धनाश्रित कुरूढ़ियों से अभिभूत होता आ रहा है, सर्वमहान क्रियोद्धारक एवं भगवान तीर्थंकर देव की शुद्धाम्नाय के पुनरुद्धारक भगवत्-कुन्दकुन्दाचार्य के तद्विषयक उपदेश ही समर्थ प्रेरणास्रोत एवं मार्गदर्शक हो सकते हैं। साध्वाचार शुद्ध हो जाय तो श्रावकाचार स्वतः सुधरता चला जायेगा। भगवान के धर्म-तीर्थ एवं श्रीसंघ की शक्ति का प्रधान आधार शुद्ध एवं आदर्श साध्वाचार ही है।

प्रातःस्मरणीय मूलसंघाग्रणी श्रीमद् भगवत्कुन्दाचार्य का सुनाम मात्र जैन संस्कृति के ही इतिहास मे नही, अध्यात्म-विद्या के सार्वकालीन एव सर्वदेशीय इतिहास मे भी स्वर्णांकित हैं। वह युगान्तरकारी महापुरुष थे और कम से कम जैन इतिहास के तो ऐसे मोड़ पर खड़े थे जब अनेक आन्तरिक एवं बाह्य कारणों से परिस्थिति पर्याप्त विषम थी। अन्तिम तीर्थंकर वर्धमान महावीर (ई० पू० ५९९-५२७) को निर्वाण प्राप्त किये लगभग पाँच सौ वर्ष बीत चुके थे, और इस बीच उनके द्वारा प्रवर्तित द्रव्यश्रुत, द्वादशांगवाणी अथवा ग्यारह अंग-चौदहपूर्वो के ज्ञान में क्रमशः ह्रास एवं व्युच्छित्ति होते रहने से अब कतिपय अंग-पूर्वों के गिने-चुने कुछ एकदेशज्ञाता ही अवशिष्ट रह गये थे। भगवान के श्रीसघ मे शनैः शनैः भारी विघटन, बिखराव, केन्द्र परिवर्तन, शिथिलाचार एव फूट प्रकट हो रहे थे। अन्तिम श्रुतकेवली आचार्य भद्रबाहु प्रथम (ई० पू० ३९४-३६५) की शिष्य-परंपरा के दाक्षिणात्य निर्ग्रन्थ श्रमणों का सगठन एवं मार्गदर्शन करने की भी परम आवश्यकता थी, क्योंकि अभी तक वे ही भगवान की मौलिक परंपरा का संरक्षण अपनी मुनिचर्या द्वारा करते आ रहे थे। उनमें भी अब बिखराव के सकेत मिलने लगे थे। ब्राह्मण परंपरा के षड्दर्शन अब तक रूढ़ हो चुके थे और बौद्ध धर्म हीनयान एवं महायान मे विभाजित होने पर भी फल फूल रहा था। सब ही परंपराएं बाह्य क्रिया-काण्ड एवं प्रवृत्तिमार्ग का पोषण कर रही थीं। उत्तर भारत में तो ईरानी- यूनानी, पह्लव, शक, कुषाण आदि विदेशी लोगों के आगमन एवं प्रभाव से भारतीय धर्मों का व्यावहारिक रूप भी पर्याप्त निश्रित होने लगा था—*दक्षिण भारत अभी तक ऐसे अनिष्ट प्रभावो से अछूता बचा हुआ था।*

ऐसे समय मे भगवत् कुन्दकुन्दाचार्य का सुदूर दक्षिण में आविर्भाव हुआ। वह भगवान महावीर की आचार्य परपरा के २७वे गुरू, आचार्य भद्रबाहु द्वितीय (ई० पू० ३७-१४) के, जो कि स्वय अष्टागधारी थे तथा शेष अग-पूर्वो के देशज्ञाता थे, साक्षात् शिष्य थे। लोहाचार्य, वट्टकेरि, गुणधर, अर्हद्बलि, माघनंदि, धरसेन, विमलार्य शिवार्य, स्वामिकुमार, उमास्वाति आदि अनेक धुरंधर आचार्य उनके प्रायः समसामयिक थे। अभी तक द्वादशांग-श्रुत गुरुपरंपरा में मौखिक द्वार से ही प्रवाहित होता आया था, और शायद यह भी एक बड़ा कारण था कि उसमें क्रमशः ह्रास एव व्युच्छित्ति होती चली जा रही थी। किन्तु सर्व परिग्रहत्यागी बनवासी निर्ग्रंथ श्रमणों की चर्या ही ऐसी थी। वे न किसी बस्ती मे ही रह सकते थे, न किसी एक स्थान में अधिक समय तक ठहर सकते थे और लेखन एव पठन-पाठन की साधन-सामग्री तक का परिग्रह भी नही रख सकते थे। अतएव श्रुतागम को लिपिबद्ध करने का सामूहिक विरोध ही चलता रहा। 'कलिंगचक्रवर्ती सम्राट खारवेल द्वारा कुमारी पर्वत पर, लगभग ई० पू० १५० मे, आयोजित महामुनि-सम्मेलन में यह प्रश्न जोर-शोर के साथ चर्चित भी हुआ और वहां से आकर उत्तर मथुरा के जैनसंघ ने पुस्तकधारिणी सरस्वती प्रतिमा को प्रतीक बना

कर सारस्वत अभियान भी छेड़ दिया, तथापि स्थितिपालक दल के प्रबल विरोध के कारण उसके सफल होने में कुछ देर लगी। अन्ततः आचार्य कुन्दकुन्द ने ही सर्वप्रथम वह साहसिक कदम उठाया। उन्होने स्वय को गुरुपरंपरा से प्राप्त श्रुतागम के आधार से अपने समयसारादि ८४ पाहुड़ (प्राभृत) ग्रन्थों की रचना की और लिपिबद्ध कर दिया। यह एक महान क्रान्तिकारी कदम था जिसका समुचित मूल्यांकन करना सहज नहीं है।

आचार्यप्रवर ने समस्त तत्कालीन परिस्थितियों और भावी संभावनाओं पर गंभीर चिन्तन-मनन करके अपने लिए जिनवाणी का निचोड एव सारतत्व अध्यात्मविद्या को चुना और व्यवहार नय तथा व्यवहार धर्म की उपेक्षा न करते हुए भी निश्चय नय, शुद्धात्मोपलब्धि, अतः भावतः एव द्रव्यतः भी शुद्धमुनिचर्या एव आत्मसाधना पर अधिक बल दिया। वह स्यात् सर्वप्रथम ऐसे मरमी साधक योगिराज थे जिन्होंने अपने लेखन द्वारा आत्मिक रहस्यवाद का उद्घाटन कर दिया और आने वाली पीढ़ियो के लिए आध्यात्मविद्या को ठोस आधार प्रदान कर दिया। स्यात् उन्ही से प्रत्यक्ष या परोक्ष प्रेरणा लेकर उनके सघ के समसामायिक उपरोक्त अन्य आचार्यों ने भी अपने अपने क्षयोपशम, रुचि और ज्ञान के अनुसार श्रुतागम के आधार से चतुरानुयोग के विभिन्न विषयो पर मूलभूत रचना करके तद्विषयक भावी साहित्य सृजन के लिए ठोस आधार प्रस्तुत कर दिया। इतना ही नही, वट्टकेरि, गुणधर एवं धरसेन जैसे श्रुतधराचार्यों ने तो उन्हे प्राप्त श्रुतागम के महाकर्म-प्रकृतिप्राभृत, कसायप्राभृत, आचारांग प्रभृति अंगो को भी लिपिबद्ध करा दिया। इस प्रकार भगवान कुन्दकुन्दाचार्य के अप्रतिम ऋण से जैन संसार कभी भी उऋण नही हो सकता। इतिहास साक्षी है कि जब-जब बाह्य क्रियाकाण्ड, शिथिलाचार एवं विकृतियों ने धर्म के मौलिक स्वरूप को आवश्यकता से अधिक आच्छादित करना शुरू किया, कुन्दकुन्द-साहित्य ही उसे सही मोड़ देने और सम्यक् दिशानिर्देश करने मे प्रधान सम्बल बना। वस्तुतः जो कार्य श्रीमद् शकराचार्य ने अपने वेदान्त दर्शन एवं अद्वैतवाद द्वारा ८वीं शती के अन्त मे ब्राह्मण परंपरा एवं हिन्दू जाति के लिए किया, प्रायः वैसा ही कार्य उनसे ८०० वर्ष पूर्व श्रीमद् कुन्दकुन्दाचार्य अपनी आध्यात्मिक विचारधारा के विशद प्रतिपादन द्वारा भारतीय संस्कृति, विशेषकर जैन परपरा के लिए सम्पन्न कर गये थे।

इधर कुछ दिनों से कुन्दकुन्दाचार्य-द्विसहस्राब्दि महोत्सव मनाने की चर्चा चली है और उसका कई माध्यमो से प्रचार किया जा रहा है। कई स्थानों में कुछ सेमिनार-संगोष्ठियां, समारोह-उत्सव आदि हुए भी हैं और हो रहे है तथा व्यापक स्तर पर द्विसहस्राब्दि महोत्सव मनाने की योजनाएं भी बन रही हैं। यों तो प्रत्येक शुभ कार्य के प्रारम्भ में नित्य पढ़े जाने वाले मंगल श्लोक में तीर्थंकर भगवान महावीर और उनके प्रधान गणधर गौतम स्वामि के साथ-साथ जिन एकमात्र आचार्यपुंगव कुन्दकुन्द का नाम स्मरण किया जाता है उनके सुनाम या निमित्त से कभी भी, कही भी, कोई भी धर्म एवं संस्कृति-प्रभावक आयोजन किया जाय, वह सदैव श्लाघनीय होगा, किन्तु जब किसी महापुरुष या उनके जीवन की घटना विशेष की स्मृति मे कोई आयोजन किया जाय तो उसमें कुछ तुक होना उचित है। भगवत् कुन्दकुन्दाचार्य का जन्म ईसा पू० ४१ में हुआ था, ११ वर्ष की आयु में ई० पू० ३० मे उन्होंने मुनि दीक्षा ली थी, २२ वर्ष मुनि जीवन व्यतीत कर ३३ वर्ष की आयु मे ई० पू० ८ में वह आचार्य पद पर प्रतिष्ठित हुए और ५२ वर्ष पर्यन्त उस पद को सुशोभित करके ८५ वर्ष की आयु मे सन् ४४ ई० में उन्होंने स्वर्गगमन किया था इनमे से किसी भी विधि की संगति इस या आगामी वर्ष के साथ नही बैठती। हमें ज्ञात नही है कि किस महानुभाव की प्रेरणा से इस समय इस आयोजन का विचार प्रस्फुटित हुआ है। हमे उनकी सद्भावना में तनिक भी सन्देह नही है, और हो सकता है कि उनके इस निर्णय का कोई आधार भी रहा हो, परन्तु हमारे देखने सुनने मे उसकी कोई अभिव्यक्ति नही आई। बहुमान्य परंपराये अनुश्रुति के अनुसार तो **आचार्य प्रवर के जन्म की द्वि-सहस्राब्दि सन् १९५९ ई० में होती, उनकी दीक्षा की द्वि-सहस्राब्दि सन् १९७० में होती, उनके आचार्य-पद-ग्रहण की द्वि-सहस्राब्दि सन् १९९२ ई० में और उनके स्वर्गगमन की द्वि-सहस्राब्दि सन् २०४४ ई० में होनी चाहिए।**

पार्श्वनाथ विषयक प्राकृत-अपभ्रंश रचनाएँ

□ डा० प्रेमसुमन जैन, (सुखाडिया वि०वि० उदयपुर)

श्रमण-परम्परा के महापुरुषों तीर्थंकरो में भगवान् पार्श्वनाथ के जीवन का विशेष योगदान रहा है। ईसा पूर्व लगभग एक हजार वर्ष पूर्व भगवान पार्श्वनाथ का जन्म हुआ था। उस समय देश में उपनिषद्-दर्शन का विकास हो रहा था। पार्श्वनाथ के चिन्तन ने भारतीय दर्शन को आध्यात्मिक बनाने में विशेष योग किया है। नगर सस्कृति के साथ ही ग्राम्य जीवन एव अनार्य लोगो के बीच में जीवनमूल्यों का प्रचार पार्श्वनाथ की अध्यात्म-परम्परा ने भगवान् बुद्ध एवं भगवान् महावीर के दर्शन को भी गति दी है। महावीर की परम्परा मे पार्श्वनाथ के शिष्यो की जीवनचर्या एवं उनके विकारों को व्यक्त करने वाले कई प्रसंग शास्त्रो मे प्राप्त होते है। धीरे-धीरे पार्श्वनाथ के जीवन का विषद वर्णन भी जैनाचार्यों ने स्वतन्त्र ग्रन्थों के रूप मे किया है।

अर्धमागधी आगम ग्रन्थों मे पार्श्वनाथ के जीवन के कुछ प्रसग प्राप्त हैं। उनके शिष्य एव अनुयायियो के जीवन की विस्तृत जानकारी यहां मिलती है। कल्पसूत्र में सक्षेप मे पार्श्वनाथ का जीवन वर्णित है। तिलोयपण्णति मे भी पार्श्वनाथ की जीवन-कथा का अधिक विस्तार नही मिल सका है। समवायांगसूत्र मे केवल इतना उल्लेख है कि पार्श्वनाथ का पूर्वभव मे सुदर्शन नाम था। तिलोयपण्णत्ति मे भी इतना ही कहा गया है कि पार्श्वनाथ का जीव प्राणत कल्प से इस भव मे आया है। अत: पार्श्व के पूर्वभवों का वर्णन लगभग ८वी शताब्दी के ग्रन्थो मे किया गया है। गुणभद्र के उत्तरपुराण मे सर्वप्रथम यह वर्णन प्राप्त है, जिसका अनुकरण परवर्ती प्राकृत एव अपभ्रंश के ग्रन्थकारो ने किया है। सस्कृत, प्राकृत एव अपभ्रंश की पार्श्वनाथ विषयक कुछ रचनाए प्रकाशित हो गई हैं, जिनमे पार्श्वनाथ के जीवन के सम्बन्ध मे विद्वान् सम्पादको ने विशेष प्रकाश डाला है।[1] जैन साहित्य और दर्शन के मनीषी देवेन्द्र मुनि शास्त्री ने भगवान् पार्श्वनाथ के जीवन पर एक पुस्तक भी लिखी है।[2] ब्लूमफील्ड ने भी पार्श्वनाथ के जीवन एव तत्सम्बन्धी कथाओ पर प्रकाश डाला है।[3] किन्तु अभी भी प्राकृत-अपभ्रंश की कई रचनाएं अप्रकाशित हैं, जो पार्श्वनाथ के जीवन पर नया प्रकाश डाल सकती हैं। उनमे कुछ रचनाओं का संक्षिप्त परिचय यहां प्रस्तुत किया जा रहा है।

प्राकृत रचनाएं :

प्राकृत भाषा में भगवान् पार्श्वनाथ का जीवन प्रमुख रूप से 'चउपन्नमहापुरिसचरिय' मे शीलांक ने प्रस्तुत किया है। इसी का अनुसरण श्री देवभद्रसूरि (या गुणचन्द्र) ने अपने 'पासनाहचरिय' मे किया है। प्राकृत की ये दोनो रचनाएं प्रकाशित है। कुछ वर्ष पूर्व भद्रेश्वरसूरि की 'कहावलि' भी प्रकाशित हुई है, जिसमे पार्श्वनाथ का जीवनचरित वर्णित है। विद्वानों ने इस कहावलि का समय लगभग आठवी शताब्दी माना है।[4] अत: प्राकृत के रचनाकारो के लिए यह प्रेरणा-ग्रन्थ रहा है।

१: पार्श्वनाथ विषयक प्राकृत की रचनाओं मे १२वी शताब्दी के आम्रकवि द्वारा रचित 'चउपन्नमहापुरिस-चरिय' का प्रमुख स्थान है। इस ग्रन्थ मे ८७३५ गाथाएँ है तथा अन्य छन्दो की सख्या १०० है। खभात के विजय-नेमिसूरीश्वर शास्त्रभण्डार मे इस रचना की पाण्डुलिपि उपलब्ध है, जिसका लेखनकाल लगभग १६वीं शताब्दी है।[5]

२. किसी अज्ञात कवि ने प्राकृत मे 'पासनाहचरिय' नामक ग्रन्थ की रचना की । इस ग्रन्थ मे २५६४ गाथाए है। इसका दूसरा नाम 'पार्श्वनाथदशभवचरित' भी प्राप्त होता है। इस प्राकृत ग्रन्थ की पाण्डुलिपि शातिनाथ जैन मंदिर जैसलमेर के ताड़पत्रीय ग्रन्थभण्डार मे उपलब्ध है।[6]

३. पार्श्वनाथ विषयक प्राकृत के एक अन्य ग्रन्थ की सूचना प्रो० वेलणकर ने दी है। किसी नागदेव नामक प्राकृत कवि ने 'पार्श्वनाथपुराण' की रचना की है।[7] इस ग्रन्थ के सम्बन्ध में अधिक जानकारी उपलब्ध नही हो सकी है। प्राच्यविद्या सस्थान, बड़ौदा, भारतीय संस्कृति विद्यामंदिर, अहमदाबाद, बी० एल० सस्थान, पाटन एवं राजस्थान प्राच्यविद्या प्रतिष्ठान, जोधपुर द्वारा प्रकाशित हस्तलिखित ग्रन्थों की सूचियों के अवलोकन से प्राकृत मे रचित कुछ और पार्श्वनाथ विषयक रचनाएं खोजी जा सकती है।

अपभ्रंश रचनाएं :

अपभ्रंश साहित्य में पार्श्वनाथ का जीवन प्रेरणा का स्रोत रहा है। १०वी शताब्दी से १५वीं शताब्दी के बीच अपभ्रंश में पार्श्वनाथ के जीवन पर कई रचनाएं लिखी गई हैं। महाकवि पुष्पदन्त के महापुराण में पार्श्वनाथ का जीवन वर्णित है, जो प्रकाश में आ चुका है। स्वतन्त्र रूप से ११वीं शताब्दी के कवि पद्मकीर्ति का 'पासनाहचरिउ' हिन्दी अनुवाद के साथ प्रकाशित हो चुका है। अभी तक अपभ्रंश की ज्ञात रचनाओ में पार्श्वनाथ विषयक निम्नाकित रचनाएं अप्रकाशित है। इनको सपादित कर प्रकाशित किया जाना चाहिए, जिससे पार्श्वनाथ के जीवन पर अधिक प्रकाश पड सकेगा।

१. पार्श्वपुराण (पं० सागरदत्त सूरि—वि० सं० १०७६ के कवि पं० सागरदत्त सूरि ने पार्श्वनाथ पुराण की रचना की थी। इन्होने जवुसामिचरिय भी लिखा है, ऐसी सूचना बृहत् टिप्पणिका सूची से प्राप्त होती है। किन्तु इनकी ये दोनों रचनाए अभी उपलब्ध नही हुई है।

२. पासणाहचरिउ (देवचंद)- लगभग १२वी शताब्दी के अपभ्रंश कवि देवचद द्वारा रचित पासणाहचरित की अब तक मात्र दो प्रतियां उपलब्ध हैं। एक प्रति प० परमानन्द शास्त्री के निजी सग्रह मे है, जिसमे पत्रसख्या ७, ७९ एवं ८१ उपलब्ध नही है। दूसरी प्रति सरस्वती भवन, नागौर के ग्रन्थ भण्डार में उपलब्ध है। यह प्रति पूर्ण है। इसमें कुल ६७ पत्र है तथा प्रति का लेखनकाल वि० सं० १५२० चैत्र सुदी १२ अंकित है। इस प्रति में ग्रन्थ का नाम 'पासपुराण' दिया हुआ है।[8]

इस पासणाहचरिउ मे कुल ११ सधिया है, जिनमें २०२ कडवकों में पार्श्वनाथ के जीवन को काव्यमय भाषा में प्रस्तुत किया गया है। कवि ने अपना यह ग्रन्थ गुंदिज्जनगर के पार्श्वनाथ मदिर मे निर्मित किया गया था। देवचद के गुरू का नाम वासवचन्द्र था। इनको दक्षिण भारत का विद्वान् मानते हुए पं० परमानन्द जी ने इनका समय १२वीं शताब्दी तक किया है।[9]

पार्श्वनाथ की ध्यान-समाधि का वर्णन करते हुए कवि कहता है कि पार्श्वनाथ मोह रूपी अधकार को दूर करने के लिए सूर्य के समान एवं क्षमा रूपी लता को चढ़ने के लिए उन्नत पर्वत की तरह है। उनका शरीर संयम और शील से विभूषित है. जो कर्मरूप कषाय की अग्नि के लिए मेघ की तरह है। कामदेव के उत्कृष्ट बाण को नष्ट करने वाले तथा मोक्षरूप महासरोवर मे क्रीड़ा करने वाले वे हंस की तरह हैं। वे इन्द्रिय रूपी सर्पों के विष को हरण करने वाले मन्त्र है तथा आत्म-साक्षात्कार कराने वाली समाधि मे वे लीन हैं—

मोह-तमंघ-पयाव-पयंगो, खतिलयारुहणे गिरितुंगो।
संजम-सील-विहूसिय देहो, कम्मकसाय हुआसण मेहो।
पुप्फधणु वर तोमर धंसो, मोक्ख-महासरि-कीलण हंसो।
इंदिय-सप्पह विसहरमंतो, अप्पसरूव-समाहि-सरंतो।

३. पाषणाहचरिउ (विबुध श्रीधर)—विबुध श्रीधर १२वी शताब्दी के समर्थ अपभ्रंश कवि हैं। इनकी अपभ्रंश की छह रचनाओ का उल्लेख मिलता है, जिनमे से चार उपलब्ध हो चुकी है। उनमें 'पासणाहचरिउ' को कवि की प्रथम उपलब्ध रचना कहा जा सकता है। अपभ्रंश के मनीषी डा० राजाराम जैन ने कवि के 'वड्ढमाणचरिउ' नामक ग्रन्थ का सम्पादन कर हिन्दी अनुवाद के साथ उसे प्रकाशित कराया है। इस ग्रन्थ की भूमिका मे 'पाषणाहचरिउ' के महत्त्व आदि पर प्रकाश डाला गया है।[10] इसी कवि की छठी रचना 'सुकुमालचरिउ' का हमने सम्पादन कार्य सम्पन्न किया है, जो शीघ्र प्रकाश्य है।

विबुध श्रीधर के इस 'पासनाहचरिउ' की अभी तक दो प्रतिया उपलब्ध है। आमेरशास्त्र भण्डार, जयपुर मे उपलब्ध प्रति वि० सं० १५७७ की है, जिसमे कुल ९९ पत्र है। ग्रन्थ की दूसरी प्रति अग्रवाल दि० जैन बड़ा मदिर, मोतीकटरा, आगरा मे उपलब्ध है। इसमे कुल ९८ पत्र है, किन्तु ९२वा पत्र उपलब्ध नही है। इस ग्रन्थ मे कुल १२ सधिया एव २३८ कड़वक हैं। साहू नट्टल की प्रेरणा से इस 'पासणाहचरिउ' की रचना दिल्ली मे की गई थी। ग्रन्थ की प्रशस्ति से ज्ञात होता है कि कवि श्रीधर जाति के अग्रवाल जैन थे तथा हरियाणा के निवासी थे। उन्होंने दिल्ली का सुन्दर वर्णन इस काव्य मे किया है। इतिहास एव संस्कृति स सम्बन्ध मे कई नई सूचनाएं इस ग्रन्थ से प्राप्त होती है। ग्रन्थ की रचना करते हुए कवि ने कहा है कि जिसने इस संसार के भ्रमण को नाश

कर दिया हैं, पापों को समाप्त कर दिया है तथा जो अनुपम गुणरूपी मणियों के समूह से भरा हुआ है उसे भव-बन्धन को तोड़ने वाले पार्श्व को प्रणाम कर मैं उसके चरित को प्रकट कर रहा हूं—

पूरिय भुअणासहो पावपणासहो,
णिरुवम गुणमणि वाण-भरिउ।
तोडिय भव-पासहो पणविवि पासहो,
पुणु पयडमि तासु जि चरिउ।

इस ग्रन्थ की प्रशस्ति सांस्कृतिक दृष्टि से विशेष महत्त्व की है।

४. पासनाहचरिउ (बुह असवाल)—कवि बुध असवाल १५वी शताब्दी के अपभ्रंश कवि थे। इनकी अन्य रचनाओ का अभी पता नही चला है। इनकी ज्ञात एक मात्र कृति 'पासणाहचरिउ' उनकी विद्वता के परिचय के लिए पर्याप्त है। बुध असवाल ने कुशार्त देश (इटावा उ० प्र०) करहल नामक गाव मे यदुवशी साहु सोणिग के अनुरोध से इस पासणाहचरिउ की रचना की थी। कवि ने अपनी प्रशस्ति मे ग्रन्थ के रचना स्थल के सम्बन्ध म अच्छी जानकारी दी है। इस ग्रन्थ की रचना वि० स० १४७९ मे भाद्रपद कृष्णा एकादशी को सम्पन्न की गई थी। ग्रन्थ लिखने मे लगभग एक वर्ष का समय कवि को लगा था। कवि असवाल का वश गोलाराड (गोलालार) था। वे पण्डित लक्ष्मण के पुत्र थे—

अहो पडिय लक्खड़ सुयगुलग, गुलराडवंसि धयवड अहंग।

ग्रन्थ की १३वी सधि क अन्त मे पुष्पिका म एव ग्रन्थ के प्रारम्भ मे ५वे घत्ते मे कवि ने स्पष्ट रूप से अपने नाम का उल्लेख किया है।

इउ सुणिवि मज्झु पोसिहि चित्तु,
करि कव्वु पासणाहहो चरित्तु।
त णिसुणिव कव्वहु तणउणामु,
वुहु आसुवालु हुउ जो मधामु॥

इस पासणाहचरिउ की मात्र दो पाण्डुलिपिया उपलब्ध हैं। अग्रवाल दिगम्बर जैन बड़ा मदिर, मोतीकटरा, आगरा में जो प्रति है उसमे १५० पत्र है। किन्तु बीच के ९१ से ९७ तक पत्र लुप्त है।[११] ग्रन्थ की दूसरी प्रति सरस्वती भवन, बड़ा मदिर ग्रन्थभण्डार, घी वालो का रास्ता, जयपुर मे उपलब्ध है। इस प्रति मे १२१ पत्र है। कुछ पन्ने कीड़े लग जाने से कट-फट गये हैं। फिर भी प्रति पूर्ण और अच्छी है। इस भण्डार की सूची तैयार करने वाले विद्वान् डा० जैन ने इसे प्राकृत की रचना कहा है, जबकि यह अपभ्रंश का ग्रन्थ है।[१२]

५. पार्श्वनाथ पुराण (रइधू)—रइधू ने अपभ्रंश मे कई रचनाए प्रस्तुत की है। उनके व्यक्तित्व एव उनकी रचनाओ के सम्पादन-प्रकाशन का कार्य डा० राजाराम जैन सम्पन्न कर रहे है।[१३] डा० के० सी० कासलीवाल ने विभिन्न ग्रन्थभण्डारो का सर्वेक्षण कार्य सम्पन्न किया है।[१४] इसमे रइधू की कई रचनाए प्रकाश मे आई है। डा० देवेन्द्रकुमार शास्त्री ने रइधू के इस पार्श्वपुराण की ५ प्रतियों की सूचना अपनी पुस्तक में दी है। कोटा, व्याबर, जयपुर एवं आगरा मे इस ग्रन्थ की पाण्डुलिपियाँ उपलब्ध है। ग्रन्थ के प्रारम्भ मे कवि कहता है—

पणविवि सिरिपासहो,
सिवउरिवासहो विहुणिय पासहो गुणभरिउ।
भवियहं सुह-कारणु दुक्ख-णिवारणु,
पुणु आहासमि तहु चरिउ॥

इस ग्रन्थ मे ७ सधियां हैं और १३६ कडवक हैं। ग्रन्थ मे प्राकृत एव सस्कृत मे लिखे गये पार्श्वनाथचरित ग्रन्थो की विषयवस्तु को काव्यमय भाषा मे कवि ने प्रस्तुत किया है। कवि के द्वारा प्रस्तुत ग्रन्थ की आदि एवं अन्त की प्रशस्ति मध्यकालीन सस्कृति के विषय मे महत्त्वपूर्ण सामग्री प्रस्तुत करती है। विशेषकर ग्वालियर के सामाजिक, धार्मिक, राजनैतिक जीवन पर ग्रन्थ की यह सामग्री विशेष प्रकाश डालती है। तत्कालीन जैन समाज की उन्नत दशा का ज्ञान इससे होता है। साहू खेमचन्द के परिवार का विस्तृत विवरण इस ग्रन्थ में प्राप्त है।

६. पासणाहचरिउ (तेजपाल)—कवि तेजपाल १६वी शताब्दी के समर्थ अपभ्रंश कवि थे। इन्होने १. संभवनाथचरित, २. वरागचरित एव ३. पार्श्वनाथचरित ये तीन रचनाए अपभ्रंश मे लिखी हैं। अभी ये तीनों ग्रन्थ अप्रकाशित है। अत: कवि के सम्बन्ध में अधिक जानकारी प्रचारित नही हुई है। कवि नेत्रपाल ने इस पासणाहचरिउ मे जो प्रशस्ति दी है उससे उनके परिवार के सम्बन्ध में पर्याप्त जानकारी मिलती है। बासवपुर नामक गांव मे वरसावडह नामक वंश की परम्परा मे

तेजपाल का जन्म हुआ था। इनके पिता का नाम ताल्हुच था। तेजपाल ने ग्रन्थ के प्रेरणादायक घूघनु साहु (सुरजन साहु) के परिवार का भी विस्तृत परिचय दिया है। सुरजन साहु की प्रशंसा करते हुए कवि कहता है—

णामें सुरजण साहु दयावरु, लंबकंचु जणमण-तोसायरु।
धणसिरि रमणि सुहणेहासिय, णिय जस पसरदि
सुरमुह-वासिय ॥ —अंतिम संधि ३६ घत्ता

ग्रन्थ के प्रारम्भ में पार्श्वनाथ की स्तुति करते हुए कवि कहता है देवेन्द्र आदि के द्वारा पूजित, इस जन्म-समुद्र को पार कर जाने वाला, कर्मरूपी शत्रुओं का नाशक, भय-हरण करने वाला, कल्याण करने में पटु एवं ध्यान के द्वारा जिसने कर्म-समूह को जीत लिया है, उस पार्श्वनाथ के चरित को मैं कहूंगा—

देविंदेहि णुओ वरो सियरो जन्मवुही-पारणो,
कम्मारीण विहसणो भहरो कल्याण-मालायरो।
झाणे जेण जिओ चिरं अणहियो कम्पट्टपुट्ठासवो,
सोयं पासजिणिंदु संघवरदो वोच्छ चरित्तं तहो ॥

इस पासणाहचरिउ की दो पाण्डुलिपियां उपलब्ध है। बड़े धड़े का दि० जैन मंदिर, अजमेर मे भट्टारक हर्षकीर्ति का ग्रन्थभण्डार है। उसमें जो इस ग्रन्थ की प्रति है उसमें कुल १०१ पत्र है। अंतिम १०२वा पत्र नहीं है। प्रति में ग्रन्थ की रचना का समय वि०सं० १५१५ अंकित है।[15] ग्रन्थ की दूसरी पाण्डुलिपि आमेरशास्त्र भण्डार के कलेक्शन मे है।

पार्श्वनाथ के जीवन के सम्बन्ध मे विभिन्न भाषाओं के ग्रन्थों से जो जानकारी मिलती है, उसकी प्रामाणिकता के लिए एवं तुलनात्मक अध्ययन के लिए प्राकृत-अपभ्रंश के इन अप्रकाशित ग्रन्थों का विशेष महत्त्व है। पार्श्वनाथ पूर्वभव, उपसर्ग, गृहस्थजीवन एवं विहार क्षेत्र के सम्बन्ध मे जो बिखरी हुई सामग्री उपलब्ध है उसका अध्ययन इन अप्रकाशित ग्रन्थो के साथ करने पर किसी निश्चित निष्कर्ष पर पहुंचा जा सकता है। पार्श्वनाथ के जीवन के अतिरिक्त १०वी से १६वी शताब्दी तक के भारतीय जीवन के विभिन्न पक्ष भी इन ग्रन्थो के अध्ययन से उजागर हो सकते है। अतः पार्श्वनाथ से विशेष रूप से जुड़े हुए तीर्थ-स्थान, अतिशयक्षेत्र एवं संस्थाओं का यह दायित्व है कि वे पार्श्वनाथ-सम्बन्धी इन अप्रकाशित रचनाओं को प्रकाश मे लाने का दृढ़-संकल्प करे। प्राकृत-अपभ्रंश के विद्वानों को भी इस दिशा मे प्रयत्नशील होना चाहिए।

सन्दर्भ-सूची

१. (क) पार्श्वनाथचरित (वादिराजसूरि), माणिकचन्द्र ग्रन्थमाला, बम्बई, सं० १६७३,

(ख) सिरियासनाहचरिय (देवभद्रसूरि), अहमदाबाद, १६४५,

(ग) पासणाहचरिउ (पद्मकीर्ति), प्राकृत ग्रन्थ परिषद' वाराणसी, १६६५

२. शास्त्री, देवेन्द्रमुनि; भगवान् पार्श्व—एक समीक्षात्मक अध्ययन, पूना, १६६६

३. ब्लूमफील्ड; 'द लाइफ एण्ड स्टोरीज् आफ द जैन सेवियर पार्श्वंगा,' बाल्टीमोर १६१६ ज्ञान प्रकाशन; दिल्ली द्वारा १६८५ मे पुनः मुद्रित।

४. उमाकान्त, पी० शाह; आल इंडिया ओरियन्टल कान्फ्रेंस, वर्ष २०, भाग २ पृ० १४६; जैन सत्य-प्रकाश, भाग १७, संख्या ४, १६५६

५. चौधरी, गुलाबचन्द; जैन साहित्य का बृहत् इतिहास, भाग ६, पृ० ७२

६. बृहत् टिप्पणिका, जैन साहित्य संशोधक मण्डल, पूना, १६२५, स० २६८

७. जिनरत्नकोश पृ० २४७

८. शास्त्री, देवेन्द्रकुमार; अपभ्रंश भाषा एवं साहित्य की शोध प्रवृत्तियां, दिल्ली, १६७१, पृ० १४७

६. शास्त्री, परमानन्द; जैनग्रन्थ प्रशास्तिसंग्रह, भाग ३, पृ० ७७

१०. जैन, राजाराम, वड्ढमाणचरिउ, दिल्ली, १६७५

११. शास्त्री, देवेन्द्रकुमार, वही, पृ० १४६

१२. जैन, पी० सी०; 'जैन ग्रन्थ भण्डार इन जयपुर एण्ड नागौर,' जयपुर, १६७८; पृ० १०४

१३. (क) रइधू साहित्य का आलोचनात्मक परिशीलन, वैशाली

(ख) रइधू-ग्रन्थावली भाग १, सोलापुर; मे यह पासणाहचरिउ प्रकाशित हो गया है।

१४. कासलीवाल, के० सी०; राजस्थान के जैन ग्रन्थ भण्डारो की सूची, ५ भागों में

१५. शास्त्री, परमानन्द, वही, पृ० ८८ (प्रस्तावना)

समयसार का दार्शनिक पृष्ठ

□ डॉ० दरबारीलाल कोठिया, न्यायाचार्य

प्राथमिक : आ: कुन्दकुन्दकी रचनाएँ, उनकी भाषा और उनका प्रभाव

"समयसार" आचार्य कुन्दकुन्दकी, जिन्हें शिलालेखो में "कौण्डकुन्द" के नाम से उल्लेखित किया गया है, । एक उच्च कोटि की आध्यात्मिक रचना है। यों उन्होने अनुश्रुति अनुसार ८४ पाहुडो (प्राभृतो-उपहार स्वरूप प्रकरण ग्रन्थों[1]) तथा आचार्य पुष्पदन्त-भूतावली—द्वारा रचित "षड्खण्डागम" मूलागमकी विशाल टीका की भी रचना की थी। पर आज वह समग्र ग्रन्थ-राशि उपलब्ध नही है फिर भी उनके जो और जितने ग्रन्थ प्राप्त है वे इतने महत्त्वपूर्ण हैं कि उनसे समग्र जैन वाङ्मय समृद्ध एवं दैदीप्यमान है। उनके इन ग्रन्थो का, जिनकी सख्या २१ है, परिचय अन्यत्र दिया गया है[2]।

ध्यातव्य है कि कुन्दकुन्द ने अपने तमाम ग्रन्थ उस समय की प्रचलित प्राकृत, पाली और सस्कृत इन तीन भारतीय प्रमुख भाषाओ में से प्राकृत मे रचे हैं। प्रश्न हो सकता है कि कुन्दकुन्द ने अपनी ग्रन्थ-रचना के लिए प्राकृत को क्यो चुना, पाली या संस्कृत को क्यो नही चुना ? इसके दो कारण ज्ञात होते है। एक तो यह कि प्राकृत साधारण जनभाषा थी—उसके बोलने वाले सामान्य-जन अधिक थे और कुन्दकुन्द तीर्थंकर महावीर के उपदेश को जन-साधारण तक पहुचाना चाहते थे। दूसरे षड्खण्डागम, कसायपाहुड जैसे दिगम्बर आगम-ग्रन्थों के प्राकृत शौरसेनी, मे निबद्ध होने से उनकी सुदीर्घ परम्परा भी उन्हें प्राप्त थी। अतएव उन्होंने अपनी ग्रन्थ-रचना के लिए प्राकृत को ही उपयुक्त समझा। उनकी यह प्राकृत शौरसेनी-प्राकृत है। यद्यपि कुन्दकुन्द की मातृ-भाषा तमिल थी और वे तमिलभाषी थे। किन्तु वे अन्तिम श्रुतकेवली भद्रबाहु के नेतृत्व मे उत्तर भारत से दक्षिण भारत में जो विशाल मुनि-श्रावक संघ गया था और जो शौरसेनी-प्राकृत का पूरा अभ्यासी था उससे कुन्दकुन्द बहुत प्रभावित और उस भाषा के प्रकाण्ड पंडित बने होंगे। तभी उन्होने शौरसेनी प्राकृत मे विपुल ग्रन्थ रचे। उनका तमिल भाषा मे रचा "कुरल" एकमात्र उपलब्ध है, जिसे तमिलभाषी "पंचमवेद" के रूप मे मानते है। कुन्दकुन्द के उत्तरवर्ती शतश आचार्यों ने भी शौरसेनी प्राकृत मे प्रचुर ग्रन्थो की रचना की है।

शौरसेनी-प्राकृत साहित्य के निर्माताओं मे आचार्य कुन्दकुन्द का निस्सदेह मूर्धन्य स्थान है। वे यशस्वी प्राकृत साहित्यकार के अतिरिक्त मूल-सघ के गठन-कला के रूप मे भी इतने प्रभावशाली रहे है कि ग्रन्थप्रशस्तियो, शिला-लेखो एव मूर्ति-लेखनो के सिवाय शास्त्र-प्रवचन के आरभ मे और मगल-क्रियाओं के अवसर पर **"मंगलं भगवान् वीरो"** आदि पाठ्य द्वारा तीर्थंकर महावीर और उनके प्रथम गणधर गौतम इन्द्रभूति के पश्चात् उनका भी बड़ी श्रद्धा के साथ स्मरण किया जाता है[3]। इसमे आचार्य कुन्दकुन्द का एक महान् एव प्रामाणिक आचार्य के रूप मे सर्वाधिक महत्त्व प्रकट होता तथा उनके धवल यश की प्रचुरता स्थापित होती है।

समयसार : समयपाहुड : नाम-विमर्श

इतना प्राथमिक कहने के बाद हम कुन्दकुन्द की पस्तुत मे विचारणीय कृति के नाम के सम्बन्ध मे कुछ विचार करेंगे।

उनकी इस महत्त्वपूर्ण कृति का मूल नाम समयसार है या समय-पाहुड ? मूलग्रन्थ का आलोडन करने पर विदित होता है कि इसका मूल नाम **"समयपाहुड"** है। कुंदकुंद ने स्वयं ग्रन्थ के आरम्भ में मंगलाचरण एवं ग्रन्थ-प्रतिज्ञा गाथा मे समस्त सिद्धान्तों की वन्दना करके "समयपाहुड" ग्रन्थ के कथन करने का निर्देश किया है[4] और ग्रन्थ का समापन करते समय भी उसका इसी नाम से समुल्लेख किया है।[5] इससे अवगत होता है कि ग्रन्थ-कार को इसका मूल नाम "समयपाहुड" (समयप्राभृत)

अभिप्रेत है। चूँकि इसमें उन्होंने समय-आत्मा के सार-शुद्ध रूप का कथन किया है, इससे उसे "समयसार" भी कहा जा सकता है। कुन्दकुन्द ने गाथा ४१३ में इसका भी उल्लेख किया है।[५] किन्तु यहा उन्होंने "समयपाहुड" के वाच्य शुद्ध आत्मा के अपने "समयसार" पद का प्रयोग किया है। उत्तरकाल मे तो "समयपाहुड" के प्रथम व्याख्याकार आचार्य अमृतचन्द्र (दशवीं शताब्दी) के वाच्य और वाचक दोनो मे अभेद-विवक्षा (एक मान) करके "समयाहुड" (वाचक) को ही "समयसार" (वाच्य) कहा है और इसी आधार पर उन्होने अपनी व्याख्या के आद्य मगलाचरण में "नमःसमयसाराय" आदि कथन द्वारा "समयसार" का उल्लेख करके उसे नमस्कार किया है[७] और उसे सर्व पदार्थों से भिन्न चित्स्वभावरूप भाव (पदार्थ) निरूपित किया है तथा वे यह मानकर भी चले है कि "समयसार" "समयपाहुड" है। तभी वह यह कहते है[८] कि "समयसार" की व्याख्या के द्वारा ही मेरी अनुभूति की परम शुद्धि हो। ऐसा भी नही कि अमृतचन्द्र "समय-पाहुड" नाम से अरुचि रखते हो, क्योंकि पहली गाथा की व्याख्या में न केवल उसका उन्होंने उल्लेख किया है, अपितु उसे "अर्हत्प्रवचनावयव" कहकर उसका महत्त्व भी प्रकट किया है[९]। वास्तव में उनकी दृष्टि नाम की अपेक्षा उनके अर्थ की ओर अधिक है, क्योंकि नाम तो पौद्गलिक (शब्दात्मक) है और अर्थ चित्स्वभाव शुद्ध आत्मा है। इसी कारण उन्हें इस ग्रन्थ को "समयसार" कहने और उसकी महिमा गाने मे अपरिमित आनन्द आता है। आगे भी उन्होने गाथाओ पर रचे कलशों और उनकी व्याख्या मे "समयसार" नाम का ही निर्देश किया है।[१०] आचार्य अमृतचन्द्र के बाद तो आचार्य जयसेन ने भी अपनी तात्पर्यवृत्ति (व्याख्या) मे "समयसार" नाम ही दिया है।[११] और "प्राभृत" का अर्थ "सार" कर के उससे उन्होने "शुद्धावस्था" का ग्रहण किया है।[१२] प० बनारसी दास, प० जयचन्द्र आदि हिन्दी टीकाकारों ने भी "समय-सार" नाम को ही ज्यादा अपनाया है। यह नाम इतना लोकप्रिय हुआ कि आज भी जन-जन के कंठ पर यही नाम विद्यमान है, "समयपाहुड" नाम कम। किन्तु ग्रन्थ का मूल नाम "समयपाहुड" ही है, जो ग्रन्थकर्ता आ० कुन्दकुन्द को अतिशय अभीष्ट है।

समयसार में दार्शनिक दृष्टि

यद्यपि समयपाहुड अथवा समयसार मूलतः आध्यात्मिक कृति है। इसके आचार्य कुन्दकुन्द ने आरम्भ से लेकर अन्त तक शुद्ध आत्मा का ही प्रतिपादन किया है और उसी का श्रद्धान, उसी का ज्ञान और उसी को प्राप्त कर उसी मे स्थिर होने—रमने पर पूरा बल दिया है।[१३] यही कारण है कि उन्होंने मंगलाचरण में अरहन्तों को नमस्कार न करके पूर्ण शुद्ध; अबद्ध और प्रबुद्ध समस्त सिद्धो की बन्दना की है।[१४] तथापि उसे (शुद्ध आत्मा को) उन्होने दर्शन के द्वारा ही प्रदर्शित किया है। दर्शन का प्रयोजन है कि किसी भी वस्तु की सिद्धि प्रमाण के द्वारा करना और कुन्दकुन्द ने उसमें उस एकत्व-विभक्त शुद्धात्म-तत्व की सिद्धि स्पष्टतया स्वविभव (युक्ति, अनुभव और आगम से प्राप्त ज्ञान) द्वारा करने की घोषणा की है।[१५] स्वविभव को स्पष्ट करते हुए व्याख्याकारों ने कहा है[१६] कि कुन्दकुन्द का वह सब विभव आगम, तर्क, परमगुरूपदेश और स्वसंवेदन प्रत्यक्ष है। इसके द्वारा ही उस शुद्ध आत्मा को समयसार मे सिद्ध किया गया है।

आत्मा द्वैतवादी उपनिषदो एव वेदान्त दर्शन में[१७] भी आत्मा को सुनने के लिए श्रुतिवाक्यों, मनन (अनुमान) करने के लिए उपपत्तियो (युक्तियों) और स्वयं अनुभव करने के लिए स्वानुभव प्रत्यक्ष (निदिध्यासनः) इन तीन प्रमाणो को स्वीकार किया है। उस प्राचीन समय मे किसी भी वस्तु की सिद्धि इन प्रमाणों से ही की जाती थी। साख्यदर्शन में भी अपने तत्वों की सिद्धि के लिए यही तीन प्रमाण माने गये है।[१८] अतः कुन्दकुन्द के द्वारा दर्शन के अंगभूत इन तीन प्रमाणों से उस शुद्ध आत्मा को सिद्ध करना स्वाभाविक है।

समयपाहुड स्वरुचिविरचित नहीं : आगम और युक्ति का प्रस्तुतिकरण

सब से पहले कुन्दकुन्द यह स्पष्ट करते है कि मैं उस "समयपाहुड" को कहूंगा, जिसका प्रतिपादन आगम, श्रुत-केवली और केवली के द्वारा किया गया है। इससे वे अपने "समयपाहुड" को स्वरूचिविरचित न होने तथा श्रुतकेवली कथित होने के प्रमाण सिद्ध करते हैं। इसके अतिरिक्त

"सुयकेवलीभणियं" (श्रुतकेवलीकथितं) यह पद प्रथमा-विभक्ति का होते हुए भी हेतुपरक है। यहा वह "समय-पाहुड" की प्रामाणिकता सिद्ध करने के लिए हेतु रूप मे प्रयुक्त किया गया है। न्यायशास्त्र में प्रथमा विभक्ति वाला पद भी हेतु रूप में स्वीकार किया हुआ है।[१९] अत: इस हेतु रूप पद के द्वारा कुन्दकुन्द ने अपने "समयपाहुड" को प्रामाणिक सिद्ध किया है।

समयसार में दर्शन

यहां हम कतिपय ऐसे तथ्य भी प्रस्तुत करेंगे, जिनके आधार पर हम यह ज्ञात करेगे कि समयसार ने आ० कुन्दकुन्द ने अनेक स्थलों पर दर्शन के माध्यम से शुद्ध आत्मा को प्रदर्शित किया है, वे इस प्रकार है—

१. समयसार गाथा ५ मे कुन्दकुन्द कहते है कि मैं अनुभव, युक्ति और आगमरूप अपने वैभव से उस एकत्व-विभक्त शुद्ध आत्मा को दिखाऊगा। यदि दिखाऊ तो उसे प्रमाण (सत्य) स्वीकार करना और कही चूक जाऊ तो छल नही समझना। यहां उन्होंने शुद्ध आत्मा को दिखाने के लिए अनुभव (प्रत्यक्ष), युक्ति (अनुमान) और आगम इन तीन प्रमाणों को स्पष्ट स्वीकार किया है। उनके कुछ ही उत्तरवर्ती आचार्य गृद्धपिच्छ[२०] और स्वामी समन्तभद्र[२१] जैसे दार्शनिको ने भी इन्ही तीन प्रमाणो से अर्थ (वस्तु) प्ररूपण माना है और उन्हे भ० महावीर का उपदेश कहा है। कुन्दकुन्द के उक्त कथन में स्पष्टतया दर्शन की पुट समाविष्ट है और यह तथ्य है कि दर्शन बिना प्रमाण के आगे नही बढता।

२. कुन्दकुन्द गाथा ३ में बतलाते है[२२] कि प्रत्येक पदार्थ अपने एकपने मे सुन्दर-स्वच्छ अच्छा-भला है और इसलिए लोक मे सभी पदार्थ सब जगह अपने एकपने को प्राप्त होकर सुन्दर बने हुए है। किन्तु उस एकपने के साथ दूसरे का बन्ध होने पर झगड़े (विवाद) होते हैं और उसकी सुंदरता (स्वच्छपना-एकपना) नष्ट हो जाती है। वास्तव में मिलावट असुन्दर होती है, जिसे लोक भी पसन्द नही करता और अमिलावट (निखालिस-एकपना) सुन्दर होती है, जिसे सभी पसन्द करते हैं। यह सभी के अनुभवसिद्ध है। कुन्दकुन्द कहते है कि जब सब पदार्थों का एकत्व ही सुन्दर है तो एकत्व-विभक्त आत्मा सुन्दर क्यो नही होगा?

३, जब कुन्दकुन्द से किसी शिष्य ने प्रश्न किया कि वह एकत्व-विभक्त शुद्ध आत्मा क्या है? तो वह उसका उत्तर देते हुए कहते है[२३] कि जो न अप्रमत्त है—अप्रमत्त आदि आयोगी पर्यन्त गुण स्थानो वाला है और न प्रमत्त हैं—मिथ्यादृष्टि आदि प्रमत्त पर्यन्त गुण स्थानों वाला है, मात्र ज्ञायक स्वभाव पदार्थ है वही एकत्व—विभक्त शुद्ध आत्मा है। उसके ज्ञान, दर्शन और चारित्र का भी उपदेश व्यवहारनय से है, निश्चयनय से न ज्ञान है, न चारित्र है और न दर्शन हैं। वह तो एक शुद्ध अखंड ज्ञायक ही है। कुन्दकुन्द का यह गुणस्थान-विभाग और नयविभाग से आत्मा का कथन आगम प्रमाण पर आधृत है।

४. वह शिष्य पुन: प्रश्न करता है कि हमें एकमात्र परमार्थ (निश्चयनय) का ही उपदेश दीजिए, व्यवहारनय की चर्चा यहाँ (एकत्व-विभक्त शुद्ध आत्मा के प्रदर्शन मे) अनावश्यक है, क्योंकि वह परमार्थ का दिग्दर्शक नही है? इसका उत्तर आचार्य कुन्दकुन्द एक उदाहरण पूर्वक देते हुए व्यवहारनय की आवश्यकता प्रकट करते है[२४]—जैसे अनार्य (म्लेच्छ) को उसकी म्लेच्छ भाषा के बिना वस्तु (अनेकान्त आदि) का स्वरूप समझाना आवश्यक है और उसकी भाषा मे बोलकर उसे उसका स्वरूप समझाना शक्य है, उसी प्रकार ससारी जीवों को व्यवहारनय के बिना एकत्व-विभक्त शुद्ध आत्मा का स्वरूप समझाना भी अशक्य है, इसलिए उसकी आवश्यकता है। सर्वविदित है कि पानी पीने के लिए लोटा ग्लास, कटोरी आदि पात्रों को आवश्यकया रहती है और पानी पी लेने के बाद उनकी आवश्यकता नही रहती। यहा कुन्दकुन्द ने अनुमान के एक अवयव उदाहरण को स्वीकार कर स्पष्टतया दर्शन का समावेश किया है।

५. यो तो अध्यातम मे निश्चयनय और व्यवहारनय दोनों को यथास्थान महत्त्व प्राप्त है किन्तु अमुक अवस्था तक व्यवहार ग्राह्य होते हुए भी उसके बाद वह छूट जाता है या छोड़ दिया जाता है। निश्चयनय उपादेय है। व्यवहार जहाँ अभूतार्थ है वहां निश्चयनय भूतार्थ है। इस भूतार्थ का आश्रय लेने से वस्तुत: जीव सम्यग्दृष्टि होता है।[२५] आचार्य कुन्दकुन्द ने गाथा ११ व १२ मे यही सब प्रतिपादन किया है। यहां भी उनका स्याद्वाद समाहित

है, जो तीर्थंकरों का उपदेश है। यहां हम आचार्य अमृतचन्द्र द्वारा व्याख्या (गाथा १२) मे उद्धृत एक प्राचीन गाथा को देने का लोभ संवरण नही कर सकते। यह इस प्रकार है—

जइ जिणमयं पवज्जह ता मा ववहार-णिच्छए मुयह।
एक्केण विणा छिज्जइ तित्थं अण्णेण उण तच्चं॥

"यदि जिनमत की प्रवृत्ति चाहते हो, तो व्यवहार और निश्चय दोनों को मत छोडो। व्यवहार को छोड देने पर तीर्थ का उच्छेद हो जावेगा और निश्चय को छोड़ देने पर तत्त्व (स्वरूप) का नाश हो जावेगा। अत: दोनों नय सम्यक् हैं और ग्राह्य है।"

६. यथार्थ मे नयो के द्वारा वस्तु को समझना और समझाना भी दर्शनशास्त्र का विषय है। आचार्य गृद्धपिच्छ ने "प्रमाणनयैरधिगमः" (त० सू० १-६) द्वारा स्पष्ट बतलाया है कि जहा प्रमाण वस्तु को जानने का साधन है वहा नय भी उसे जानने का साधन है और इसलिए प्रमाण और नय दोनों को न्याय कहा गया है।[१६] दोनो मे अन्तर यही है कि प्रमाण अखड वस्तु (धर्मो) को ग्रहण करता है और नय उसके अशो (धर्मो) को विषय करता है। अत. कुन्दकुन्द का निश्चय और व्यवहार नयो द्वारा विवेचन दार्शनिक दृष्टि को प्रदर्शित करता है। वे कहते है कि व्यवहारनय तो जीव और देह को एक कहता है। पर निश्चयनय कहता है कि जीव और देह ये दोनो कभी एक पदार्थ नही हो सकते।[१७]

७. शिष्य पूछता है कि आत्मा मे कर्मबद्ध-स्पृष्ट है या अबद्ध-स्पृष्ट है? इसका कुन्दकुन्द ने नय० विभाग से उत्तर देते है[१८] कि जीव मे कर्म बद्ध (जीव के प्रदेशो के साथ बधा हुआ) है और सयोग होने से स्पृष्ट (लगा हुआ) है, ऐसा व्यवहारनय कहता है तथा जीव मे कर्म न बंधा हुआ है; ऐसा शुद्ध नय बतलाता है। यहा भी कुन्दकुन्द शिष्य के प्रश्न का समाधान नय-विभाग (स्याद्वाद-सरणि) से देते हैं। उनसे उनकी यहां भी दार्शनिकता स्पष्ट विदित होती है। इसके सिवाय एक महत्त्वपूर्ण बात वे यह कहते हैं कि[१९] जीव मे कर्म बधे हुए हैं और नही बंधे हुए है, ये दोनों एक-एक पक्ष (नयदृष्टियां) है किन्तु जो इन दोनों पक्षों से अतीत (रहित) है वही समयसार (शुद्ध आत्मतत्त्व) है।

८. कुन्कुन्द भेदविज्ञान की सिद्धि करते हुए कहते हैं[१०] उपयोग में उपयोग है, क्रोधादिक में उपयोग नही है, वास्तव में क्रोध में ही क्रोध है, उपयोग मे क्रोध नही है। आठ प्रकार के कर्मों में तथा शरीर आदि नो कर्मों मे भी उपयोग नही है और उपयोग में कर्म तथा नोकर्म भी नही है। जिस काल में ऐसा यथार्थ ज्ञान होता है उस काल मे उपयोगस्वरूप शुद्ध आत्मा उपयोग के सिवाय अन्य कुछ भी भाव नही करता। ऐसा भेदविज्ञान ही अभिनन्दनीय है और इस भेदविज्ञान से ही उसी प्रकार शुद्ध आत्मा की उपलब्धि होती है जिस प्रकार अग्नि से तपा हुआ भी सोना अपने स्वर्ण स्वभाव को नही छोडता। ज्ञानी जीव भी कर्मोदय से तप्त होने पर भी अपने ज्ञानस्वभाव को नही छोडता। सच तो यह है कि जीव शुद्ध को जानेगा तो शुद्ध की ही उपलब्धि होगी और यदि वह शुद्ध को जानता है तो उसे शुद्ध आत्मा की ही प्राप्ति होगी। यह और आगे जितना और जो भी कुन्दकुन्द का चिन्तन है वह सब दर्शन है—दर्शनशास्त्र है।

९. शिष्य प्रश्न करता है कि बन्ध कैसे टूटता है? कुन्दकुन्द इसका उत्तर देते हुए कहते है[११] कि बन्ध न तो उसके स्वरूप ज्ञान से टूटता है और न उसकी चिन्ता करने से वह नष्ट होता है। अपितु जैसे बन्धन मे बधा हुआ पुरुष उस बन्धन को तोड़ कर ही मुक्त होता है। उसी प्रकार जीव भी कर्म के बन्धन को छेद कर ही मुक्ति प्राप्त करता है। यहां उन्होने आचरण पर पूरा बल दिया है।

१०. आत्मा के कर्तृत्व को लेकर श्रमणो मे अनेक मत प्रचलित थे। उन सब की आलोचना कुन्दकुन्द ने गाथा ३२१, ३२२ और ३२३ मे की है और कहा है कि ऐसा मानने पर लोक और श्रमणों के कथन मे क्या भेद रहेगा? लोक बिष्णु को कर्ता मानते है और श्रमण आत्मा को। और इस प्रकार दोनो से ही मोक्ष सम्भव नही। कर्म कर्तृत्व मानने पर सांख्य मत के प्रसग का दोष देकर सांख्य मत को भी उन्होने प्रदर्शित किया है।[११] कहा है कि "तेसिं पयडी कुव्वइ अप्पा य अकारया सव्वे।"—प्रकृतिः कर्त्री पुरुषस्तु अकर्ता-प्रकृति कर्त्री है और पुरुष (आत्मा) अकर्ता है। कई मतो का और भी कुन्दकुन्द ने दिग्दर्शन कराया है। इसी प्रकरण में वे पुन: सांख्यमत को दिखाते

हुए कहते हैं[13] कि जो करता है वह वेदन नही करता—भोगता नही है। क्षणिकवादी बौद्धों का भी मत देते हैं[14] कि 'अन्य (क्षण) करता है और अन्य (क्षण) भोगता है। "ऐसे लोगों को क्या कहा जाय ? उन्हे सत्य के परे ही जानना चाहिए।

इस प्रकार समयसार मे जहां एक अध्यात्म-पृष्ठ है वहां हम दूसरा दार्शनिक पृष्ठ भी देखते हैं। वस्तुत. बिना दर्शन के आध्यात्म को न समझा जा सकता है और न उसे प्राप्त किया जा सकता है।

कुन्दकुन्द का चिन्तन समयसार मे इतना गाढ़ा हो गया है और लगता है कि इसे उन्होंने जीवन के अन्त में तब बनाया है जब वे इसके पूर्व कई ग्रन्थ रच चुके थे और समकालीन दार्शनिक मान्यताओं को अच्छी तरह अभ्यस्त कर चुके थे। तभी वे इसमे अपने समग्र मुनि-जीवन और आगमाभ्यास से अर्जित अनुभव को अस्खलित भाव से विन्यास कर सके। यह निःसन्देह अमृत-कलश है। ओ शान्तिः।

सन्दर्भ सूची :—

१. वन्द्यो विभुर्भुवि न कैरिह कौण्डकुन्द.कुन्दप्रभा-प्रणयि-कीर्ति-विभूषिताशः।
यश्चारूचारण-कराम्बुज-चंचरीकश्चक्रे श्रुतस्य भरते प्रयतः प्रतिष्ठाम् ॥
श्रवणबेलगोला, चन्द्रगिरि-शिलालेख।
·········कोण्डकुन्दो यतीन्द्रः ॥
रजोभिरस्पृष्टतमत्वमन्तर्बाह्येऽपि संव्यंजयितु यतीशः।
रजः पद भूमितल विहाय चचार मन्ये चतुरगुल सः ॥
—श्रवणबेलगोला, विन्ध्यगिरि-शिलालेख,

२. डॉ० दरबारीलाल कोठिया, "आचार्य कुन्दकुन्द का प्राकृत वाग्मय और उनकी देन" शीर्षक लेख, "जैन-दर्शन और प्रमाणशास्त्रपरिशीलन"—पृ० २४ से ३०, वी० से० म० ट्रस्ट।

३. मगल भगवान् वीरो मगल गौतमो गणी।
मंगल कुन्दकुन्दार्यो जैनधर्मोऽस्तु मगल ॥
शास्त्रप्रवचन का मंगलाचरणपद्य।

४. वंदित्तु सव्वसिद्धे ध्रुवमचलमणोवम्मं गइ पत्ते।
वोच्छामि समयपाहुडमिणमो सुयकेवली भणियं ॥
—समयपा० गा०—१।

५. जो समयपाहुडमिणं पढिहूण य अत्थतच्चदो णाऊ।
अत्थेठाही चेया सो होही उत्तम सोक्ख ॥
—वही गा० ४१५।

६. पाखंडीलिंगेसु व गिहलिंगेसु व बहुप्पयारेसु।
कुव्वंति जे ममत्त तेहिं ण णाय समयसार ॥
—वही, गा० ४१३।

७. नमः समयसाराय स्वानुभूत्या चकासते।
चित्स्वभावाय भावाय सर्वभावान्तरच्छिदे ॥
—अमृतचन्द्र, आत्मख्याति, मंगला० पद्य-१।

८. वही, मगला० पद्य ३।

९. "··· ·····समयप्रकाशकस्य प्रभृताह्वस्यार्हत्प्रवचनावयवस्य स्वपरयोरनादिमोहप्रहाणाय भाववाचा द्रव्यवाचा च परिभाषणमुपक्रम्यते।"
—वही, गाथा २ की व्याख्या।

१०. ········ "न खलु समयसारादुत्तर किंचिदस्ति"
—वही, कलश २४४, समयपाहुड गा० ४१३, ४१४ की आत्मख्याति।

११. वीतराग जिन नत्वा ज्ञानानन्दैकसम्पदम्।
वक्ष्ये समयसारस्य वृत्ति तात्पर्यसंज्ञिकाम् ॥
—जयसेन, तात्पर्यवृत्ति, गा०-१, मगला०।

१२. "प्राभृत सार सारः शुद्धावस्था,
समयस्यात्मनः प्राभृत समयप्राभृत।"
—वही, ता० वृ० गा०-१, व्याख्या।

१३. स० पा० गा० ४१०, ४११।

१४. वही, गा०-१।

१५. वही, गा०-५।

१६. जयसेन, ता० वृ० गा-५।

१७. श्रोतव्य श्रुतिवाक्येभ्यो मन्तव्यश्चोपपत्तिभिः।
मत्वा च सतत ध्येय एते दर्शनहेतवः ॥
"आत्मा वाऽरे श्रोतव्यो मन्तव्यो निदिध्यासतव्यः"
—उपनिषद्वाक्य।

१८. दृष्टमनुमानमाप्तवचन च सर्वप्रमाणसिद्धत्वात्।
त्रिविध प्रमाणमिष्टं प्रमेयसिद्धिः प्रमाणाद्धि ॥
—ईश्वरकृष्ण, साख्यका० ४।

१९. अनन्तवीर्य, प्रमेयरत्नमाला १-१।

२०. "मतिश्रुतावधिमनःपर्ययकेवलानि ज्ञानम् तत्प्रमाणे,

(शेष पृ० २७ पर)

आगम-तुल्य ग्रन्थों की प्रामाणिकता का मूल्यांकन

डा० एन०एल० जैन, जैन केन्द्र, रीवां म०प्र०

वर्तमान वैज्ञानिक युग की यह विशेषता है कि इसमे विभिन्न भौतिक व आध्यात्मिक तथ्यो और घटनाओं की बौद्धिक परीक्षा के साथ प्रायोगिक साक्ष्य के आधार पर भी व्याख्या करने का प्रयत्न होता है। दोनों प्रकार के सपोषण से आस्था बलवती होती है। वैज्ञानिक मस्तिष्क दार्शनिक या सन्त की स्वानुभूति, दिव्यदृष्टि या मात्र बौद्धिक व्याख्या से सतुष्ट नही होता। इमीलिए वह प्राचीन शास्त्रों, शब्द या वेद की प्रमाणता की धारणा की भी परीक्षा करता है। जैन शास्त्रों मे प्राचीन श्रुत की प्रमाणता के दो कारण दिये है . (१) सर्वज्ञ, गणधर, उनके शिष्य-प्रशिष्यों द्वारा रचना और (२) शास्त्र वर्णित तथ्यो के लिये बाधक प्रमाणो का अभाव।[1] इस आधार पर जब अनेक शास्त्रीय विवरणों का आधुनिक वैज्ञानिक दृष्टि से अध्ययन किया जाता है, तब मुनिश्री नदिघोष विजय[2] के अनुसार भी स्पष्ट भिन्नतायें दिखाई पडती है। अनेक साधु, विद्वान्, परपरापोषक और प्रबुद्धजन इन भिन्नताओं के समाधान में दो प्रकार के दृष्टिकोण अपनाते है :

(अ) **वैज्ञानिक दृष्टिकोण** के अनुसार ज्ञान का प्रवाह वर्धमान होता है। फलतः प्राचीन वर्णनो मे भिन्नता ज्ञान के विकास-पथ को निरूपित करती है। वे प्राचीन शास्त्रो को इस विकास पथ के एक मील का पत्थर मानकर इन्हे ऐतिहासिक परिप्रेक्ष्य मे स्वीकृत करते है। इससे वे अपनी बौद्धिक प्राप्ति का मूल्याकन भी करते है।

(ब) **परंपरा पोषक दृष्टिकोण** के अनुसार समस्त ज्ञान सर्वज्ञ, गणधरों एव आरातीय आचार्यों के शास्त्रों मे निरूपित है। वह शाश्वत माना जाता है। इस दृष्टिकोण मे ज्ञान की प्रवाहरूपता एव विकास प्रक्रिया को स्थान प्राप्त नही है। इसलिये जब विभिन्न विवरणो, तथ्यो ओर उनकी व्याख्याओं मे आधुनिक ज्ञान के परिप्रेक्ष्य मे भिन्नता परिलक्षित होती है, तब इस कोटि के अनुसर्ता विज्ञान की निरन्तर परिवर्तनीयता एव शास्त्रीय अपरिवर्तनीयता की चर्चा उठाकर परपरापोषण को महत्त्व देते है। यह प्रयत्न अवश्य किया जाता है कि इन व्याख्याओ से अधिकाधिक सगतता आवे चाहे इसके लिये कुछ खीचतान ही क्यों न करनी पडे। अनेक विद्वानो को यह धारणा सभवतः उन्हे अरुचिकर प्रतीत होगी कि अग-साहित्य का विषय युगानुसार परिवर्तित होता रहता है। साथ ही, पोषण का अर्थ केवल सरक्षण ही नही, सवर्धन भी होता है। जैन शास्त्रो के कालदृष्टीय अध्ययन से ज्ञात होता है कि शास्त्रीय आचार-विचार की मान्यताये नवमी दशमी सदी तक विकसित होती रही है। इसके बाद इन्हे स्थिर एव अपरिवर्तनीय क्यो मान लिया गया, यह शोधनीय है। शास्त्री[3] का मत है कि परपरापोषक वृत्ति का कारण सभवतः प्रतिभा की कमी तथा राजनीतिक अस्थिरता माना जा सकता है। पापभीरुता[4] भी इसका एक सभावित कारण हो सकती है। इस स्थिति ने समग्र भारतीय परिवेश को प्रभावित किया है।

शास्त्री[5] ने आरातीय आचार्यों को श्रुतधर, सारस्वत, प्रबुद्ध, परंपरापोषक एव आचार्यतुल्य कोटियो में वर्गीकृत किया है। इनमे प्रथम तीन कोटियो के प्रमुख आचार्यो के ग्रन्थो का अध्ययन करने पर स्पष्ट होता है कि प्रत्येक आचार्य ने अपने युग मे परपरागत मान्यताओ मे युगानुरूप नाम, भेद, अर्थ और व्याख्याओ मे परिवर्धन, सशोधन तथा विलोपन कर स्वतत्र चिन्तन का परिचय दिया है। इनके समय मे ज्ञानप्रवाह गतिमान् रहा है। इस गतिमत्ता ने भी हमे आध्यात्मिक, सांस्कृतिक, ऐतिहासिक एवं राजनीतिक दृष्टि से गरिमा प्रदान की है। हम चाहते हैं कि इसी का आलंबन लेकर नया युग और भी गरिमा प्राप्त करे। इसके लिये मात्र परंपरापोषण की दृष्टि से हमे ऊपर उठाना होगा। आचार्यों की प्रथम तीन कोटियों की

प्रवृत्ति का अनुसरण करना होगा। उपाध्याय अमर मुनि[1] ने भी इस समस्या पर मंथन कर ऐसी धारणा प्रस्तुत की है। हम इस लेख में कुछ शास्त्रीय मन्तव्य प्रकाशित कर रहे है जिससे यही मन्तव्य सिद्ध होता है।

आचार्यों और ग्रन्थों की प्रामाणिकता

हमने जिनसेन के 'सर्वज्ञोक्त्यनुवादिन.' के रूप में आचार्यों द्वारा प्रणीत ग्रन्थों को प्रामाणिकता की धारणा स्थिर की है।[2] पर जब विद्वज्जन इनका समुचित और सूक्ष्म विश्लेषण करते है, तो इस धारणा मे सन्देह उत्पन्न होता है एवं संदेह निवारक धारणाओ के लिये प्रेरणा मिलती है।

सर्वप्रथम हम महावीर की परंपरा पर ही विचार करें। हमे विभिन्न स्रोतो से महावीर निर्वाण के पश्चात् ६८३ वर्षों की आचार्य परंपरा प्राप्त होती है।[3] इसमे कम-से-कम **चार विसंगतियां** पाई जाती है। दो का समाधान जंबूद्वीपप्रज्ञप्ति से होता है, पर अन्य दो यथावत् बनी हुई हैं :

(१) महावीर के प्रमुख उत्तराधिकारी गौतम गणधर हुए। उसके बाद और जबूस्वामी के बीच मे लोहार्य और सुधर्मा स्वामी के नाम भी आते है। यह तो अच्छा रहा कि जंबूद्वीपप्रज्ञप्ति मे स्पष्ट रूप से सुधर्मा स्वामी और लोहार्य को अभिन्न बनाकर यह विसगति दूर की और तीन ही केवली रहे।

(ii) पाँच श्रुतकेवलियों के नामो मे भी अतर है। पहले ही श्रुतकेवली कही "नन्दी' है तो कही 'विष्णु' कहे गये है। इन्हें विष्णुनन्दि मानकर समाधान किया गया है।

(iii) धवला मे सुभद्र, यशोभद्र, भद्रबाहु एव लोहाचार्य को केवल एक आचारांगधारी माना गया है जबकि प्राकृत पट्टावली मे इन्हें क्रमशः १०, ९, ८ अंगधारी माना है। इस प्रकार इन चार आचार्यों की योग्यता विवादग्रस्त है।

(iv) ६८३ वर्ष की महावीर परंपरा मे एकांगधारी पुष्पदंत-भूतबलि सहित पांच आचार्यों (११८ वर्ष) को समाहित किया गया है और कही उन्हें छोडकर ही ६८३ वर्ष की परपरा दी गई है जैसा सारिणी १ से स्पष्ट है। एक सूची में १०, ९, ८ अगधारियों के नाम ही नही हैं।

सारिणी १ धवला और प्राकृत पट्टावली की ६८३ वर्ष-परंपरा

	धवला परंपरा	प्राकृत पट्टावली परंपरा
३ केवली	६२ वर्ष	६२ वर्ष
५ श्रुतकेवली	१०० ,,	१०० ,,
११ दशपूर्वधारी	१८३ ,,	१८३ ,,
५ एकादशांगधारी	२२० ,,	१२३ ,,
४ १०, ९, ८ अगधारी	—	९७ ,,
४ एकांगधारी	११८ ,,	११८ ,, (पांच एकांगधारी)
	६८३	६८३

फलतः आचार्यों की परपरा मे ही नाम, योग्यता और कार्यकाल में भिन्नता है। यह परपरा महावीर-उत्तर कालीन है। महावीर ने विभिन्न युग में आचार्यों के लिए भिन्न-भिन्न परंपरा के लेखन की दिव्य ध्वनि विकीर्ण न की होगी। आधुनिक दृष्टि से इन विसगतियो के दो कारण संभव है :

(अ) प्राचीन समय के विभिन्न आचार्यों और उनके साहित्य के संचरण एव प्रसारण की व्यवस्था और प्रक्रिया का अभाव।

(ब) उपलब्ध, प्रत्यक्ष, अपूर्ण या परोक्ष सूचनाओ के आधार पर परंपरा पोषण का प्रयत्न।

नये युग मे ही कारण प्रमाणिकता में प्रश्नचिह्न लगाते है। फिर, यह प्रश्न तो रह ही जाता है कि कौन सी सूची प्रमाण है ?

मूलाचार[4] के अनुसार, आचार्य शिष्यानुग्रह, धर्म एवं मर्यादाओं का उपदेश, संघ-प्रवर्तन एव गण-परिरक्षण का कार्य करते है, अंतिम दो कार्यों के लिये एतिहासिक एव जीवन परंपरा का गुंथन आवश्यक है। पर आरम्भ के प्रायः सभी प्रमुख आचार्यों का जीवनवृत्त अनुमानतः ही निष्कर्षित है। आत्म-हितैषियो के लिये इसका महत्त्व न भी माना जावे, तो भी परंपरा या ज्ञानविकास की क्रमिक धारा और उसके तुलनात्मक अध्ययन के लिये यह अत्यंत महत्त्वपूर्ण है। प्राचीन भारतीय संस्कृति में इस इतिहास-

निरपेक्षता की शक्ति को गुण माना जाय या दोष—यह विचारणीय है। एक ओर हमें 'अज्ञात कुलशीलस्य, वासो देयो न कस्यचित्' की सूक्ति पढ़ाई जाती है, दूसरी ओर हमे ऐसे ही सभी आचार्यों को प्रमाण मानने की धारणा दी जाती है। यह और ऐसी ही अन्य परस्पर-विरोधी मान्यताओं ने हमारी बहुत हानि की है। उदाहरणार्थ, शास्त्री[९] द्वारा समीक्षित विभिन्न आचार्यों के काल-विचार के आधार पर प्रायः सभी प्राचीन आचार्य समसामयिक सिद्ध होते है :

१. गुणधर	११४ ई० पू०	—	—
२. धरसेन	५०-१०० ई०	प्रथम सदी	सौराष्ट्र, महाराष्ट्र
३. पुष्पदत	६०-१०६ ई०	,,	आंध्र, महाराष्ट्र
४. भूतबलि	७६-१३६ ई०	१-२ सदी	आंध्र
५. कुदकुद	८१-१६५ ई०	१-२ सदी	तमिलनाडु
६. उमास्वाति	१००-१८० ई०	२ सदी	,,
७. वट्टकेर	—	प्रथम सदी	,,
८. शिवार्य	—	,,	मथुरा
९. स्वामिकुमार (कार्तिकेय)	—	२-३ सदी	गुजरात

इनमें गुणधर, धरसेन, पुष्पदत और भूतबलि का पूर्वापर्य और समय तो पर्याप्त यथार्थता से अनुमानित होता है। पर कुंदकुंद और उमास्वाति के समय पर पर्याप्त चर्चायें मिलती है। यदि इन्हें महावीर के ६८३ वर्ष बाद ही मानें, तो इनमे से कोई भी आचार्य दूसरी सदी का पूर्ववर्ती नही हो सकता (६८३-५२७=१५६ ई०)। इन्हे गुरु शिष्य मानने मे भी अनेक बाधक तर्क है ;

(i) उमास्वाति की बारह भावनाओं के नाम व क्रम कुंदकुंद से भिन्न है।

(ii) उमास्वाति ने वट्टकेर के पंचाचार और शिवार्य के चतुराचार को सम्यक् रत्नत्रय में परिवर्धित किया। उन्होने तप और वीर्य को चरित्र मे ही अन्तर्भूत माना।

(iii) कुंदकुंद के एकार्थी पांच अस्तिकाय. छह द्रव्य, सात तत्व और नौ पदार्थों की विविधा को दूर कर उन्होने सात तत्वों की मान्यता को प्रतिष्ठित किया।

(iv) उमास्वाति ने अद्वैतवाद या निश्चय-व्यवहार दृष्टियों की वरीयता पर माध्यस्थ्य भाव रखा।

(v) उमास्वाति ने ज्ञान को प्रमाण बनाकर जैन विद्याओं मे सर्वप्रथम प्रमाणवाद का समावेश किया।

(vi) उमास्वाति ने श्रावकाचार के अन्तर्गत ग्यारह प्रतिमाओ पर मौन रखा। संभवतः इसमे उन्हें पुनरावृत्ति लगी हो।

शिष्यता से मार्गानुसारिता अपेक्षित है। परंतु लगता है कि उमास्वाति प्रतिभा के धनी थे। उन्होंने तत्कालीन समग्र साहित्य म व्याप्त चर्चाओ की विविधता देखकर अपना स्वय का मत बनाया था। यही दृष्टिकोण वर्तमान में अपेक्षित है।

उमास्वाति के समान अन्य आचार्यों ने भी सामयिक समस्याओ के समाधान की दृष्टि से परंपरागत मान्यताओं में संयोजन एवं परिवर्धन आदि किये है। इसलिये धार्मिक ग्रथो में प्रतिपादित सिद्धांत, चर्चायें या मान्यतायें अपरिवर्तनीय है, ऐसी मान्यता तर्क सगत नही लगती। विभिन्न युगो के ग्रंथों को देखने से ज्ञात होता है कि अहिंसादि पांच नीतिगत सिद्धांतों की परंपरा भी महावीर-युग से ही चली है। इसके पूर्व भगवान् रिषभ की त्रियाम (समत्व, सत्य स्वायत्तता) एवं पार्श्वनाथ की चतुर्याम परपरा भी।[१०] महावीर ने ही अचेलकत्व तो प्रतिष्ठित किया। महावीर ने युग के अनुरूप अनेक परिवर्धन कर परंपरा को व्यापक बनाया। व्यापकीकरण की प्रक्रिया को भी परंपरापोषण ही माना जाना चाहिये। यद्यपि आज के अनेक विद्वान् इस निष्कर्ष से सहमत नही प्रतीत होते पर परपरायें तो परिवर्धित और विकसित होकर ही जीवन्त रहती है। वस्तुतः देखा जाय, तो जो लोग मूल आम्नाय जैसी शब्दावली का प्रयोग करते हैं, उसका विद्वान् जगत के लिये कोई अर्थ ही नहीं है। बीसवी सदी मे इस शब्द की सही परिभाषा देना ही कठिन है ? भ० रिषभ को मूल माना जाय या भ० महावीर को ? इस शब्द की व्युत्पत्ति स्वय यह प्रदर्शित करती है कि यह व्यापकीकरण की प्रक्रिया के प्रति अनुदार है। हां बीसवी सदी के कुछ लेखक[११] समन्वय की थोड़ी बहुत सभावना को अवश्य स्वीकार करने लगे हैं।

सैद्धान्तिक मान्यताओं में संशोधन और उनकी स्वीकृति

उपरोक्त तथा अन्य अनेक तथ्यों से यह पता चलता है

कि समय-समय पर हमने अपनी पूर्वगत अनेक सैद्धान्तिक मान्यताओं के संशोधनों को स्वीकृत किया है जिसमे कुछ निम्न है :

(i) हमने विभिन्न तीर्थंकरो के युग मे प्रचलित त्रियाम, चतुर्याम और पचयाम धर्म के परिवर्धन को स्वीकृत किया।

(ii) हमने विभिन्न आचार्यों के पचाचार, चतुराचार एवं रत्नत्रय के क्रमशः न्यूनीकरण को स्वीकृत किया।

(iii) हमने प्रवाह्यमान (परंपरागत) और अनुवाह्य मान (मवधित) उपदेशो को भी हमने मान्यता दी।[१३]

(iv) अकलक और अनुयोग द्वार सूत्र ने लौकिक संगति बैठाने के लिये प्रत्यक्ष के दो भेद कर दिये जिनके विरोधी अर्थ है : लौकिक और पारमार्थिक। इन्हे भी हमने स्वीकृत किया और यह अब सिद्धान्त है।[१४]

(v) न्याय विद्या मे प्रमाण शब्द महत्वपूर्ण है। इसकी चर्चा के बदले उमास्वातिपूर्व साहित्य मे ज्ञान और उसके सम्यक्त्व या मिथ्यात्व की ही चर्चा है। प्रमाण शब्द की परिभाषा भी। 'ज्ञान प्रमाण' से लेकर अनेक बार परिवर्धित हुई है। इसका वर्णन द्विवेदी ने दिया है।[१५]

(vi) हमने अर्धफालक और यापनीय आचार्यों को अपने गर्भ मे समाहित किया जिनके सिद्धान्त तथाकथित मूल परपरा से अनेक बातो मे भिन्न पाये जाते है।

ये तो सैद्धान्तिक परिवर्धनों की सूचनाये है। ये हमारे धर्म के आधारभूत तत्व रहे है इन परिवर्धनो क परिप्रेक्ष्य में हमारी शास्त्रीय मान्यताओं की अपरिवर्तनीयता का तर्क कितना सगत है, यह विचारणीय है। मुनिश्री[६] ने इस समस्या के समाधान के लिये शास्त्र और ग्रन्थ की स्पष्ट परिभाषा बताई है। उनके अनुसार केवल अध्यात्म विद्या ही शास्त्र है जो अपरिवर्तनीय है, उनमे विद्यमान अन्य वर्णन ग्रन्थ की सीमा मे आते है और वे परिवर्धनीय हो सकते है।

शास्त्रों में पूर्वापर विरोध :

शास्त्रों की प्रमाणता के लिए पूर्वापर-विरोध का अभाव भी एक प्रमुख बौद्धिक कारण माना जाता है। पर यह देखा गया है कि अनेक शास्त्रों के अनेक सैद्धान्तिक विवरणों में परस्पर विरोध तो है ही, एक ही शाखा के विवरणो मे भी विसंगतियां पाई जाती हैं। परंपरापोषी टीकाकारों ने ऐसे विरोधी उपदेशों को भी ग्राह्य बताया है। यह तो उन्होंने स्वीकृत किया है कि विरोधी या भिन्न मतों में से एक ही सत्य होगा पर वीरसेन, वसुनदि जैसे टीकाकार और छद्मस्थों मे सत्यासत्य निर्णय की विवेक क्षमता कहां ?[१५] इन विरोधी विवरणों की ओर अनेक विद्वानो का ध्यान आकृष्ट हुआ है।

सबसे पहले हम मूल ग्रन्थों के विषय में ही सोचे। सारणी २ से ज्ञात होता है कि कषायप्राभृत, मूलाचार एव कुन्दकुन्द साहित्य के भिन्न-भिन्न टीकाकारों ने तत्तत् ग्रन्थो मे सूत्र या गाथा की सख्याओ मे एकरूपता ही नही पाई। इसके अनेक रूप में समाधान दिए जाते हैं। इस *भिन्नता का सद्भाव ही इनकी प्रामाणिकता की जांच के लिए प्रेरित करता है।* ये अतिरिक्त गाथाएँ कैसे आई ? क्यों हमने —

सारणी २ : कुछ मूलग्रन्थों की गाथा/सूत्र संख्या ५

ग्रन्थ	गाथा सख्या प्रथम टीकाकार	गाथा सख्या द्वितीय टीकाकार
१ कसायपाहुड	१८०	२३३ (जयधवला)
२. कसाय पाहुड़चूर्णि	८००० श्लोक (ति.प.)	७००० ,,
३. सत्प्ररूपणासूत्र	१७७	१००
४. मूलाचार	१२५२ (वसुनंदि)	१४०९ (मेघचंद्र)
५. समयसार	४१५ अमृतचंद्र	४४५ जयसेन
६. पचास्तिकाय	१७३ ,,	१८१ ,,
७ प्रवचनसार	२७५ ,,	३१७ ,,

इनको भी प्रामाणिक मान लिया ? यही नही, इन ग्रन्थों मे अनेक गाथाओं का पुनरावर्तन है जो ग्रन्थनिर्माण प्रक्रिया से पूर्व परम्परागत मानी जाती है। ये सघभेद से पूर्व की होने के कारण अनेक श्वेताबर ग्रथों मे भी पाई जाती हैं। गाथाओ का यह अन्तर अन्योन्य विरोध तो माना ही जावेगा। कुन्दकुन्द साहित्य के विषय मे तो यह और भी अचरजकारी है कि दोनों टीकाकार लगभग १०० वर्ष के अन्तराल मे ही उत्पन्न हुए।

(शेष पृ० २८ पर)

आगम के मूल रूपों में फेर-बदल घातक है

☐ पद्मचन्द्र शास्त्री, संपादक 'अनेकान्त'

निवेदन :—

एक ओर जब मुसलमानों के कुरान की स्थिति वही है, जो पहिले थी और आगे वैसी ही रहेगी जैसी आज है। उसके जेर-जबर, सीन-स्वाद, अलिफ-ऐन और तोय-ते में कहीं कोई फर्क नहीं आया। हिन्दुओं के वेद भी वे और वैसे ही प्रामाणिक हैं जैसे थे। तब दूसरी ओर कुछ जैनों ने आगमों में गलत शब्द रूपों के मिश्रित होने की (भ्रामक) बात को प्रचारित कर आगम भाषा के सही ज्ञान के बिना ही, ना समझी में आगमों के संशोधन का उपक्रम चलाकर यह सिद्ध कर दिया है कि अब तक जो हम पढ़ते रहे हैं वह आगम का गलत रूप था। इससे यह भी सिद्ध हुआ है कि आगमरूप बदलता रहा है और पहिले की भांति आगे भी बदलता रह सकेगा। क्योंकि इसकी कोई गारण्टी नहीं कि अब जो संशोधन होगा वह ठीक ही होगा। फलतः हमारी समझ से कोई भी बदलाव जैन सिद्धान्त की प्रामाणिकता पर जबरदस्त चोट और जैनेतर ग्रन्थों के मुकाबले जैन आगम रूप को अप्रामाणिक सिद्ध करने वाला है। यदि लोग प्राकृत भाषा के रूप को समझेंगे—जैन-आगम की भाषा को समझेंगे तो वे अवश्य इस नतीजे पर पहुंचेंगे कि हमारे आगमों में सिद्धान्तों की भांति भाषा-दृष्टि से भी कहीं किसी भी तरह से कोई मिश्रण या कोई विरूपता नहीं है—वे जैसे, जिस रूप में है प्रामाणिक हैं—उन्हें वैसे ही रहने दिया जाय। इसी भावना के साथ श्रद्धापूर्वक कुछ लिखा है—विचार करें। —लेखक

दिगम्बर गुरुओं मे विकृति आने और आगम के अर्थों में फेर-बदल के चर्चे तो चल ही रहे थे। अब कुछ लोगो ने संशोधनों के नाम पर मूल-आगमो की भाषा में परिवर्तन करने-कराने का लक्ष्य भी बनाया है—वे परिवर्तन कर रहे हैं। सोचें—जब पुराने पाषाण-खण्डों (पुरातत्त्व) की रक्षा महत्त्वपूर्ण मानी जा रही है तब क्या हमारे आगम-ग्रन्थ उनसे भी गए-बीते है? जो उन्हें विकृत किया जा रहा है। वास्तविकता तो यह है कि अभी तक कई लोग दि० जैन आगमों की भाषा का सही निर्णय ही नहीं कर पाए है। कभी किसी ने लिख या कह दिया कि 'दि० जैन आगमों की भाषा शौरसेनी है तो उसी आधार पर आज कई विद्वान् आगम-भाषा को ठेठ शौरसेनी माने बैठे है। हमें एक लेख अब भी मिला है, जिसमे लेखक विद्वान् ने आचार्य कुन्दकुन्द की भाषा को शौरसेनी लिखा है। जब कि तथ्य यह है कि दि० आगमों की भाषा शौरसेनी न होकर जैन-शौरसेनी है। ध्यान रहे कि शौरसेनी और जैन-शौरसेनी ये दो पृथक्-पृथक् भाषा हैं और दोनों में अन्तर है। जहाँ शौरसेनी में भाषा सम्बन्धी बंध नियम हैं, वहां जैन-शौरसेनी-नियम बंधन-मुक्त है—जैन-शौरसेनी कई भाषाओं का मिला जुला रूप है और इस विषय में प्राकृत भाषा के प्रकाण्ड विद्वान् एक मत है। तथाहि—

'In his observation on the Digamber test Dr. Denecke discusses various points about some Digamber Prakrit works... He remarks that the language of there works is influenced by Ardhmagdhi, Jain Maharastri which Approaches it and Saurseni.' —Dr. A.N. Upadhye (Introduction of Pravachansara)

'The Prakrit of the sutras, the Gathas as well as of the commentary, is Saurseni influenced by the order Ardhamagdhi on the one hand and the Maharashtri on the other, and

this is exactly the nature of the language called 'Jain Saurseni.' Dr. Hiralal (Introduction of षट् खडागम P. IV)

'जैन महाराष्ट्री का नामचुनाव समुचित न होने पर भी काम चलाऊ है। यही बात जैन शौरसेनी के बारे में और जोर देकर कही जा सकती है। इस विषय में अभी तक जो थोडी-सी शोध हुई है, उससे यह बात विदित हुई है कि इस भाषा मे ऐसे रूप और शब्द है जो शौरसेनी में बिल्कुल नही मिलते बल्कि इसके विपरीत वे रूप और शब्द कुछ महाराष्ट्री और कुछ अर्धमागधी में व्यवहृत होते हैं।

—पिशल, प्राकृत भाषाओ का व्याकरण पृ० ३८

'प्राचीन गाथाओं की भाषा शौरसेनी होते हुए भी महाराष्ट्रीपन से युक्त है। भाषाओ की दृष्टि से गाथाओं मे एकरूपता नही है।'—

'अर्धमागधी और महाराष्ट्री का सम्मिलित प्रभाव इन पर देखा जा सकता है।' —डा० नेमिचन्द्र, आरा प्राकृत भाषा और साहित्य का आलोचनात्मक इतिहास—पृ० २१७

उक्त मान्यता की पुष्टि मे हम दि० आगमो के विविध उद्धरण दे इससे पूर्व कुछ इन भाषाओं के नियमो का अवलोकन कर ले तो विषय और स्पष्ट होगा। उससे यह भी स्पष्ट होगा कि शौरसेनी के ऐसे कई रूप है। जिन्हे दि० आचार्यों ने ग्रहण नही किया और उनकी जगह सामान्य—अन्य प्राकृतो के रूपो को भी ग्रहण किया। जैसे—शोरसेनी के नियमों मे एक सूत्र है—'तस्मात्ता'—प्राकृत शब्दानुशासन, ३/२/१३. इसका अर्थ है—शौरसेनी में 'तस्मात्' शब्द को 'ता' आदेश होता है। जैसे कि—'**ता** अलं एदिणा माणेण।' इसमे तस्मात् के स्थान पर '**ता**' हुआ है। यदि दि० आचार्यों को केवल शौरसेनी मान्य रही होती तो वे अपनी कृतियो म सभी जगह तस्मात् की जगह 'ता' का प्रयोग करते। पर, उन्होंने उक्त नियम की उपेक्षा कर अन्य भाषाओं के शब्द-रूपो को भी आगम मे स्थान दिया। जैसे—समयसार-गाथा १०, ३४, ११२, १२७, १२८, १२९; नियमसार गाथा १४३, १४४, १५६ में 'तम्हा' का ग्रहण है, जब कि शौरसेनी के नियमानुसार वहाँ 'ता' होना चाहिए था।

दूर क्यों जाते हैं, हमें तो कुन्दकुन्द के ग्रन्थ 'समय-पाहुड' के नामकरण मे भी शौरसेनी की उपेक्षा हुई दिखती है। तथाहि—'पाहुड' शब्द संस्कृत के 'प्राभृत' शब्द का प्राकृतरूप है जिसका अर्थ भेंट होता है। यदि इस शब्द-रूप को शौरसेनी के नियम से देखना चाहें तो वह 'पाहुद' होगा। क्योकि शौरसेनी मे नियमों में एक सूत्र है—'दस्तस्य शौरसेन्यामरवावचोऽस्तोः।' —प्राकृतशब्दानु-शासन ३/२/१, इसमें 'त' को 'द' होने का विधान है, 'ड' होने का विधान नही। पर आचार्य ने उक्त नियम की उपेक्षा कर अन्य प्राकृतो के नियमानुसार 'त' को 'ड' कर दिया है। अन्य प्राकृतो के नियम हैं—'तो डः पताका प्राभृति **प्राभृत** व्यापृत प्रते।' प्राकृतचन्द्रिका २/१७; 'ड प्रत्यादौ'—प्राकृत-सर्वस्व, २/१०; 'तस्य हृत्व हरीत-क्यां प्राभृते मृतके तथा।'—वसन्तराज २/ ० Introduction of A.N. Upadhye in प्राकृत सर्वस्व।

इसी प्रकार दि० आगमों मे उन सभी प्राकृतो के रूप मिलते है जो रूप जन शौरसेनी की परिधि मे आते है। दि० आचार्यों ने न तो सर्वथा महाराष्ट्री को अपनाया और न सर्वथा शौरसेनी या अर्धमागधी को अपनाया। अपितु उन्होने उन सभी प्राकृतो के रूपों को (भिन्न-भिन्न स्थलो में) अपनाया जो जैन-शौरसेनी मे सहयोगी है और जैसा उपर्युक्त विद्वानों का मत है। और प्राचीन दि० आगमो और आचार्य कुन्दकुन्द की रचनाओ मे इसी आधार पर विविध प्राकृतो के प्रयोग मिलते है—दिगम्बर आचार्य किसी एक प्राकृत के नियमो को कर नही चले। यदि बारीकी से देखें तो प्राकृत भाषा के नियमो की परिधि बहुत विशाल है—शौरसेनी मे तो कुछ ही परिवर्तन है; प्राकृत शब्दानुशासन मे तो शौरसेनी सम्बन्धी मात्र २६ सूत्र है (देखें अध्याय ३ पाद २) ऐसे मे क्या २६ सूत्र मात्र से जैन आगमों की रचना हो सकती है? जरा सोचिए! मानना पड़ेगा कि आगमो मे अन्य प्राकृत-नियमों का भी समावेश है। उदाहरण के लिए 'पाहुड' शब्द को ही लीजिए। इसमें जो 'भ' को 'ह' और 'ऋ'

को 'उ' हुआ है—वह अन्य प्राकृतो के नियमो से हुआ है। तथाहि—

'ख घ थ घ भाम्।'–त्रिविक्रम १/३/२० से भ् को ह् (महाराष्ट्री)।

'जैवात्रिके परभृते संभृते प्राभृते तथा।'—प्राकृत-चन्द्रिका, ३/१०८ (साधा०) से 'ऋ' को 'उ' आदेश हुआ। क्या शौरसेनी के सूत्रो मे कोई स्वतत्र नियम है जिनसे 'पाहुड' शब्द बन सका हो ? फलतः—भाषा की दृष्टि से आगमों के संशोधन की बात सर्वथा निराधार है।

उक्त स्थिति में हम तो यही कहेगे कि या तो सशोधकगण पूर्व महान् विद्वानो से अधिक विद्वान् है या उनमें 'अहं' भाव--अपनी यश कामना का भाव है कि लोग वर्तमान मे हमे विद्वान् समझें और बाद मे रिकार्ड रहे कि अमुक भी कोई आगम-पण्डित हुए जिन्होने आगमो का संशोधन किया। वरना, जैन आगमो के विविध प्रयोग हमारे सामने ही है। हमे तब और आश्चर्य होता है, जब आगम भाषा को 'जैन-शौरसेनी' स्वीकार करने वाले भी आगम-ग्रन्थो को किसी एक भाषा के नियमो मे बांधने का प्रयत्न करें और आगम की छवि को बिगाडें।

दिगम्बर जैन आगमों में उपलब्ध विविध प्रयोग—

१. षट्खण्डागम [१-१-१]

(क) (महाराष्ट्री के नियमानुसार 'द' को हटाया)
उप्पजइ (दि) पृ० ११०, कुणइ पृ० ११०, वण्णेइ पृ० ६८, परूवेइ पृ० ९९, उच्चइ पृ० १७१, गच्छइ पृ० १७१, ढुक्कइ पृ० १७१, भणइ पृ० २६६, सभवइ पृ० ७४, मिच्छाइट्ठि पृ० २०, वारिसकालो कओ पृ० ७१ इत्यादि।

(ख) (शौरसेनी के अनुसार 'द' को रहने दिया)
सुदपारगा पृ० ६५, वण्णेदि पृ० ९६, उच्चदि पृ० ७६, परूवेदि पृ० १०५, उपक्कमो गदो पृ० ८२, सद्दं पृ० १२२, णिग्गदो पृ० १२७।

(ग) ('द' लोप के स्थान मे 'य'* सभी प्राकृतों के अनुसार)
सुयमायरयारया पृ० ६६, भणिया पृ० ६५, सुयदेवया पृ० ६, सुयदेवदा पृ० ६८, वरिसाकालोकओ[२] पृ० ७१, णवयसया (ता)पृ० १२२, कायव्वा पृ० १२५, णिग्गया पृ० १२७, सुयणाणाइच्च (तिलो०प०) पृ० ३५।

२. कुन्दकुन्द 'अष्टपाहुड' के विविध प्रयोग :—
(ग्रन्थनाम, शब्द और गाथा क्रम)

	होदि	होइ	होई	हवइ	हवदि	हवेई
दर्शनपाहुड	२६	११, २७, ३१	१४	२०	—	—
सुत्तपाहुड	९, २०	११, १४, १७ २०, २४	—	१९	२२	—
चरित्तपाहुड	—	१६, ४५	—	३४, ३६	—	—
बोधपाहुड	—	१५, ३६	११, २९	—	—	—
भावपाहुड	—	—	१२७, १४० १४३, १५१	११६	२०	५१, २८, ७६
मोक्खपाहुड	७०, ८३, १०१	५२, ९०	हवई ५०	१४, १८, ३८, ४७	५१, ४८	८७, १००
लिंगपाहुड	—	२, १३, १४	—	—	—	—
शीलपाहुड	—	६	१२१	—	—	—
नियमसार	१८, २९, ४५ ५५, ५८, ६४ ८२, ८३, ९४ १०७, १४२	२, ४, ३१ ५६, ५७ १६६, १६८ १६९, १७१ १७४, १७५	१०, १२७ १६३, १७९, १६६, १६८	—	११३, ११४ १६१, १६२	५, २०, १५०

* जैन महाराष्ट्री में लुप्त वर्ण के स्थान पर 'य' श्रुति का उपयोग हुआ है जैसा जैन-शौरसेनी मे भी होता है।
२. 'द' का लोप है 'य' नहीं किया। —षट्खडागम भूमिका पृ० ८६

नोट—टोडरमल स्मारक जयपुर से प्रकाशित 'कुंदकुंद शतक' में भी विभिन्न पाठ हैं—
दर्शनपाहुड गाथा २६ में 'होदि' गाथा २७ में 'होइ', 'समयसार' गाथा १९ मे 'हवदि'।

इसी प्रकार अन्य प्रचुर शब्द हैं जो विभिन्न रूपों में दि० जैन आगमो में प्रयुक्त किए गए हैं और कई ऐसे भी शब्द है जो शौरसेनी के नियम मे होते हुए भी इन आगमों मे कही-कही नही लिए गए है। जैसे शौरसेनी में एक सूत्र है--'इ अ दूणौ क्त्वः।'—प्राकृत शब्दानुशासन, ३/२/१० इसका अर्थ है—शौरसेनी मे क्त्व प्रत्यय को इ अ और दूण ये आदेश होते हैं। इसके अनुसार 'समय पाहुड' के मगलाचरण के 'वंदित्तु' शब्द के स्थान पर 'वन्दिअ या वंदिऊण' होना चाहिए जो नही हुआ। इससे तो ऐसा ही सिद्ध होता है कि यदि समयसार शौरसेनी का आगम होता तो यह 'प्रथमे ग्रासे—(मगलाचरण के प्रथम शब्द मे) मक्षिकापातः' न होता।

आज स्थिति ऐसी है कि वाज लोग जैन-शौरसेनी के नियमो की अवहेलवा कर आगम में आए शब्दों को बदल रहे हैं। जैसे--पुग्गल को पोंग्गल, लोए को लोगे, एइ को एदि, वत्तुं को वोत्तु आदि। प्रवचनसार में पुग्गल और पोग्गल दोनो रूप मिलते है—गाथा २/७६, २/६३, २/७८; पिशल मे लिखा है 'जैन-शौरसेनी मे पुग्गल' रूप भी मिलता है'—पैरा १२४; षट्खण्डागम के मंगलाचरण—मूलमत्र णमोकार मे 'लोए' अक्षुण्ण रूप में पाया जाता है जो आबाल-वृद्ध सभी मे श्रद्धास्पद है। पिशल म लिखा है---'प्राकृत' मे निम्न उदाहरण मिलते हैं—'एदि' के स्थान में 'एइ' बोला जाता है, 'लोके' को 'लोए' कहते हैं।'--पैरा १८६; यदि सभी जगह 'द' को रखना इष्ट होगा तो 'पढम होइ मगलं' इस आबाल-वृद्ध प्रचलित पद को 'पढम होदि मगल' रूप मे पढ़ना पडेगा—जैसा कि चलन जैन के किसी सम्प्रदाय मे नही।

यद्यपि प्राकृत-वैयाकरणियों ने जैन-शौरसेनी को प्राकृत को मूल-भेदो मे नही गिनाया, तथापि जैन-साहित्य में उसका अस्तित्व प्रचुरता से पाया जाता है। दिगम्बर-साहित्य इस भाषा से वैसे ही ओत-प्रोत है जैसे श्वेताम्बर-मान्य आगम अर्धमागधी से। सम्भवतः उत्तर से दक्षिण में जाने के कारण दिगम्बराचार्यों ने जैन-शौरसेनी को जन्म दिया—प्रचार की दृष्टि से भी ऐसा किया जा सकता है। जो भी हो, यह दृष्टि बड़ी विचारपूर्ण और पैनी है। इससे जैन-सिद्धान्त को समझने मे सभी को आसानी हुई होगी और सिद्धान्त सहज प्रचार में आता रहा होगा—देश-देश के शब्द आचार्यों ने इसीलिए अपनाए होंगे—शूरसेन जनपद मे आए तो उन्होने शौरसेनी शब्द लिए और महाराष्ट्र मे गए तो कुछ महाराष्ट्री रूप। इस तरह जैन आगमों की भाषा जैन-शौरसेनी' बनी दिखती है।

हम स्मरण दिला दें कि हमें देव-शास्त्र गुरु के प्रति और निर्ग्रन्थ-वीतराग जिनधर्म के प्रति जैसी श्रद्धा बनी है, वह दिगम्बर समाज के व्यवहार से ही बनी है। कही निराशा और कही आशा—इन दोनो ने ही हमें वस्तु स्वरूप-चिन्तन की दिशा दी है। फलतः धर्म-समाज के हित में जो भाव हमें उठते है, लिख देते हैं—लोग समझते हैं—यह हमारी खिलाफत करता है। हमे याद है—कभी हमने 'अनुत्तर योगी' की भी ऐसी ही विसगतियो की ओर पाठकों का ध्यान खीचा था और प्रबुद्धों ने हमारा साथ दिया। जिन लोगो को तब पछतावा नही हुआ था, वे तब जागृत हुए जब आचार्य तुलसी की सस्था से 'दिगम्बर-मत' शीर्षक द्वारा दिगम्बरो पर चोट की गई। वे भी विरोध को बौखला उठे। खैर, 'देर आयद दुरुस्त आयद।'

हम चाहते है—देव-शास्त्र-गुरु के मूलरूपो मे किसी प्रकार की विसगति न हो और समाज सावधान हो। यदि आगमो के मूल-शब्दरूपो मे बदलाव आता है तो निश्चय समझिए—आगम विरूप और लुप्त हो जायगा, इसमें सन्देह नही। हम नही चाहते कि जैसे हमारी शिथिलता से, हमारे दि० गुरुओ मे विरूपता आने लगी है वैसे आगम भी दूषित हो। यतः आगम मार्ग-दर्शक और मूल हैं, गुरु के रूप को भी वही सभारता है और मोक्षमार्ग का सकेत भी वही देता है। आशा है—प्रबुद्ध वर्ग हमारी विनती पर ध्यान देगा।

एक बात और। तत्त्वार्थसूत्र में देवों के प्रति एक स्वाभाविक नियम है—'परिग्रहाभिमानतो हीनः।'—अर्थात् ऊपर-ऊपर के स्वर्ग-देवों में परिग्रह और अभिमान हीन है। जब कि देव अव्रती हैं। ऐसी स्थिति मे हमें सोचना है कि --कही व्रत-धारण करने के शक्तिधारी हम, देवगति से हीन तो नही हो रहे जो 'परिग्रहाभिमानतो हीनः' की अवहेलना कर, देव-शास्त्र-गुरु के रूप को विरूप करने मे लगे हों! □

श्री ब्र० कुंवर दिग्विजयसिंह जी के शास्त्रार्थ ने मेरे द्वार खोले

[श्री पद्मचन्द्र शास्त्री, नई दिल्ली

लगभग सन् १९२७ के चैत्र मास की बात है, जब श्री कुंवर दिग्विजयसिंह जी अहिक्षेत्र के मेले के बाद बिलसी पहुंचे। उनके साथ मथुरा ब्रह्मचर्याश्रम के प्रचारक प० सिद्धसेन गोयलीय और एक पगडी धारी पडित जी श्री देवीसहाय जैन—(सम्भवत: सलावा वाले थे) भी थे। उन दिनो आर्य समाज के प्रचार का युग था। आये दिन समाजियो से जैनियों के विवाद चलते रहते थे। मेरे पिता जी की ऐसे विवादो में रुचि थी—उन्हें ज्यादा रस आता था—जैन की बात पोषण में। कुंवर सा० के आने से शास्त्रार्थ का वातावरण बन गया। नियम-समय आदि निर्धारित हो गए। आर्य समाज ने अपनी ओर से बरेली के पं० बंशीधर शास्त्री को नियुक्त किया और जैन की ओर से कुंवर साहब बोले। कुंवर सा० को वहाँ कई दिन ठहरना पड़ा।

मुझे याद है कटरा बाजार मे मेरे ताऊ श्री दुर्गा-प्रसाद जी की दुकान के सामने काफी भीड थी। दोनो ओर मेजे लगी थी। दोनो विद्वान बारी-बारी बोलते थे। सभापति का आसन बिलसी के प्रमुख रईस श्री गेंदनलाल ने (जो अजैन थे) ग्रहण किया था। नतीजा क्या रहा मुझे नही मालूम ? हाँ, दोनों ओर की तालियो की गड़गड़ाहट और जयकारो का मुझे ध्यान है। अगले दिन कुंवर सा० के सुझाव पर, वातावरण से प्रभावित मेरे पिता ने मुझे विद्वान् बनाने का संकल्प ले लिया और मथुरा ब्रह्मचर्या-श्रम मे भेजने का निश्चय प्रकट किया। कुंवर सा० ने मेरे सिर पर हाथ रखकर मुझे विद्वान् पंडित बनने का आशी-र्वाद दिया और गोयलीय जी से कहा—इस बालक की अच्छी व्यवस्था कराना। मुझे भली भांति याद है उस समय कुंवर सा० सफेद चादर ओढ़े, सफेद चाँदी फ्रेम वाला चश्मा लगाए थे और उनकी दाढ़ी मन मोह रही थी। कुछ महीनों में मैं आश्रम में पहुंच गया। मेरे पिता नही चाहते थे कि वे मेरा बोझ समाज पर डालें, फलत:—उन्होने खुशी से आश्रम को पाच रुपए मासिक देना स्वीकार किया और राशि बराबर पहुचती रही। उन दिनों पांच रुपयो की बड़ी कीमत थी।

पढ़ाई के बाद सन् ३६ मे जब अम्बाला शास्त्रार्थ संघ में उपदेशक विद्यालय खुलने की बात मेरे पिता के ध्यान मे आई तब उन्होने पुराने शास्त्रार्थ की बात याद कर मुझे आदेश दिया कि शास्त्रार्थ संघ मे चले जाओ। बस, स्वीकृति आने पर मैं पहुच गया। २५-५-३६ के उद्घाटन पर उपदेशक विद्यालय का मैं तत्त्वोपदेशक विभाग का सबसे छोटी उम्र का और प्रथम छात्र था। उन दिनो प० बलभद्र जी सघ के मैनेजर थे—हमारे आफीसर। फिर भी सादा, सरल। उन्होने मुझे भाई सरीखा स्नेह दिया। आश्रम का छात्र होने के कारण सघ मे मुझे ब्रह्मचारी का सबोधन मिला। मैं खुश था आश्रम के गौरव अनुरूप और प्रारम्भिक आशीर्वाददाता ब्र० कुंवर दिग्विजयसिह जी के अनुरूप नाम को पाकर।

होनी की बात है जिनका नाम मैं भूला बैठा, उन्हें मेरी स्मृति मे लाने का श्रेय डा० नन्दलाल, डा० कन्छेदी लाल और श्री खुशालचन्द्र गोरावाला ने लिया—मुझसे कुंवर साहब का परिचय चाहा। यद्यपि मुझे विशेष मालुम नही था और मना भी लिख चुका था। परन्तु संघ के संपर्क और कुंवर सा० के उपकारों को स्मरण कर कुंवर सा० की जीवनी की खोज मे लगा रहा। और अन्तत: सुखद नतीजे पर पहुंच ही गया—बहुत खोजने पर मेरी अम्बाला की नोट बुक मे कुंवर सा० का परिचय मिल ही गया जो मैंने उन दिनो कभी किसी पुस्तक से लिया था।

कुंवर सा० बड़े प्रभावक व्यक्तित्व के उत्साही कार्य-कर्ता थे। वे जन्मत: क्षत्रिय थे और प्राचीन अग्निकुल के भदौरिया वंश की कुलहिया शाखा के थे। उनका जन्म

श्रावण कृष्ण ८ सं०वि० १६४२ दिनांक ५ अगस्त १८८५ ई० मगलवार को हुआ था। उनके पिता ठाकुर भारत-सिंह जी बीधूपुरा (इटावा) के रईस व जमीदार थे। और चाचा ठाकुर सा० रघुवर सिंह जी उन दिनों महाराज बीकानेर के प्रधान मन्त्री थे। कुँवर सा० का कुटुम्ब उन दिनो धन, जन, विद्या और राज सन्मानादि सुखों से परिपूर्ण था। उन्होने ५ वर्ष की आयु मे ग्राम्य पाठशाला में दाखिला लिया। उसके बाद वे छोटी जुही कानपुर मे अपने नाना बाबू ब्रह्मासिंह पडिहार के पास चले गये वहाँ परेडवाले डिस्ट्रिक्ट स्कूल मे अग्रेजी पढ़े। वे इन्ट्रेन्स (दसवी) तक पढ़े। नागरी और सस्कृत मे भी धीरे-धीरे योग्यता प्राप्त कर ली। आप स्वदेश-प्रेमी, सदाचारी, दृढ़ प्रतिज्ञ थे और धर्म श्रद्धालु भी। भागवत, रामायण, महाभारत आदि सस्कृत ग्रन्थो और वेदान्त का उन्होने अच्छा ज्ञान प्राप्त किया। आर्य समाजियों के ससर्ग से उनका श्रद्धान उस समाज की ओर ढुल गया और उसी के अनुरूप सध्या वन्दन आदि क्रिया-काण्डो म सचेष्ट रहने लगे। ठाकुर सा० के जैन होने का सुयोग ही है कि—

सन् १६०६ के फाल्गुन मास का दिन धन्य है जब आप अपनी जमीन्दारी हक्कियत का बयनामा कराने इटावा आए तब उनका मिलन इटावा के तत्कालीन जैन विद्वान् प० पुत्तूलाल जी से हो गया। उनसे अनेको शका-समाधान हुए। बाद को कई बार चर्चाएँ होती रही। जब भादो मास आया तब पण्डित जी ने दशलक्षण पर्व में उन्हें शास्त्र-सभा मे निमत्रित किया। कुँवर सा० ने दस दिन तक दश धर्मो और तत्त्वार्थसूत्र का वाचन सुना और इतने प्रभावित हुए कि उन्होंने अपने को जैनतत्त्वज्ञान की जानकारी की ओर मोड़ दिया और लगातार इसके अध्ययन-मनन मे पूरा-पूरा समय देने लगे और निष्णात हो गए। जो पहिले आर्य समाज के भक्त थे अब वे उनसे बाद-विवाद करने लगे। अन्ततः उनके अटूट जैन श्रद्धान का स्पष्ट पता तब लगा जब उन्होने आर्य समाज के सामने अपनी शंकाएँ खुले रूप में रख दी। ये दिन था कार्तिक कृष्णा चतुर्दशी सन् १६१० का—जब आर्य समाज इटावा का वार्षिकोत्सव था। उत्सव में बाहर से आर्य समाज के सुप्रसिद्ध विद्वान् पधारे। स्वामी सत्यप्रिय संन्यासी, आगरा के प० रुद्रदत्त शर्मा सम्पादकाचार्य जैसे दिग्गजों से कुँवर सा० की 'परमात्मा के सृष्टिकर्तृत्व' विषय पर चर्चा चली। ये चर्चा तीन दिनो तक चली। अन्तिम दिन स्वामी ब्रह्मानन्द जी महाराज आगरा से आये वे भी कुँवर सा० का समाधान न कर सके। निदान कुँवर सा० ने आर्य समाज का परित्याग कर 'जैन' मे श्रद्धान की घोषणा की।

स्मरण रहे कि दिनांक १४ मार्च '६१० फागुन सुदी ३, चन्द्रवार को इटावा में प्रथम जैन सम्मेलन हुआ। यहाँ जैन तत्त्व प्रकाशनी सभा थी—उन दिनों उस सम्मेलन मे कुँवर सा० का जैन स्टेज से प्रथम भाषण हुआ। भाषण इतना प्रभावक था कि उससे गद्गद् होकर न्याय-दिवाकर प० पन्नालाल जी ने मगल आशीर्वादात्मक श्लोक बोलकर कुँवर सा० के गले में माला पहिनाई। प० गोपालदास जी ने कुँवर सा० की भूरि भूरि प्रशंसा करते हुए धन्यवाद देकर सभा विसर्जित की। बाद में सभा ने कुँवर सा० की जीवनी व भाषण दोनों का प्रकाशन कराया।

कुँवर सा० ने शास्त्रार्थ सघ अम्बाला के माध्यम से जैसा प्रचार कार्य किया उसे संघ के तत्कालीन पत्र जैन-दर्शन की फाइलों से जाना जा सकता है। वे लौह पुरुष थे, लोग कभी-कभी मुझे कहते हैं कि आप इतना स्पष्ट निर्भीकता पूर्वक कैसे बोल और लिख देते हैं? और मेरा उत्तर होता है—मुझे क्षत्रिय कुँवर दिग्विजय सिंह जी का आशीर्वाद प्राप्त है, उन्ही ने मेरे जीवन द्वार को सुनहरा बनाया। फिर, हमारे सभी तीर्थंकर भी तो क्षत्रिय थे। ऐसे उपकारी वीरो के लिए मेरे सादर-सादर नमन।

कुँवर सा० का निधन दिनांक ७ अप्रैल सन् १६३५ की साय अम्बाला-छावनी के शास्त्रार्थ सघ भवन में हुआ। उनका जीवन धन्य है।

ग्रन्थ-प्रशस्तियों का उपयुक्त प्रकाशन

डा० ज्योतिप्रसाद जैन

इतिहास के प्रमुख साधन स्रोतों के रूप में, शिलालेखो के पश्चात्, ग्रन्थ-प्रशस्तियों का भी अतीव महत्वपूर्ण स्थान है। अनेक ग्रन्थों की या छोटी-बडी रचनाओं की भी, पांडुलिपियों में किसी न किसी प्रकार की प्रशस्ति प्राप्त हो जाती है, जिसमें बहुधा बड़ी महत्वपूर्ण ऐतिहासिक जानकारी निहित रहती है। प्रशस्तियाँ कई प्रकार की होती हैं, यथा—(१) मूल रचनाकार की प्रशस्ति, जिसमे रचनाकार का नाम, कुल-वश आदि, या आम्नाय एव गुरुपरम्परा, रचना स्थल, रचनातिथि, उक्त ग्रन्थ के सहायक आदि, अथवा जिसके हितार्थ लिखा गया है उसका नाम, परिचय आदि, तत्कालीन शासक या राजा का नाम आदि, ज्ञातव्य दिए जाते है। कभी-कभी उक्त ग्रन्थ के आधारभूत अथवा तद्विषयक पूर्ववर्ती साहित्य एव साहित्यकारों का नामोल्लेख भी रहता है। कहीं-कही किसी तत्कालीन रोचक या महत्त्वपूर्ण घटना का भी उल्लेख हो जाता है। अधिकांशतः ये प्रशस्तियाँ ग्रन्थात मे होती है, किन्तु कभी-कभी ग्रन्थ के आद्य मे उपोद्‌घात रूप से भी उपयोगी ज्ञातव्य रहता है, विशेषकर पूर्ववर्ती साहित्य या लेखकों के विषय मे अनेक ग्रन्थो के प्रत्येक सर्ग, पर्व या अधिकार के अन्त में, तथा ग्रन्थांत मे मूल लेखक रचित पुष्पिकायें भी रहती है, जिनमें भी अनेक बार महत्त्वपूर्ण ज्ञातव्य प्राप्त हो जाता है। किसी-किसी ग्रन्थ के मध्य मे भी कही-कहीं किसी समसामयिक ऐतिहासिक तथ्य का उल्लेख हो जाता है। इस प्रकार का समस्त ज्ञातव्य जो मूललेखक द्वारा स्वय प्रदत्त होता है, रचना या रचनाकार की प्रशस्ति के अन्तर्गत आता है। (२) टीकाकार की प्रशस्ति जिन ग्रन्थो की कालान्तर मे एक या अधिक टीकाएँ, वचनिकाएँ, व्याख्याएँ, विवृत्तियाँ आदि हुई, उक्त टीकाकारादि ने भी बहुधा अपनी टीका में प्रायः आद्य, अन्त्य अथवा दोनो स्थलों में स्वयं अपना परिचय, तिथि, स्थान, प्रेरक, तत्कालीन शीर्षक, मूलग्रन्थ और कर्ता, अपने से पूर्ववर्ती उस ग्रन्थ के अन्य टीकाकार आदि का भी उल्लेख किया है। (३) दान-प्रशस्ति—जैन परम्परा से चतुर्विधदान प्रवृत्ति के अन्तर्गत शास्त्रदान का, प्रभूत महत्त्व रहा है। अनेक श्रावक-श्राविकायें पुरातन ग्रन्थो की प्रतिलिपियाँ कराकर उन्हें मुनिराजो, आर्यिकाओं गृहत्यागी, ब्रह्मचारी या उदासीन श्रावको आदि को भेंट करते रहे है। बहुधा किसी व्रत के उद्यापन या अनुष्ठान आदि के उपलक्ष्य मे भी इस प्रकार का शास्त्र दान किया जाता रहा है। अपने ग्राम या नगर के अथवा अन्यत्र के जिनमन्दिरों के शास्त्र भण्डारों मे भी, भण्डार के संवर्द्धन, प्राचीन साहित्य के संरक्षण अथवा स्वाध्याय प्रेमियो के हितार्थ शास्त्रो की प्रतिलिपियाँ कराकर दी जाती रही है। (४) प्रतिलेखक प्रशस्ति—एक-एक ग्रन्थ की समय-समय पर कई-कई प्रतिलिपियाँ बनी, जो विभिन्न शास्त्र भण्डारों या व्यक्तिगत सग्रहो मे संरक्षित रही। बहुधा प्रत्येक प्रतिलेखक अपने द्वारा लिखित प्रति के अन्त मे अपना नाम, लेखन स्थान, प्रतिलेखन तिथि, प्रेरक का नाम आदि दे देता है। इस प्रकार की प्रशस्तियों से तत्सम्बन्धित ऐतिहासिक ज्ञातव्य के अतिरिक्त, बडा लाभ यह होता है कि एक ही ग्रन्थ की विभिन्न प्रतियो के मिलान से ग्रन्थगत मूलपाठ का सशोधन-सम्पादन सन्तोषजनक हो सकता है। दूसरे, यदि ग्रन्थ के मूल लेखक की तिथि, स्थानादि अज्ञात हो या अल्पज्ञात हो तो उसकी विभिन्न प्रतियों में जो प्राचीनतम उपलब्ध प्रति होती है उससे मूल लेखक के समयादि का भी बहुत कुछ सही अनुमान हो जाता है। कभी-कभी एक नाम के कई-कई आचार्य या ग्रन्थकार हो गये हैं।—उनमें भेद करने तथा उनका पूर्वापर निश्चित करने मे भी ये प्रशस्तियाँ अनेक बार सहायक हो जाती है।

इसमे सन्देह नही कि उपरोक्त विभिन्न प्रकार की

ग्रन्थ-प्रशस्तियों के अध्ययन से न केवल विभिन्न भाषाओं में निबद्ध एवं विविध विषयक हमारे साहित्य के इतिहास के संशोधन एवं निर्माण में तो कभी-कभी अभूतपूर्व सहायता मिलती ही है, विभिन्न युगो एव प्रदेशों के समृद्ध जैन सांस्कृतिक केन्द्रों, प्रभावक आचार्यों एव साहित्यकारों, धर्मप्राण दानी एवं साहित्यप्रेमी, श्रावक-श्राविकाओं आदि के विषय मे अच्छी जानकारी प्राप्त हो जाती है। जाति-कुल-वंश आदि तत्तद समाज व्यवस्था, आर्थिक दशा, राजनैतिक परिस्थितियाँ, भौगोलिक स्थानो की पहिचान, आम्नाय भेद, साम्प्रदायिक स्थिति, मुनिसंघों का रूप एव दशा, धार्मिक प्रवृत्तियो का रूप एव प्रकार आदि अनेक उपयोगी ज्ञातव्य भी प्राप्त हो सकती है।

ऐसा नही है कि प्रशस्तियों की उपयोगिता एव उनके प्रकाशन की आवश्यकता की ओर विद्वानो का ध्यान नही गया है—विगत पचास-साठ वर्षों मे कई प्रशस्ति सग्रह प्रकाशित हो चुके है, यथा—

१. प० के० भुजबलि शास्त्री द्वारा सम्पादित तथा १९४२ ई० मे श्री जैन सिद्धान्त भवन, आरा द्वारा प्रकाशित "प्रशस्ति सग्रह"—जिसमे उक्त भवन मे सग्रहीत कतिपय पांडुलिपियो की महत्त्वपूर्ण प्रशस्तियां सग्रहीत हैं, साथ में शास्त्री जी द्वारा लिखित उनका विवेचन, व्याख्या आदि भी है।

२. प० जुगल किशोर मुख्तार एव प० परमानन्द शास्त्री द्वारा सम्पादित, तथा वीर सेवा मन्दिर, सरसावा द्वारा १९५४ ई० मे प्रकाशित "जैन ग्रन्थ प्रशस्ति सग्रह, भाग—१०"—जिसमे विभिन्न शास्त्र भण्डारो से चयनित, संस्कृत भाषा निबद्ध हस्तलिखित ग्रन्थों की··· प्रशस्तियाँ सकलित है।

३. "जैन ग्रन्थ प्रशस्ति सग्रह, भाग —२", सम्पादक एवं प्रकाशक वही, वर्ष १९६३ ई०—जिसमे अपभ्रंश तथा कुछ एक प्राकृत ग्रन्थो की—प्रशस्तियां सकलित है। दोनों ही भागो के प्रेरक-निर्देशक वीर सेवा मन्दिर के संस्थापक, सचालक स्व० पं० जुगल किशोर मुख्तार थे, किन्तु उनका सम्पादन, विस्तृत परिचयात्मक प्रस्त वनायें, विविध अनुक्रमणिकाएँ आदि कार्य मुख्यतया उनके सहायक स्व० पं० परमानन्द शास्त्री का है।

४. "राजस्थान के शास्त्र भण्डारो की सूची एव प्रशस्ति संग्रह"—भाग १, सम्पादक डा० कस्तूरचन्द कासलीवाल, प्रकाशक— शोध सस्थान श्री महावीर जी, १९५० ई० मे भी सूचीगत ग्रन्थों में से अनेको की प्रशस्तियाँ भी प्रकाशित हैं। इनके अतिरिक्त, १९५८ ई० मे जैन सस्कृति संघ शोलापुर से प्रकाशित प्रो० वि० जोहरापुरकर की पुस्तक "भट्टारक सम्प्रदाय" मे, भारतीय ज्ञानपीठ, दिल्ली से प्रकाशित तथा पं० के० भुजबलि शास्त्री द्वारा सम्पादित कन्नड प्रान्तीय ताडपत्र ग्रन्थसूची (१९४८ ई०) और प्रो० कुन्दन लाल जैन द्वारा सम्पादित "दिल्ली जिनग्रन्थ रत्नावली" (१९८१) में, अहमदाबाद से (१९६३ से ७२ ई० मे) प्रकाशित मुनि पुण्यविजय जी की सस्कृत प्राकृत हस्तलिखित ग्रन्थो की सूचियो के ६-७ भागो मे, अन्यत्र प्रकाशित कतिपय अन्य ग्रन्थ-सूचियों मे, और फुटकर रूप से भी जैन सिद्धान्त भास्कर आदि शोध पत्रिकाओ के कुछ अंको मे प्रकाशित विविध प्रशस्तियों की सख्या भी कम नही।

उपरोक्त विभिन्न प्रकाशनो में प्रकाशित अधिकांश प्रशस्तियों के मूल पाठ मात्र ही प्राप्त है। बहुधा तो पूरी प्रशस्ति भी नही रहती, केवल नमूने के लिए कुछ अन्त्य या आद्याश देकर ही सन्तोष कर लिया गया है। प्रथम तीन प्रशस्ति संग्रहों मे सकलित प्रशस्तियों का परिचय, संक्षेपसार और ऐतिहासिक विवेचन भी है, अन्यत्र वह भी नही है। इस प्रकार न कुछ होने से, इस दिशा में भी कुछ तो हुआ, यह सन्तोष की बात है। उनका उपयोग भी हुआ। किन्तु जिसके पाठक, विशिष्ट अध्येता, इतिहासकार एवं शोधकर्त्ता उनका समुचित उपयोग कर सकें और यथोचित रूप मे लाभान्वित हो सके, यह आवश्यक है कि जो भी प्रशस्ति-सग्रह आगे से प्रकाशित हो, जिनमें पूर्व प्रकाशनों के नवीन सस्करण भी हो सकते है, उन सबमें (१) प्रत्येक हस्तलिखित ग्रन्थ प्रति में प्राप्त सभी प्रकार की प्रशस्तिया व पुष्पिकाएँ (रचनाकार, टीकाकार, दाता प्रतिलेखक आदि की) एक साथ अपने मूलरूप मे संकलित हो, (२) साथ में उनका अन्वयार्थ एव अविकल भाषानुवाद रहें, (३) पाठ सशोधन-संपादन की टिप्पणियां, (४) विशेषार्थ, ऐतिहासिक या तुलनात्मक विवेचन यथा-

(शेष पृ० २५ पर)

(द्वि-सहस्राब्दी उपक्रम में)

क्या कुन्दकुन्द भारती बदलेगी ?

□ श्री पद्मचन्द्र शास्त्री, नई दिल्ली

लगभग दस वर्ष पूर्व सन् ७८ जून में मेरे मन में एक विकल्प उठा था और तब मैंने 'आ० कुन्दकुन्द की प्राकृत' शीर्षक के माध्यम से कुछ लिख कर अपने मन को शान्त कर लिया था। पर, आज आचार्य कुन्दकुन्द की द्वि-सहस्राब्दी समारोह के उपक्रम-समाचारों को पढ़-सुनकर वह विकल्प पुनः जागृत हो बैठा है। विकल्प है— **'क्या कुन्दकुन्द भारती बदलेगी?'**

वर्तमान में हमारे समक्ष दो कुन्दकुन्द भारती हैं—एक आगमरूप और दूसरी संस्थारूप। प्रसग में संस्था के विषय में हमे कुछ नही कहना। क्योंकि हम मान कर चलते है कि समय, साधन और साधको के अनुरूप संस्थाएँ निर्मित और विघटित होती रहती है, इसमें हर्ष-विषाद कैसा? हाँ, यदि मूल आगमरूप कुन्दकुन्द भारती बदलती है तो 'सर्वं वै पूर्णंवं स्वाहा' में संदेह नहीं।

सर्व विदित है कि षट्खण्डागम शास्त्र आचार्य कुन्द-कुन्द से बहुत पूर्व हुए आचार्य भगवत् भूतवलि-पुष्पदंत की कृति है। प्रथम पुस्तक के पृ० १३३ पर चौथे सूत्र में **'इंदिए, काए, कसाए'** शब्द प्रयुक्त हैं और ये शब्द क्रमशः **'इन्द्रिये, काये, कषाये'** इन सस्कृत शब्दों के स्थान पर (परिवर्तित रूप प्राकृत मे) दिए गए हैं। अर्थात् उक्त रूपों में प्राकृत भाषा के नियम रूप सूत्र 'प्रायः क ग च ज त द प ब य वां लोपः'—प्राकृतसर्वस्व २/२ और 'प्रायो लुक्क-गचजतदपयवां'—प्राकृत शब्दानुशासन १/३ के नियमानुसार संस्कृत के शब्दों से 'य' को हटा दिया गया है। उक्त तीनों शब्द सप्तमी विभक्ति के रूप हैं। इतना ही क्यों? उक्त चौथे सूत्र से पूर्व भी आचार्य ने षट्खण्डागम के मंगलाचरण में इसी नियम के अनुरूप क या ग को हटाकर लोके या लोगे के स्थान पर **'लोए'** शब्द का प्रयोग किया है—'णमो लोए सव्वसाहूण।' इसके अतिरिक्त बाद के आचार्यों ने भी 'लोए' को मान्यता दी है। स्वय कुन्द-कुन्दाचार्य ने भी इस शब्द का खुलकर प्रयोग किया है। देखें—पंचास्तिकाय प्राभृत गाथा ८५, ९० आदि*। उक्त रूप के सिवाय दि० आगमों में लोयो, लोओ, लोय जैसे सभी रूप मिलते है卐 और सभी उचित हैं। क्योंकि प्रकाण्ड प्राकृत विद्वानो के मतानुसार दि० आगमो की भाषा, अन्य कई प्राकृत भाषाओं का मिला जुला रूप है और इस भाषा का नाम ही जैन-शौरसेनी है। स्मरण रहे कि शौरसेनी और जैन-शौरसेनी में महद् अन्तर है। आज हमारे कई विद्वान् भी भ्रम में हैं वे शौर-सेनी को ही दि० आगमों की भाषा मान बैठे हैं और रूप बदल रहे हैं।

षट्खण्डागमकार से पूर्ववर्ती आचार्य गुणधर हैं इनकी रचना 'कसाय पाहुड सुत्त' है। इसमें भी इसी जाति के

* द्वादशानुप्रेक्षा गा० ८, सुतपाहुड गा० ११, दर्शनपा० गा० ३३। 卐 देखें—पंचास्तिकाय।

(पृ० २४ का शेषांश)

वश्यक, (५) ग्रन्थ प्रति का सक्षेप मे पूरा परिचय, प्राप्ति स्थान सहित, (६) ग्रन्थ, अप्रकाशित है या प्रकाशित, प्रकाशित है तो कब और कहाँ से, (७) प्रशस्तियों का संकलन भाषा वार तथा कालक्रम से हो, और (८) अन्त मे उपयुक्त वर्गीकृत नामानुक्रमणिकाएँ आदि रहें।

यो तो देश भर मे अनगिनत छोटे-बड़े जैनशास्त्र भण्डार मे सग्रहीत प्रायः प्रत्येक ग्रन्थप्रति मे एक व अधिक प्रकार की प्रशस्तियां प्राप्त हो जाती हैं। उन सभी भडारों का सम्यकरीत्या सर्वेक्षण-पर्यवेक्षण करके अनगिनत प्रशस्तियां एकत्र की जा सकती है। अतएव एक-एक भण्डार मे यदि छोटे-छोटे हों तो, ग्रामपास के या सम्बद्ध कई-कई भण्डारों मे, संग्रहीत ग्रन्थों की प्रशस्तियों के पृथक-पृथक प्रशस्ति-संग्रह उपरोक्त प्रकार से सुसम्पादित होकर प्रकाशित किये-कराये जा सकते हैं। यथासम्भव सर्वांगपूर्ण, उपयुक्त ज्ञातव्य पूरित एवं स्तरीय प्रकाशन समय और युग के लिए अपेक्षित है। —चारबाग, लखनऊ

अन्य शब्दों का प्रचुर मात्रा मे प्रयोग है। जैसे तृतीये के स्थान पर तदिए, संपराये के स्थान पर संपराए, कषाये के स्थान पर कसाए आदि। ये सभी सप्तमी के रूप है और सभी मे से (प्राकृत सर्वस्व और प्राकृत-शब्दानुशासन के उपर्युक्त नियमानुसार) य को हटा दिया गया है। हमारा अभिमत प्राकृत भाषा के प्रकाण्ड विद्वान् डॉ० ए० एन० उपाध्ये, डॉ० हीरालाल, डॉ० नेमीचन्द आरा व पिशल के अनुरूप है—कि जैन-शौरसेनी को दिगम्बर आचार्यों ने अपनाया जो कि कई प्राकृत भाषाओं का मिला-जुला रूप है—(देखें हमारा अन्य लेख)—फलत: दिगम्बर आगमों में सभी रूप मिलते है। कही त को द भी होना है, कही त का लोप भी होना है, कही क को ग होता है और कही क या ग का लोप भी होता है और कही इनके लोप के स्थान में य भी होता है। जैसे—गति = गदि, गति = गइ; वेदक = वेदग, एकेंद्रिय = एइंदिय; इसके सिवाय मध्यवर्ती क ग च ज त द प व य का लोप तो बहुश: पाया जाता है। फलत:—जहाँ जो है, ठीक है।

हमारा निवेदन है कि यदि इस रहस्य को न समझा गया और हम भावुकता मे बह गए तो (संशोधित ? समयसार गाथा न० ३ 'लोगे' के अनुसार) जिसे हम अब तक 'णमो लोए सव्वसाहूण' पढते रहे है कभी उसे गलत मान कर 'णमो लोगे सव्वसाहूणं' भी पढने लगेगे। और तब कहाँ जायगा स्वामी समंतभद्र का कथन—'न हि मंत्रोक्षर-न्यूनोनिहन्ति विषवेदना।' जब कि णमोकार हमारा महामंत्र है। सोचें क्या भाषा के बदलाव की भांति इस मत्र में लोए का लोगे न होगा ? और न होगा तो क्यो, किस नियम से ? यदि न होगा तो उस नियम को समयसार गाथा न० ३ मे लागू क्यों नही किया जा रहा ? अब ये सोचना आपका काम है कि वर्तमान संशोधनों के नाम पर आगमरूपी कुन्दकुन्द भारती बदलेगी या नही ? यदि बदलेगी तो समयसार में परिवर्तित शब्दरूपों की भाँति आगमसम्मत प्राचीन अनादि मूलमत्र णमोकार भी आपके हाथों से खिसक कर अन्यों के हाथो मे रह जायगा —वह आपका सिद्ध न हो सकेगा। क्योंकि आपका भाषा-शुद्धिमोह 'लोए' को अशुद्ध मान उसे 'लोगे' कर चुका है और प्राचीन मूलबीज मंत्र में 'लोगे' है नहीं—देखें—षट्खण्डागम, मंगलाचरण 'णमो लोए सव्वसाहूणं।' अब आपको सोचना है कि आप प्राचीन मूल बीजमत्र को जैन-शौरसेनी के अनुसार 'लोए' के रूप मे स्वीकारते है या मात्र 'लोगे' रूप को स्वीकारने के कारण उसे मात्र अर्धमागधी के लिए छोड़ते हैं ? निर्णय आपके हाथ है।

हमारी दृष्टि से आगमरूप कुन्दकुन्द भारती के मूल जैन-शौरसेनी (जिसमे कई प्राकृत भाषाएँ समिलित है) के रूप को यथावत् सुरक्षित रखना ही कुन्दकुन्द की द्वि-सहस्राब्दी मनाने की सार्थकता है। अन्यथा, हम उत्सवो मे बाजे बजवाने, भाषणादि सुनने-सुनाने के तो अभ्यासी है ही—कोई नई बात नही। यदि आप अपनी अज्ञानता या कायरतावश अथवा भावावेशवश भाषा-बदलाव (संशोधन ?) को न रोक सके तो आप अपने आगम का स्वयं घात कराएँगे।

डॉ० रिचर्ड पिशल प्राकृत-भाषाओ के जाने-माने प्रामाणिक उच्चतम विद्वान माने जाते है उन्होने प्राकृत मे उपलब्ध प्रभूत साहित्य और आगमिक ग्रन्थो को बड़ी बारीकी से देखा और उनके आधार पर प्राकृत भाषाओ के पारस्परिक भेद के जो निष्कर्ष अपनी कृति 'प्राकृत भाषाओं का व्याकरण' द्वारा सम्मुख रखे, उनमे उन्होंने शौरसेनी और जैन-शौरसेनी दोनों को पृथक्-पृथक् भाषाएँ माना। उन्होंने दोनों भाषाओं का पृथक्-पृथक् नामोल्लेख किया, दोनो के शब्द रूपों मे भेद दर्शाया और दोनो के साहित्य को भिन्न बतलाया। फलत:—दोनों भाषाएँ एक नही है और दि० जैन आगम भी शौरसेनी के नही है—वे सभी जैन-शौरसेनी भाषा के है। अत. दि० आगमो को शौरसेनी की प्रमुखता देकर उनमे शौरसेनी की भरमार करना और उनमें गृहीत जैन-शौरसेनी के रूपों का तिरस्कार करना सर्वथा ही अनुचित है—जैसा कि किया जा रहा है। डॉ० पिशल द्वारा निर्दिष्ट कुछ उद्धरण (पाठको की जानकारी के लिए) इस प्रकार है—

(एक) पृथक्-पृथक् नामोल्लेख :

(क) 'सौख्य शब्द के लिए महाराष्ट्री, अर्धमागधी, जैन महाराष्ट्री, जैन-शौरसेनी, शौरसेनी और अपभ्रंश मे सोक्ख होता है।—पैरा ६१ अ०

(ख) **जैन शौरसेनी** और **शौरसेनी** मे ओसह शब्द काम में लाया जाता है।' —पैरा ६१ अ०

(ग) 'जै० शौर० और शौर० मे ओसह रूप भी चलता है।'—पैरा २१५

(घ) 'जै०शौर०, शौर० माग० और अप० रूप बहिणी जो बधिणी से निकला है। —पैरा २०४

(च) 'जै०शौर०, शौर०, माग०, ढ० मे बोली के रूप मे तथा अप० मे **त** का द और थ का **ध** रूप बन जाता है।'—पैरा १९५

(छ) 'जै०शौर०, शौर०, माग० और ढ० मे मौलिक द और ध बने रह जाते है।' - पैरा १९५

(नोट—दोनो भाषाओ के नाम अर्ध-विराम देकर पृथक्-पृथक् बतलाए है।)

(दो) दोनों के शब्द रूपों में भेद :

(क) 'जैन शौरसेनी म **रयण** रूप पाया जाता है। शौरसेनी म **रदण** का व्यवहार होता है।' —पैरा १३१

(ख) जैन शौरसेनी मे **बसह** रूप है किन्तु शौरसेनी मे वृषभ के लिए सदा **वुसह** शब्द आता है।' —पैरा ४६

(ग) 'जै०शौर० **जध**, शौर० **जधा**' जै०शौर **तध** शौर और माग० **तधा**।' —पैरा १९५

(तीन) दोनों के साहित्य में भिन्नता .

डॉ० पिशल ने जैन शौरसेनी के शब्द-रूपो मे अन्य-भाषारूपो से पृथक्ता सूचक सभी उदाहरणो का चयन दि० आगमग्रन्थो (जैसे—पवयणसार, कत्तिगेया० आदि) से किया तथा शौरसेनी के सभी उदाहरण जैनेतर ग्रन्थो (जैसे—मृच्छ० शकु० आदि) से चुने। इसका तात्पर्य ऐसा है कि शौरसेनी दि० आगमो की भाषा नही है—यदि दि० आगम शौरसेनी के होते तो शौरसेनी शब्दरूपों की पुष्टि में उदाहरण दि० आगमो से दिये गये होते।

(चार) जैन-शौरसेनी (भाषाओं का संगम) :

दि० आगमो मे अर्धमागधी के शब्दों का भी प्रयोग है और अन्य भाषा के शब्दो का भी प्रयोग है अर्थात् इसमे किसी एक भाषा के शब्दरूपो का बन्धन नही है—ये भाषा मुक्त भाषा है। पिशल ने स्वयं जैन शौरसेनी का अर्ध-मागधी से अधिक मेल बताया है और इसीलिए दि० आगमो मे '**त्ता**', '**ग**' आदि जैसे रूप (जो अर्धमागधी के है) पाए जाते है। पिशल के शब्दो मे—

(क) 'क्त्वा का **त्ता** जो अर्धमागधीरूप है।'—पैरा १२१

(ख) 'जैन शौरसेनी का अर्धमागधी से अधिक मेल है।' —पैरा २१

(ग) '**क** का **ग** मे परिवर्तन अर्धमागधी की विशेषता है।' —पैरा १९

स्मरण रहे भाषा सम्बन्धी यह आवाज हमारी ही नही अपितु पूर्वाचार्यों की भाषा से फलित और प्राकृत भाषा के प्रकाण्ड दिवंगत-विद्वानो से सम्मत है। पहिले भी आगम के रूप को बदलना घातक हुआ है और आगे भी घातक होगा, भले ही अर्थ मे अन्तर न पड़ता हो। भविष्य मे लोग भी अपनी बुद्धि से, सशोधन की परम्परा बना लेगे और आगम का लोप होगा। इसे विचारिए—कुन्दकुन्द द्वि-सहस्राब्दी के समारोह मे। धन्यवाद !

(पृ० १२ का शेषांश)

आद्ये परोक्षम्, प्रत्यक्षमन्यत्, मतिपूर्वं श्रुतम्।" त० सू० १-९, १०, ११, २०।

२१. दृष्टाऽऽगमाभ्यामविरुद्धमर्थप्ररूपण युक्त्यनुशासनते। —युक्त्यनुशासन, कारि० ४८।

२२. एयत्तणिच्छयगओ समओ सव्वत्थ सुदरो लोए ॥
बंधकहा एयत्ते तेण विसवादिणी होई ॥ ३ ॥

२३. ण वि होदि अपमत्तो ण पमत्तो जाणओ दु जो भावो।
एवं भणंति शुद्ध णाओ जो सो उ सो चेव ॥ ६ ॥
ववहारेणुवदिस्सइ णाणिस्स चरित्त दंसणं णाण।
ण वि णाणं ण चरित्त ण दंसणं जाणगो सुद्धो ॥ ७ ॥

२४. जह ण वि सक्कमणज्जो अणज्जभास विणा उ गाहेउ।
तह ववहारेण विणा परमत्थुवदेसणमसक्क ॥ ८ ॥

२५. ववहारोऽभूयत्थो भूयत्थो देसिदो दु सुद्धणओ।
भूयत्थमस्सिदो, खलु सम्मादिट्ठी हवइ जीवो ॥११॥

२६. "प्रमाणनयात्मको न्यायः।" —धर्मभूषण, न्यायदीपिका, पृ० ५।

२७. ववहारणयो भासदि जीवो देहो य हवदि खलु एक्को।
ण दु णिच्छयस्स जीवो देहो य कदा वि एकट्ठो ॥ —सा० पा० गा० २७।

२८. जीवे कम्मं बद्धं पुट्ठं चेदि ववहारणयभणिद।
सुद्धणयस्स दु जीवे अबद्धपुट्ठं हवइ कम्मं ॥१४१

२९. कम्मं बद्धमबद्धं जीवे एवं तु जाण णयपक्खं।
पक्खातिक्कन्तो पुण भण्णदि जो सो समयसारो ॥ —वही, गा० १४२।

३०. वही, गा० १८१, १८२, १८३, १८४, १८६।

३१. वही, गा० २८८, २८९, २९०, २९१, २९२।

३२. वही, गा० ३४० "एव सखुवदेसं जे उवदिसंति एरिस समणा। ३३. वही, गा.३४७, ३४. वही, गा० ३४८।

(पृ० १६ का शेषांश)

शास्त्रों में सैद्धान्तिक चर्चाओं के विरोधी विवरण :

यह विवरण दो शीर्षकों मे दिया जा रहा है :—

(१) एक ही ग्रन्थ में असंगत चर्चा—मूलाचार के पर्याप्ति अधिकार की गाथा ७६-८० परस्पर असगत हैं :

सौधर्म स्वर्ग की देवियो की उत्कृष्ट आयु ५ पल्य ५ ४०
ईशान स्वर्ग की देवियों की उत्कृष्ट आयु ७ पल्य ५ ४०
सानत्कुमार स्वर्ग मे देवियोकी उत्कृ. आयु ६ प० १७ ४०

धवला के दो प्रकरण[१६]—(१) खुद्दक बंध के अल्प बहुत्व अनुयोग द्वार मे वनस्पतिकायिक जीवों का प्रमाण सूत्र ७४ के अनुसार सूक्ष्म वनस्पतिकायिक जीवो से विशेष अधिक होता है जबकि सूत्र ७५ के अनुसार सूक्ष्म वनस्पतिकायिक जीवों का प्रमाण वनस्पतिकायिक जीवों से विशेष अधिक होता है। दोनों कथन परस्पर विरोधी है। यही नही, सूक्ष्मवनस्पतिकायिक जीव और सूक्ष्म निगोद जीव वस्तुतः एक ही हैं, पर इनका निर्देश पृथक् पृथक् है।

(२) भागाभागानुगम अनुयोग द्वार के सूत्र ३४ की व्याख्या में विसगतियों के लिए वीरसेन ने सुझाया है कि सत्यासत्यका निर्णय आगमनिपुण लोग ही कर सकते है।

(२) भिन्न-भिन्न ग्रन्थों में असंगत चर्चायें—(१) **तीन वातवलयों का विस्तार** यतिवृषभ और सिंहसूर्य ने अलग-अलग दिया है :

(अ) त्रिलोकप्रज्ञप्ति मे क्रमशः ११/२, ११/६ व ११-१/२ कोश विस्तार है।

(ब) लोकविभाग मे क्रमशः २, १ कोश एवं १५७५ धनुष विस्तार है।

इसी प्रकार **सासादन गुणस्थानवर्ती जीव के पुनर्जन्म** के प्रकरण में यतिवृषभ नियम से उसे देवगति ही प्रदान करते हैं जब कि कुछ आचार्य उसे एकेन्द्रियादि जीवों की तिर्यंच गति प्रदान करते है। उच्चारणाचार्य और यतिवृषभ के विषय के निरूपण के अन्तरो को वीरसेन ने जयधवला मे नयविवक्षा के आधार पर सुलझाने का प्रयत्न किया है।[१७] इसी प्रकार, उच्चारणाचार्य का यह मत कि बाईस प्राकृतिक विभक्ति के स्वामी चतुर्गतिक जीव होते हैं—यतिवृषभ के केवल मनुष्य-स्वामित्व से मेल नही खाता। भगवती आराधना मे साधुओ के २८ व ३६ मूलगुणो की चर्चा के समय कहा है। "प्राकृतटीकाया तु अष्टविंशति गुणाः। आचारवत्वादयश्चाष्टौ—इति षट्त्रिंशत्।" इसी ग्रन्थ में १७ मरण बताये है पर अन्य ग्रन्थो में इतनी संख्या नही बताई गई है।[१८]

शास्त्री ने बताया है कि 'षट्खण्डागम' और 'कषायप्राभृत' मे अनेक तथ्यों में मतभेद पाया जाता है। इसका उल्लेख 'तन्नान्तर' शब्द से किया गया है। उन्होने धवला, जयधवला एवं त्रिलोकप्रज्ञप्ति के अनेक मान्यताभेदों का भी सकेत दिया है। इन मान्यता भेदो के रहते इनकी प्रामाणिकता का आधार केवल इनका ऐतिहासिक परिप्रेक्ष्य ही माना जावेगा।

आचार विवरण संबंधी विसंगतियां :

शास्त्रों मे सैद्धान्तिक चर्चाओं के समान आचार-विवरण में भी विसगतिया पाई जाती हैं। इनमे से कुछ का उल्लेख यहाँ किया जा रहा है।

श्रावक के आठ मूल गुण—श्रावको के मूलगुणों की परम्परा बारह व्रतों से अर्वाचीन है। फिर भी, इसे समन्तभद्र से तो प्रारम्भ माना ही जा सकता है। इनकी आठ की सख्या मे कि। प्रकार समय-समय पर परिवर्धन एव समाहरण हुआ है; यह देखिए :—

१. समतभद्र — तीन मकार त्याग पचाणुव्रत पालन
२. आशाधर — तीन मकार त्याग पचोदुम्बर त्याग
३. अन्य — तीन मकार त्याग पचोदुम्बर त्याग, रात्रि भोजन त्याग, देव पूजा, जीव दया, छना जल पान

समयानुकूल स्वैच्छिक परिवर्तनों का तेरहवी सदी के पं० आशाधर तक ने मान्य किया है। यहां शास्त्री[१९] समन्तभद्र की मूलगुण-गाथा को प्रक्षिप्त मानते हैं।

बाईस अभक्ष्य—सामान्य जैन श्रावक तथा साधुओ के आहार से सम्बन्धित भक्ष्याभक्ष्य विवरण मे तेरहवी सदी तक बाईस अभक्ष्यो का उल्लेख नही मिलता। मूलाचार एवं आचाराग के अनुसार, अर्पित किए गए कन्दमूल, बहुबीजक (निर्वीजित) आदि की भक्ष्यता साधुओं के लिए वर्जित है[२१]। पर उन्हें गृहस्थो के लिए भक्ष्य नही माना

जाता। वस्तुत: गृहस्थ ही अपनी विशिष्ट चर्या से साधुपद की ओर बढ़ता है, इस दृष्टि से यह विरोधाभास ही कहना चाहिए। सोमदेव आदि ने भी गृहस्थो के लिए प्रासुक-अप्रासुक की सीमा नही रखी। सम्भवतः दौलतराम के समय ५३ क्रियाओ मे अभक्ष्यो की सख्या बाईस तक पहुच गई। फलत: भक्ष्याभक्ष्य विचार विकसित होते होते सत्रहवी सदी में ही रूढ हो सका है।

आहार के घटक—भक्ष्य आहार के घटकों मे भी अन्तर पाया जाता है। मूलाचार की गाथा ८२२ मे आहार के छह घटक बताये गए है जबकि गाथा ८२६ मे चार घटक ही बताए हैं। ऐसे ही अनेक तथ्यो के आधार पर मूलाचार को संग्रह ग्रन्थ मानने की बात कही जाती है[११]।

श्रावक के व्रत— कुन्दकुन्द और उमास्वाति के युग से श्रावक के बारह व्रतो की परम्परा चली आ रही है। कुन्दकुन्द ने सल्लेखना को इनमे स्थान दिया है पर उमास्वाति, समंतभद्र और आशाधर इसे पृथक् कृत्य के रूप मे मानते हैं। इससे बारह व्रतो के नामो मे अन्तर पड गया है। इसमे पाँच अणुव्रत तो सभी में समान हैं, पर अन्य सात शीलों के नामो मे अन्तर है*।

यहाँ कुन्दकुन्द और उमास्वाति की परम्परा स्पष्ट दृष्टव्य है। अधिकाश उत्तरवर्ती आचार्यों ने उमास्वाति का मत माना है। साथ ही भोगोपभोग परिमाण व्रत के अनेक नाम होने से उपभोग शब्द की परिभाषा भी भ्रामक हो गई है :—

	एक बार सेव्य	बारबार सेव्य
समंतभद्र	भोग	उपभोग
पूज्यपाद	उपभोग	परिभोग
सोमदेव	भोग	परिभोग

श्रावक की प्रतिमाएँ—श्रावक से साधुत्व की ओर बढ़ने के लिए ग्यारह प्रतिमाओं की परम्परा कुन्दकुन्द युग से ही है। संख्या की एकरूपता के बावजूद भी अनेक के नामो और अर्थों मे अन्तर है। सबसे ज्यादा मतभेद छठी प्रतिमा के नाम को लेकर है। इसके रात्रिमुक्त त्याग (कुंदकुंद, समंतभद्र) एव दिवा मैथुन त्याग (जिनसेन, आशाधर) नाम मिलते है। रात्रिभुक्तित्याग तो पुनरावृत्ति लगती है। यह मूलगुण है। आलोकित पान-भोजन का दूसरा रूप है। अतः परवर्ती दूसरा नाम अधिक सार्थक है। सोमदेव ने अनेक प्रतिमाओ के नये नाम दिये है। उन्होंने १ मूलव्रत (दर्शन), ३ अर्चा (सामायिक), ४ पर्वकर्म (प्रोषध), ५ कृषि कर्म त्याग (सचित्त त्याग), ८ सचित्त त्याग (परिग्रह त्याग) के नाम दिये है। हेमचन्द्र ने भी इनमें पर्वकर्म, प्रासुक आहार, समारंभ त्याग, साधु निस्संगता का समाहार किया है[१२]। सम्भवत. इन दोनों आचार्यों ने प्रतिमा, व्रत व मूलगुणो के नामो की पुनरावृति दूर करने के लिए विशिष्टार्थक नामकरण किया है। यह सराहनीय है। परम्परापोषी युग की बात भी है। बीसवी सदी में मुनि क्षीर सागर ने भी पुनरुक्ति दोष का अनुभव कर अपनी रत्नकरड श्रावकाचार की हिन्दी टीका मे ३ पूजन ४ स्वाध्याय ७ प्रतिक्रमण एव ११ भिक्षाहार नामक प्रतिमाओ का समाहरण किया है[१३]। पर इन नये नामों को मान्यता नही मिली है।

व्रतों के अतीचार—श्रावकों के व्रतो के अनेक अतीचारों में भी भिन्नता पाई गई है।

भौतिक जगत के वर्णन में विसंगतियां : वर्तमानकाल—

भौतिक जगत के अन्तर्गत जीवादि छह द्रव्यो का वर्णन समाहित है। उमास्वाति ने "उपयोगो लक्षण" कह कर जीव को परिमापित किया है। पर शास्त्रों के अनुसार,

* (अ) गुण व्रत—

कुन्दकुन्द	दिशा-विदिशा प्रमाण,	अनर्थदडव्रत,	भोगोपभोगपरिमाण
उमास्वाति	दिग्व्रत	अनर्थदडव्रत,	देशव्रत
आशाधर, समंतभद्र	दिग्व्रत	,,	भोगोपभोगपरिमाण

(ब) शिक्षाव्रत—

कुंदकुंद	सामायिक,	प्रोषधोपवास,	अतिथिपूज्यता,	सल्लेखना
समंतभद्र, आशाधर	सामायिक,	प्रोषधोपवास,	वैयावृत्य,	देशावकाशिक
उमास्वाति	सामायिक,	प्रोषधोपवास,	अतिथिसविभाग,	उपभोग परिभोग परिमाण
सोमदेव	सामायिक,	प्रोषधोपवास,	वैयावृत्य	भोग-परिभोग परिमाण

जरा-सोचिए !

१. क्या जैन जिन्दा रह सकेगा ?

जैसे चन्द लोग इकट्ठे होते है और आकाश गुंजाने को जोर से नारा लगाते हैं—'जैन धर्म की जय ।' नारे से आकाश तो गूंजता है, पर, क्षण भर मे वह गूज कहा विलीन हो जाती है ? इसे सोचिए : कही वह अस्तित्व रखते हुए भी अरूपी आकाश मे तो नही समा जाती। इसी प्रकार आज जैन को ढूढना भी मुश्किल है, वह भी चूर-चूर होकर बिखर चुका है ? शायद कही वह भी तो अरूपी आकाश में नही समा गया ? देखिए, जरा गौर से—यदि ज्ञान-दीपक लेकर ढूढें तो शायद मिल जाय !

आप किसी मन्दिर में जाइए वहां आप समवसरण के कीमती से कीमती वैभव को देख सकेंगे, पाषाण-निर्मित प्रतिबिम्बों को देख सकेंगे—वे बिम्ब चादी, सोने, हीरे और पन्नों के भी हो सकते है, आप आसानी से देख सकेंगे। पर, जैन आपको अपनी आंखो या भावों मे कदाचित् ही दिखे।

ऐसे ही किसी त्यागी समाज मे जाकर देखिए, वहा आपको लाल, गेरुआ, पीत, श्वेत या दिगम्बर चोला तो दिखेगा, पर, जिसे आप खोज रहे है वह 'जैन' न मिलेगा। ऐसे ही किसी पण्डित के पास जाइए—उसे सुनिए : आपको सिद्धान्त और आगम की लम्बी-चौडी व्याख्याएं मिलेंगी, क्रिया-काण्ड मिलेगा पर, 'जैन' के दर्शन वहाँ भी मुश्किल से हो सकेंगे। धन-वैभव मे तो जैन के मिलने का प्रश्न ही नही—जहा लोग आज खोजते हैं।

आप पूछेंगे भला, वह जैन क्या है, जिसे देखने की आप बात कर रहे हैं ? आखिर, उस जैन को कहाँ देखा जाय ? तो सुनिए—

'जैन' आत्मा का निर्मल, स्वाभाविक रूप है, वह सरल-आत्माओं के भावों और आचार-विचारों मे मुखरित होता है। जहां मलीनता, बनावट और दिखावा न हो. वहां झलकता है। आप देखें—ये जो कई श्रावक हैं, पण्डित है, त्यागी और नेता है, इनमें कितने, किस अंश में मलीनता, बनावट और दिखावे से कितनी दूर है ? जो इनमे जैन हो। क्या कहें ? आज तो त्याग की परिभाषा भी बदली जैसी दिखती है। त्याग तो जैन बनने का सही मार्ग है और वह मार्ग अन्तरग व बहिरंग दोनो प्रकार के परिग्रहो को कृश करने और परिग्रहो के अभाव मे मिलता है। अर्थात् परिग्रह की जिस स्थिति को छोडकर व्यक्ति घर से चला हो उस स्थिति की अपेक्षा परिग्रह मे हीनता होते जाना त्याग की सच्ची पहचान है। पर, आज तो परिस्थिति अधिकाश ऐसी है कि—जो पुरुष दीक्षा—नियम से पूर्व किसी झोपड़ी, साधारण से सुविधारहित कच्चे-पक्के घर मे रहता था वह त्यागी नामकरण होने के बाद सुन्दर, स्वच्छ सुविधायुक्त मकानों, कोठियो, बगलो और यहाँ तक कि वह बकिंघम पैलेस जैसे महलों मे रहने के स्वप्न देखता और वैसे प्रयत्न करता है। जिसे दीक्षा से पूर्व ख्याति, पूजा-प्रतिष्ठा की चाह न थी, वह उत्सवो, कार्यक्रमों आदि के बहाने बडे-बड़े पोस्टरो मे बडी-बड़ी पदवियों सहित अपने नाम-फोटो और वैसी किताबे छपाना चाहता—छपाता है। जिसे दीक्षा पूर्व लोग जानते भी न थे—कोने मे बैठा रहता हो वह दीक्षा के बाद सिंहासनारूढ होकर सभाओ मे अपने जयकारे चाहता है। जो घर से सीमित परिवार का मोह त्याग, वैराग्य की ओर बढ़ा था वह उपकार के बहाने सीमित की बजाय श्रावक-श्राविका और सेठ-साहूकारो जैसे बड़े परिवारों के फेर मे फंस जाता है, उसके वैभव से घिर जाता है। ये सब तो ग्रहण करने के चिन्ह हैं और ग्रहण करने मे जैन कहां ? जैन तो उत्तरोत्तर त्याग मे है, आकिंचन्य मे है। हाँ, सच्चे त्यागी होंगे अवश्य—उनको खोजिए, जहाँ वे हों, जाइए और नमन कीजिए, इसमे आपका भी भला है।

श्रावकों की मत पूछिए, वे भी कहाँ, कितने है ? होंगे बहुत थोड़े कही—किन्ही आकाश प्रदेशों मे, श्रद्धा

और विवेकपूर्वक श्रावक की दैनिक षट्क्रियाओं में लीन। वरना, अधिकांश जन समुदाय तो इस पद से अछूता ही है—रात्रि-भोजी और मकार-सेवी तक। जिन्हें हम श्रावक माने बैठे है, तथोचित सर्वोच्च जैसे सम्मान आदि तक दे रहे है, शायद कदाचित् उनमे कुछ श्रावक हो तो दैनिक षट्क्रियाओं की कसौटी पर कस कर उन्हे देखिए। वरना, वर्तमान वातावरण से तो हम यह ही समझ पाए हैं कि—इस युग मे पैसा ही श्रावक और पैसा ही प्रमुख है—सब उधर ही दौड रहे है।

पण्डित, 'पण्डा' वाला होता है और 'पण्डा' बुद्धि को कहते हैं—'पण्डा-बुद्धिर्यस्यसः पण्डितः' अर्थात् जिसमें बुद्धि हो वह पण्डित है। आज कितने नामधारियों में कैसी बुद्धि है, इसे जिनमार्ग की दृष्टि से सोचिए। जब जिनमार्ग विरागरूप है तब वर्तमान पीढ़ी मे कितने नामधारी, प० प्रवर टोडरमल जी, प० बनारसीदास जी और और गुरुवर्य पं० गोपालदास जी बरैया, प० गणेशप्रसाद वर्णी जैसे सन्मार्ग-राही और अल्प-सन्तोषी है? जो उक्त परिभाषा मे खरे उतरते हो या जो लौकिक लाभों और भयो की सीमा लांघ—बिना किसी झिझक के सही रूप मे जिन वाणी के अनुसर्ता या उपदेष्टा हों? कडुवा तो लगेगा, पर, आज के त्यागी वर्ग की शिथिलता मे कुछ पण्डितो, कुछ सेठो या श्रावको का कुछ हाथ न हो—ऐसा सर्वथा नहीं है। कई लोग हा, मे हाँ करके (भी) मार्ग बिगाड़ने मे सहयोगी हो तब भी सन्देह नही। कुछ पंडितो की अहं-पण्डा (बुद्धि) के कारण, उनके सहयोग से मूल-आगम-रूप भी बदलाव पर हों तो भी सन्देह नही। हम आगम के पक्षपाती हैं। हम नही चाहते कि कोई अपनी बुद्धि से आगमों मे परिवर्तन लाए। हम तो पूर्वाचार्यों की चरण-रज-तुल्य भी नही, जो उनकी भाषा मे किन्ही बहानों से परिवर्तन लाएँ—आचार्यों ने किस शब्द को किस भाव मे कहा, किस रूप में रखा है इसे वे ही जानें—इस विषय को आचार्यों की स्व-हस्तलिखित प्रतियो की उपलब्धि पर—सोचा जा सकता है, पहिले नही। जैसा हो, विचारें।

अब रह गए नेता। सो नेताओं की क्या कहें? वे हमारे भी नेता हैं। गुस्ताखी माफ हो, इसमे हमारा वश नहीं। नेता शब्द ही ऐसा बहुमुखी है जो चाहे जिधर मोड़ा जा सकता है—नेता अच्छों के भी हो सकते हैं और गिरों के भी—धर्मात्माओ के भी हो सकते है। पर, हम यहां 'मोक्ष मार्गस्य नेतारं' की नही, तो कम से कम जैन-समाज और जैन धर्म के नेताओ की बात तो कर ही रहे हैं कि वे (यदि ऐसा करते हों तो) केवल नाम धराने के उद्देश्य से दिखावा न कर जनता को धर्म के मार्ग में सही रूप में ले चलें और स्वय भी तदनुरूप सही आचरण करें। जिससे जैन धर्म टिका रह सके। यदि ऐसा होता है तो हम कह सकेंगे—'हा, जैन जिन्दा रह सकेगा'। असलियत क्या है? जरा-सोचिए—

—सम्पादक

'अनेकान्त' के स्वामित्व सम्बन्धी विवरण

प्रकाशन स्थान—वीर सेवा मन्दिर, २१ दरियागंज, नई दिल्ली-२

प्रकाशक—वीर सेवा मन्दिर के निमित श्री बाबूलाल जैन, २ अन्सारी रोड, दरियागज, नई दिल्ली-२

राष्ट्रीयता—भारतीय

प्रकाशन अवधि—त्रैमासिक

सम्पादक—श्री पद्मचन्द्र शास्त्री, वीर सेवा मन्दिर २१, दरियागंज, नई दिल्ली-२

राष्ट्रीयता—भारतीय

मुद्रक—गीता प्रिंटिंग एजेंसी न्यू सीलमपुर, दिल्ली-११००५३

स्वामित्व—वीर सेवा मन्दिर २१, दरियागंज, नई दिल्ली-२

मैं बाबूलाल जैन, एतद् द्वारा घोषित करता हूं कि मेरी पूर्ण जानकारी एवं विश्वास के अनुसार उपर्युक्त विवरण सत्य है।

बाबूलाल जैन
प्रकाशक

Regd. with the Registrar of Newspaper at R. No. 10591/62

मौलिक विचार

'हमारी विनम्र राय मे भाषा मे शुद्ध या अशुद्ध होने का कोई प्रश्न ही नही है। जो लोग भाषा शास्त्र का ककहरा भी जानते है वे जानते है कि किसी भी भाषा या भाषारूप का जैसा वह उपलब्ध हो उसका वैसा अध्ययन करना चाहिए अपेक्षया इसके कि उसे किसी खास खूटे से बाँधा जाय और शुद्ध करने का ढोंग किया जाए।'

'वस्तुतः जैन शौरसेनी पहली दो प्राकृतो से जुडा है, इस तथ्य को पूरी तरह समझ लेना चाहिए।'

'हमारे खयाल से अब उसे मानक बनाने का जो कष्ट उठाया जा रहा है, वह व्यर्थ और अनावश्यक है। भाषा के शुद्ध करने की सनक मे कही ऐसा न हो कि हम जैन-शौरसेनी के मूल व्यक्तित्व से ही हाथ धो बैठें।'

—'तीर्थंकर'—सम्पादकीय, मार्च १९८८

'आगम के मूलरूपो मे फेर बदल घातक है' नामक आपका लेख सार्थक एव आगम की सुरक्षा के लिए कवच है।'

'कोई भी प्राचीन प्राकृत ग्रन्थ/आगम किसी व्याकरण के नियमो से बधी भाषा मात्र का अनुगमन नही करता। उसमे तत्कालीन विभिन्न भाषाओं/बोलियो के प्रयोग सुरक्षित मिलते है।'

'एक ही ग्रथ मे कई प्रयोग प्राकृत बहुलता को दर्शाते है अत. उनको बदलकर एकरूप कर देना सर्वथा ठीक नही है।'

'सस्कृत छाया से प्राकृत पढ़ने वाले विद्वानो के द्वारा इस प्राकृत भाषा के साथ छेडछाड करना अनधिकार चेष्टा कही जायेगी। उसे रोका जाना चाहिए।'

'प्राचीन ग्रन्थो का एक-एक शब्द अपने समय का इतिहास स्तम्भ होता है।'

'केवल अपने विचार व्यक्त किए जा सकते है या टिप्पणी दी जा सकती है, मूलपाठ मे शब्द नही बदला जा सकता है।'

—डॉ० प्रेमसुमन जैन, अध्यक्ष—जैन विद्या एव प्राकृत विभाग, सुखा० वि० वि०, उदयपुर

'तीर्थंकर मे आपका लेख जैन-शौरसेनी के बारे मे पढा। अच्छा लगा। पर यहाँ कौन सुनने वाला है। सब तो लघु-सर्वज्ञ बनने जा रहे है और जो जिसके मन मे आता है सो करने लग जाता है।' —नीरज जैन, सतना

सम्पादक परामर्श मण्डल डा० ज्योतिप्रसाद जैन, श्री लक्ष्मीचन्द्र जैन, सम्पादक श्री पद्मचन्द्र शास्त्री
प्रकाशक—बाबूलाल जैन वक्ता, वीरसेवामन्दिर के लिए मुद्रित, गीता प्रिंटिंग एजेन्सी, डी०-१०५, न्यूसीलमपुर, दिल्ली-५३

BOOK-POST

वीर सेवा मन्दिर का त्रैमासिक

अनेकान्त

(पत्र-प्रवर्तक : आचार्य जुगलकिशोर मुख्तार 'युगवीर')

वर्ष ४१ : कि० २ अप्रैल-जून १९८८

इस अंक में—

क्रम	विषय	पृ०
१.	श्री सुपार्श्वनाथ-जिन-स्तवन	१
२.	प० टोडरमल स्मारक ट्रस्ट-डीड संशोधन-प्रसग	२
३.	दिगम्बर आगम रक्षा-प्रसंग	६
४.	आर्ष-भाषा को खंडित न किया जाय —श्री पद्मचन्द्र शास्त्री	१०
५.	श्री कुन्दकुन्द का विदेह गमन —श्री रतनलाल कटारिया	१२
६.	राजस्थानी कवि ब्रह्मदेव के तीन ऐतिहासिक पद—डॉ० कस्तूरचन्द कासलीवाल	१५
७.	मध्य-प्रदेश का जैन केन्द्र सिहोनिया —डॉ० कस्तूरचन्द्र 'सुमन'	१७
८.	जैन कवि विनोदीलाल की अचर्चित रचनाएँ —डॉ० गंगाराम गर्ग	२१
९.	द्वादशानुप्रेक्षा—डॉ० कु० सविता जैन	२३
१०.	दशवीं शताब्दी के अपभ्रंश काव्यों में दार्शनिक समीक्षा—श्री जिनेन्द्रकुमार जैन उदयपुर	२५
१०.	जरा सोचिए : —सम्पादक	३०

प्रकाशक :

वीर सेवा मन्दिर, २१ दरियागंज, नई दिल्ली-२

—इतिहास मनीषी, विद्यावारिधि—

स्व० डा० ज्योति प्रसाद जैन को

—श्रद्धांजलि—

इतिहास-मनीषी, विद्यावारिधि स्व० डा० ज्योति प्रसाद जैन से सभी परिचित हैं। सामाजिक, धार्मिक और ऐतिहासिक जैसे सभी क्षेत्रो में उनकी अप्रतिम प्रतिभा और सहयोग रहे। वे सदा प्रामाणिक लिखते और कहते रहे। वीर सेवा मन्दिर से उनके पुराने सम्बन्ध थे। सन् १९७४ मे वे शोध-निमित्त सरसावा भी रहे। वे सरल स्वभावी, हँसमुख और पठन-पाठन के शौकीन थे। उन्होंने समाज को जो भी दिया वह चिर-काम आएगा और आदर्श रहेगा। वे वर्षों से अनेकान्त के सम्पादक मंडल में थे। गत ७-८ वर्षों से तो ऐसा अनेकान्त का शायद ही कोई अंक हो जिसमें उनका लेख न हो।

"अनेकान्त' के माध्यम से प्रसारित उनके अन्तिम लेख की कड़ियां पाठको को अब भी विचारणीय हैं।" कुन्दकुन्द द्विसहस्राब्दी की तिथि को लक्ष्य कर वे लिखते हैं—

"जब किसी महापुरुष या उनके जीवन की घटना विशेष की स्मृति में कोई आयोजन किया जाय तो उसमे कुछ तुक होना उचित है। भगवत् कुंदकुंदाचार्य का जन्म ई० पू० ४१ मे हुआ था, ११ वर्ष की आयु में ई० पू० ३० में उन्होंने मुनि दीक्षा ली थी, २२ वर्ष मुनि जीवन व्यतीत कर ३३ वर्ष की आयु में ई० पू० ८ में वह आचार्य पद पर प्रतिष्ठित हुए और ५२ वर्ष पर्यन्त उस पद को सुशोभित करके ८५ वर्ष की आयु में सन् ४४ ई० में उन्होंने स्वर्गगमन किया था इनमे से किसी भी विधि की संगति इस या आगामी वर्ष के साथ नही बैठती। हमे ज्ञात नही है कि किस महानुभाव की प्रेरणा से इस समय इस आयोजन का विचार प्रस्फुटित हुआ है। बहुमान्य परम्पराएँ अनुश्रुति के अनुसार तो आचार्य प्रवर के जन्म की द्विसहस्राब्दि सन् १९५९ ई० मे होती, उनकी दीक्षा की द्वि-सहस्राब्दि सन् १९७० मे होती, उनके आचार्य पद ग्रहण की द्वि-सहस्राब्दि सन् १९९२ ई० मे और उनके स्वर्गगमन की द्वि सहस्राब्दि सन् २०४४ ई० में होनी चाहिए।"

आगम-रक्षा के सम्बन्ध मे डा० सा० का सन्देश है—"किसी भी प्राचीन ग्रन्थ के मूल-पाठ को बदलना या उसमे हस्तक्षेप करना किसी के लिए उचित नहीं है। जहाँ संशय हो या पाठ त्रुटित हो उसी स्थिति में ग्रन्थ की विभिन्न प्रतिलिपियों मे प्राप्त पाठान्तरों का पाद-टिप्पण में सकेत किया जा सकता है और अपना संशोधन या सुझाव भी सूचित किया जा सकता है।"

डा० सा० के निधन से हुई क्षति-पूर्ति सर्वथा असम्भव है। वीर सेवा मन्दिर की कार्यकारिणी ने अपनी बैठक में स्व० आत्मा मे श्रद्धा व्यक्त करते हुए उनकी आत्म-शांति और सद्गति की प्रार्थना की और परिवार के प्रति सम्वेदना प्रकट की। समाज डा० सा० के उपकारों का सदा ऋणी रहेगा।

—सुभाष जैन
महासचिव

ओम् अर्हम्

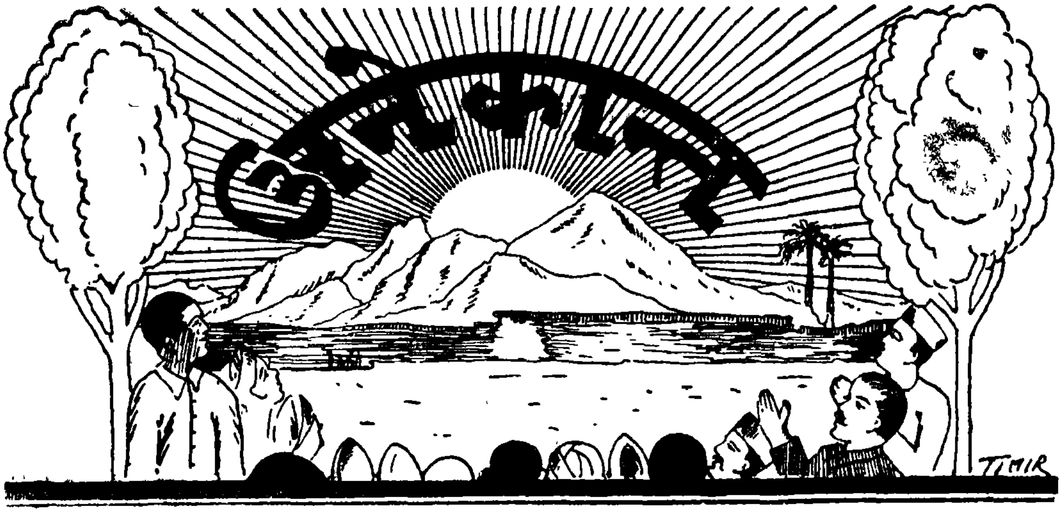

परमागमस्य बीजं निषिद्धजात्यन्धसिन्धुरविधानम् ।
सकलनयविलसितानां विरोधमथनं नमाम्यनेकान्तम् ।।

वर्ष ४१ किरण २ | वीर-सेवा मन्दिर, २१ दरियागंज, नई दिल्ली-२ | वीर-निर्वाण संवत् २५१३, वि० सं० २०४५ | अप्रैल-जून १९८८

श्रीसुपार्श्व-जिन-स्तवन

स्वास्थ्यं यदात्यन्तिकमेष पुंसां । स्वार्थो न भोगः परिभंगुरात्मा ।।
तृषोऽनुषंगान्न च तापशान्ति—रितीव माख्यद्भगवान् सुपार्श्वः ।।१।।

—समन्तभद्राचार्य

'यह जो आत्यन्तिक स्वास्थ्य है—वह विभाव परिणति से रहित अपने अनन्तज्ञानादिमय स्वात्म-स्वरूप में अविनश्वरी स्थिति है—वही पुरुषों का—जीवात्मा का—सच्चा स्वार्थ है—निजी प्रयोजन है, क्षणभंगुर भोग—इन्द्रिय-विषय—सुख का अनुभव—स्वार्थ नहीं है; क्योंकि इन्द्रिय-विषय-सुख के सेवन से उत्तरोत्तर तृष्णा की—भोगाकांक्षा की—वृद्धि होती है और उनसे ताप की—शारीरिक तथा मानसिक दुःख की—शान्ति नहीं होने पाती। यह स्वार्थ और अस्वार्थ का स्वरूप शोभनपार्श्वों—सुन्दर शरीराङ्गों के धारक (और इसलिए अन्वर्थ-संज्ञक) भगवान सुपार्श्व ने बतलाया है।

भावार्थ—इस पद्य में आचार्य समन्तभद्र ने सातवें तीर्थङ्कर सुपार्श्वनाथ का स्तवन करते हुए स्वार्थ और अस्वार्थ का जो स्वरूप निर्दिष्ट किया है, वह महत्त्वपूर्ण है। ज्ञानी जीवों का स्वार्थ स्वात्मोपलब्धि की प्राप्ति है। वे उसी की सम्प्राप्ति का निरन्तर प्रयास करते हैं। क्षणभंगुर इन्द्रिय-विषयों की ओर उनका झुकाव नहीं होता, क्योंकि वे सन्ताप बढ़ाने वाले हैं, शान्ति के घातक हैं, अतएव वह ज्ञानी जनों का अस्वार्थ है। भगवान सुपार्श्व ने उसी सम्यक् स्वार्थ को प्राप्त किया, और जगत को उसी की सम्प्राप्ति का मार्ग बतलाया है।

—:०:—

पं० टोडरमल स्मारक ट्रस्ट–डीड–संशोधन-प्रसंग

पाठकों को स्मरण हो कि वीर सेवा मन्दिर सोसायटी ने पं० टोडरमल स्मारक के ट्रस्ट डीड में संशोधन कराने हेतु एक अपील प्रकाशित की थी। उस पर पाठकों ने अपनी सहमति देकर उसका आदर किया। हम पाठकों के सहयोग के लिए आभारी है। पाठकों की जानकारी के लिए संक्षिप्त-विवरण निम्न प्रकार है :—

वीर सेवा मन्दिर द्वारा अपील–

आज जहाँ एक ओर मूल आगमों के सार्वजनिक शब्द रूपों में मनमाना बदलाव किया जा रहा है वहीं दूसरी ओर दिगम्बर जैन धर्म को कानजी स्वामी द्वारा प्रतिपादित घोषित किया जा रहा है। पंडित टोडरमल स्मारक, बापू नगर, जयपुर के ट्रस्ट डीड सन् १९६४ के अनुसार तीर्थंकरों द्वारा प्रतिपादित दिगम्बर जैन धर्म को कानजी स्वामी द्वारा प्रतिपादित वीतराग दिगम्बर जैन धर्म बताया जा रहा है। यह कैसी विडम्बना है? ट्रस्ट डीड के आपत्तिजनक अनुच्छेद नीचे दिए जा रहे है :—

Para–5

OBJECT OF THE TRUST SHALL BE :

To propagate "the tenets of Vitrag Digamber Jain Religion as propounded by "Parampujya Sadgurudav Shri Kanji Swami" (here in after refered to as 'Digamber Jain Religion" for the sake of brevity but it shall always mean religion as propounded by parampujya Sadgurdev Shri Kanji Swami) in general and to carry out any activity in any manner for the purpose."

Para No. 28

Any person who is following the tenets of the Digamber Jain Religion as propounded by Parampujya Shri Kanji Swamy will be at liberty to attend and to worship in the temple at such time or times of the day as may be prescribed by the Trustees"

हिन्दी अनुवाद

ट्रस्ट के उद्देश्य होंगे

"अनुच्छेद–५

साधारणतया परमपूज्य सदगुरुदेव श्री कानजी स्वामी द्वारा प्रतिपादित वीतराग दिगम्बर जैन धर्म के तत्वों का प्रचार-प्रसार करना तथा इस उद्देश्य की पूर्ति के लिए किसी भी गतिविधि को चलाना। वीतराग दिगम्बर जैन धर्म को ही संक्षेप की दृष्टि से आगे दिगम्बर जैन धर्म कहा गया है, किन्तु इसमे सदैव परमपूज्य सद्गुरुदेव श्री कान जी स्वामी द्वारा प्रतिपादित धर्म ही अभिप्रेत होगा :"

"अनुच्छेद २८

प्रत्येक व्यक्ति जो परमपूज्य कानजी स्वामी द्वारा प्रतिपादित जैन धर्म के सिद्धान्तो का अनुयायी है, इस बात के लिए स्वतन्त्र होगा कि वह दिन के ऐसे समय या समयो पर जो न्यासियों द्वारा निश्चित किए जाएँ, मन्दिर में जाएँ और उपासना करें।"

वीर सेवा मन्दिर को पंडित टोडरमल स्मारक के ट्रस्ट की फोटो प्रति प्राप्त होने पर संस्था की कार्यकारिणी ने अपनी बैठक १३ मई १९८८ मे निर्णय लिया है कि पं० टोडरमल स्मारक ट्रस्ट के डीड की उक्त धारायें जैन

आगम के प्रतिकूल है। इस सम्बन्ध में उक्त ट्रस्ट से अनुरोध किया जाय कि वह उक्त धाराओं को अपने ट्रस्ट डीड से निकाल दें क्योंकि तीर्थंकरों का स्थाम अन्य कोई भी व्यक्ति नही ले सकता।

आशा है आप कार्यकारिणी के उक्त निर्णय से सहमत होगे इसलिए आप भी व्यक्तिगत रूप से अथवा दिगम्बर जैन संस्थाओं की ओर से पंडित टोडरमल स्मारक ट्रस्ट, बापू नगर, जयपुर को उक्त धाराओं को हटाने के लिए पूरे प्रयत्न करें। कहीं ऐसा न हो कि दिगम्बर जैन समाज की उदासीनता के कारण भविष्य मे तीर्थंकरों द्वारा प्रतिपादित धर्म कानजी स्वामी द्वारा प्रतिपादित धर्म बन कर न रह जाय। इस सम्बन्ध मे आप अपनी प्रतिक्रिया से हमें अवश्य अवगत कराने का कष्ट करें। धर्म की रक्षार्थ आपका सहयोग अपेक्षित है।

सधन्यवाद !

भवदीय :
सुभाष जैन
(महासचिव)

समाज द्वारा समर्थन—

पण्डित टोडरमल स्मारक जयपुर—ट्रस्ट डीड मे कान जी भाई के द्वारा दि० जैन धर्म को प्रतिपादित किया गया है, वह अत्यन्त घोर निन्दनीय है। —**मल्लिनाथ शास्त्री, मद्रास**

आपने प० टोडरमल स्मारक ट्रस्ट-डीड के अनुसार जो अनुच्छेद ५ व २८ की व्याख्या की है वह अनुकरणीय है। परन्तु समाज के श्रीमन्त लोग जयपुर के ट्रस्ट की ओर झुक रहे है और श्री कानजी स्वामी का संदेश फैला रहे है। हमे सबसे पहिले उन्हें ही इस ओर आकर्षित करना चाहिए। —**जीवन लाल बहेरिया वाले**

मैंने भी ट्रस्ट डीड सन् १९६४ के पैरा न० ५ और २८ की नकलें आपने भेजी, उनकी भाषा पर खूब ऊहापोह किया है और इस नतीजे पर पहुंचा हू कि ट्रस्ट डीड के अनुसार सद्‌गुरु देव कानजी स्वामी द्वारा प्रतिपादित वीतराग दिगम्बर जैन धर्म एक स्वतन्त्र धर्म है। अतः आपकी आपत्ति उचित है। —**विरधी लाल सेठी**

श्री टोडरमल स्मारक नियमावली मे भगवान महावीर को, या उनकी परम्परा के किसी आचार्य को नही मानते हुए 'परमपूज्य सद्‌गुरुदेव श्री कान जी स्वामी को ही जैन धर्म का प्रतिपादक कहा गया है। समाज को धोखे में डालने वाले ऐसे प्रयासो का पर्दाफाश किया जाना चाहिए और उनसे अपेक्षा की जानी चाहिए—अपना हठाग्रह छोड़ कर अपने डीड में परिवर्तन करके दिगम्बरत्व की मूलधारा मे बने रहने का प्रयास करें। —**नीरज जैन, सतना**

वीर सेवा मन्दिर कार्यकारिणी के निर्णय हेतु हार्दिक बधाई। डीड ने अनुच्छेद ५ व २८ को तुरन्त हटावें तभी टोडरमल ट्रस्ट अथवा कान जी स्वामी के अनुयायी दिगम्बर जैन धर्म की धारा में आ सकेगे। यह एक यथोचित बात है। —**जिनेन्द्रप्रकाश जैनी, मेरठ शहर**

आपने जो Printed Letter about कानजी डीड निकाला है वह बहुत मुद्दे की बात है और जयपुर वालो को इसे स्वीकार कर सत्यपथ का समर्थन करना चाहिए। —**कैलाशचन्द जैन, डिप्टीगंज**

भारतवर्षीय दिगम्बर जैन परिषद का निर्णय :

"पं० टोडरमल स्मारक, बापूनगर, जयपुर के अनुयायियों को हम दि० जैन धर्म और दि० जैन समाज का अंग मानते हैं। किन्तु उक्त स्मारक के ट्रस्ट डीड की धाराएं ५, २८ दि० जैन के सर्वथा विपरीत है क्योकि वीतराग दि० जैन धर्म का प्रतिपादन कानजी स्वामी के द्वारा नही हुआ है, अपितु दि० जैन धर्म अनादि से तीर्थंकरों द्वारा प्रणीत चला आ रहा है। अतः प० टोडरमल स्मारक के ट्रस्टीज विद्वानो से यह बैठक पुरजोर अपील करती है कि वह अपनी ट्रस्ट डीड की उक्त धाराओं में आगमानुकूल संशोधन करें।"

साहू श्री श्रेयांस प्रसाद जी, अध्यक्ष दि० जैन महासमिति की मनोव्यथा :

"पं० टोडरमल स्मारक ट्रस्ट के ट्रस्ट डीड में कुछ ऐसे आपत्तिजनक मुद्दे हैं, जिनको संशोधित करने की आवश्यकता है। मेरा संस्था के पदाधिकारियों से निवेदन है कि वे उसमे सुधार करें ताकि समाज में शान्ति का वातावरण बन सके।"

हम निवेदन कर दें कि वीर सेवा मन्दिर की इस प्रक्रिया के फलस्वरूप हमें टोडरमल स्मारक ट्रस्ट जयपुर के महामंत्री द्वारा एक पत्र प्राप्त हुआ है कि वे ट्रस्ट डीड का पैरा ५ एव २८ परिवर्धित कर रहे हैं। पाठकों की जानकारी के लिए उनके पत्र के आवश्यक अंश नीचे दिये जा रहे हैं। ताकि वे इनके औचित्य-अनौचित्य पर विचार कर सकें। साथ ही हमने जो उनसे पुनः आग्रह किया है, वह भी हम इसी अंक में छाप रहे हैं।

पं० टोडरमल स्मारक ट्रस्ट, जयपुर से प्राप्त पत्र के अंश :

"वर्तमान भ्रमित वातावरण को देखते हुए दिगम्बर जैन महासमिति, दिगम्बर जैन परिषद, भारतवर्षीय दि० जैन तीर्थ क्षेत्र कमेटी, वीर सेवा मन्दिर आदि प्रतिष्ठित एव ट्रस्ट की हितैषी संस्थाओं ने हमें अनुरोध किया एवं हमे परामर्श दिया कि समाज के वातावरण को ठीक करने के लिए ट्रस्टडील में आवश्यक स्पष्टीकरण देना चाहिए। उन सबकी भावनाओं का आदर करते हुए एवं आदरणीय साहू श्री श्रेयांस प्रसाद जी एवं आदरणीय साहू श्री अशोक-कुमार जी व श्री बाबूलाल जी पाटोदी आदि महानुभावो के अनुरोध का सम्मान करते हुए ट्रस्ट ने अपने ट्रस्टडीड मे निम्नानुसार स्पष्टीकरण के रूप मे परिवर्धन करने का निर्णय लिया है जिसकी आवश्यक कार्यवाही की जा रही है।

ट्रस्ट डीड का पैरा न० ५ एव २८ को इस प्रकार परिवर्धित किया गया है :—

5/Objects of the trust :

The objects of the trust shall be as follows :—(1) To propogate "The tenets of Vitrag Digambar Jain Religion, as preached by our parampujya Tirthankar from Bhagwan Rishabh-dev to Bhagwan Mahavir and as explained by our Pujya Acharyas like Acharya Shri Bhut-bali, Pushpdant,Kund Kund, Umaswami and Samantbhadra etc and furthe explained in simple language by Pandit Shri Banarsidasji, Todarmalji, Daulatramji, Jaichandji and Shri KanjiSwami" (hereinafter referred to as 'Digamber Jain Religion' for the sake of brevity) in manner for the purpose.

28/Right of Worship :

Any person who is following the tenets of the Vitrag Digamber Jain Religion shall be at liberty to attend and to worship the deities in the temples belonging to the Trust at Jaipur (Rajasthan) according to Shuddh (Tarapanth) Amnaya at such time or times of the day as may be prescribed by the Trustees but no person shall be entitled to reside in the temple or its premises without the previous permission in writing of the Chairman or any other person appointed by the Trustees in this behalf, provided always that it shall be lawful for the Chairman or any other persons authorised in this behalf by the Trustees to remove or cause to be removed from the temple and its precincts any devotees or other such person

residing there or who may conduct himself or herself in a disorderly or objectionable manner or may contravene the religious discipline of the temple.

हमें आशा ही नहीं पूर्ण विश्वास भी है कि शान्तिप्रिय एवं प्रबुद्ध समाज को इससे पूर्ण सन्तोष एवं समाधान होगा।"

निवेदक :

नेमीचन्द पाटनी महामंत्री,

पं० टोडरमल स्मारक ट्रस्ट ए-४, बापूनगर, जयपुर-१५

वीर सेवा मन्दिर का पत्र :

श्री नेमिचन्द पाटनी, महामन्त्री,

पं० टोडरमल स्मारक ट्रस्ट, ए-४, बापूनगर, जयपुर-१५

प्रिय महोदय !

पं० टोडरमल स्मारक ट्रस्ट की डीड के सम्बन्ध में अत्यन्त आवश्यक स्पष्टीकरण शीर्षक से आपका परिपत्र मिला। वीर सेवा मन्दिर आपका आभारी है कि आपने समाज की भावना को समझा और डीड में परिवर्तन करने के लिए निर्णय लिया। आपने जिस प्रकार से शब्दों का अर्थ किया है उसी प्रकार वीर सेवा मन्दिर की कार्यकारिणी द्वारा भी यही अर्थ समझ कर निर्णय लिया गया था। कार्यकारिणी आपके इस विचार से सहमत है कि दिगम्बर जैन धर्म अनादिकाल से तीर्थंकरों द्वारा उपदिष्ट धर्म है। अतः ट्रस्ट डीड की धारा ५(१) में इतना लिखना ही पर्याप्त होगा :

५(१) परमपूज्य तीर्थंकरों द्वारा उपदिष्ट दिगम्बर जैन धर्म के सिद्धान्तों का प्रचार प्रसार करना।

स्वाभाविक है कि मूल उद्देश्य की पूर्तिके लिए इसी अनुच्छेद के दूसरे और नवें पैरे में तदनुसार बदलाव आवश्यक है।

५(२) और इस उद्देश्य की पूर्ति के लिए मन्दिर अथवा स्वाध्याय भवन निर्माण कराना, बनवाना-चिनवाना अथवा इस उद्देश्य की पूर्ति हेतु मदद करना अथवा मरम्मत के लिए मदद करना अथवा वर्तमान मन्दिरों, स्वाध्याय भवनों की देख-रेख करना।

५(६) दिगम्बर जैन धर्म के सिद्धान्तों को विभिन्न साधनों से प्रकाशित कराना एवं उन्हें वितरित कराना जिसमें उन्हें टेप पर रिकार्ड कराना और बजाना और इस प्रकार के टेपों को वितरित कराना और बजवाना भी सम्मिलित है।

हमारी पहचान दिगम्बर जैन धर्म के नाम से ही प्रचलित है। दिगम्बर से पहले वीतराग शब्द जोड़ने से यह भ्रान्ति होती है कि वीतराग दिगम्बर जैन धर्म एव दिगम्बर जैन धर्म दोनों अलग-अलग हैं। अतः केवल दिगम्बर जैन धर्म लिखना ही उपयुक्त होगा। ऐसा करने से उक्त धारा ५(१) मे धर्म का स्पष्टीकरण स्वयमेव ही हो जाता है और इसमें किसी प्रकार के भ्रम की गुंजाइश नहीं रह जाती।

दिगम्बर जैन धर्म में देव-शास्त्र गुरु को ही आधार माना गया है। अतः ट्रस्ट डीड के अनुच्छेद २८ में आपने जो प्रस्ताव दिया है कि बिना आज्ञा के मन्दिर में कोई नही रह सकता, इसमें केवल यह बढ़ाना अनिवार्य होगा कि दिगम्बर जैन त्यागियों एवं मुनियों पर यह प्रतिबंध लागू नहीं होगा।

यह कार्यकारिणी महसूस करती है कि उक्त सुधार होने के बाद समाज में किसी प्रकार के भ्रम की गुंजाइश नहीं रहेगी और समाज की एकता को एक दृढ़ आधार मिलेगा।

कृपया कार्यकारिणी के उक्त सुझाओं को सम्बन्धित अनुच्छेदों में सुधार कर सुधरे हुए डीड की प्रति शीघ्र भेजें ताकि समाज में एक अरसे से ट्रस्ट के प्रति चली आ रही भ्रान्ति एक दम दूर हो जाए।

(सुभाष जैन)

महासचिव

दिगम्बर आगम रक्षा-प्रसंग

वीर सेवा मन्दिर को प्राप्त कुछ पत्र

(१)

अकलंक जैसे महान आचार्यों ने तत्त्वार्थसूत्र की टीका करते हुए एक-एक अक्षर और मात्रा पर विचार करके यह साबित किया है कि इस सूत्र मे यह मात्रा होनी जरूरी है। एक-एक मात्रा पर विचार किया और पूर्वाचार्यों की रचना को प्रामाणिक साबित किया।

पण्डितवर टोडरमल जी ने गोम्मटसार की टीका करते हुए जगह-जगह पर यह लिखा है कि—'इसका अर्थ हमारी समझ मे खुलासा नही हुआ है।" परन्तु मूल ग्रन्थो को बदली करने का काम तो आज तक किसी ने नहीं किया, जो आज हो रहा है। क्या कुन्दकुन्द भारती की स्थापना इन्हीं कामों के लिए की गई है—जो विद्वान और समाज ऐसे कार्यों मे सहयोग दे रहे है, उनको सोचना चाहिए। पैसा ही सब कुछ नही है। अतः वीर सेवा मन्दिर को आगे आना चाहिए और आगम की रक्षा करना चाहिए।

जिनागम की प्रमाणता इसी बात पर रही है कि आचार्यों ने अपनी तरफ से कुछ नही कहा, जो गुरु-परम्परा से मिला उसी का वर्णन किया है।

षट्खण्डागम की रचना आचार्य पुष्पदन्त भूतबली ने की उसकी टीका महान् समर्थ आचार्य श्री वीरसेन स्वामी ने की। उन्होने भी कही किसी विषय मे मतभेद मिला तो यही लिखा है कि हमें तो दोनो ही बात प्रमाण हैं; परन्तु किसी विषय मे फेर-फार नही किया।

'संजद' शब्द को लेकर इस काल मे महान् आचार्य शान्तिसागर जी के समय मे विवाद चला और एक शब्द को बदली करने पर समस्त समाज ने विरोध किया।

इसी प्रकार क्षीरसागर नाम के मुनि ने तत्त्वार्थसूत्र और धवलादि मे गलती निकालने की कोशिश की। समाज ने उनका बहिष्कार कर दिया कि इनको मुनि न माना जाय।

जो प्राचीन आचार्यों की बनाई हुई गाथा है, उसमे चाहे मात्रा ज्यादा कम हो, अथवा शौरसेनी हो, चाहे अन्य प्राकृत हो, किसी को कलम चलाने का कोई हक नही है। ग्रन्थ की भाषा शुद्ध है। अगर हमने किसी बहाने भी कलम चलानी चालू कर दी तो कलम चलती ही चलेगी और मूल ग्रन्थों का लोप हो जायगा। किसी को कुछ भी लिखना है वह अलग से लिखे, मूल गाथाओं को बदली करना सरासर आगम की हत्या करना है।

अभी कुछ वर्षों से भगवान कुन्दकुन्द स्वामी के ग्रन्थों की गाथाओ में कही अक्षर बदले जा रहे हैं, कहीं मात्रा बदली जा रही हैं और समाज चुप बैठा है। ऐसा लगता है समाज मूच्छित हो गई है उसको जगाना जरूरी है। यह काम वीर सेवा मन्दिर को उठाना चाहिए, जिससे कोई ऐसा दुस्साहस न करे। आगम की रक्षा करना जरूरी है। किसी व्यक्ति विशेष की, आगम की रक्षा के सामने कोई कीमत नही है। अतः वीर सेवा मन्दिर की तरफ से इसका समुचित विरोध होना जरूरी है।

श्री बाबूलाल जैन, वक्ता

(२)

मेरा अभिप्राय

अनेकान्त (वर्ष ४१, कि० १) देखने को मिला। मान्य पं० पद्मचन्द जी शास्त्री इस काल में स्व० मुख्तार सा० का स्थान ले रहे है। ऐसा उनके कार्यों और इस अंक के लेखों से मालूम पड़ता है।

ग्रन्थों के सम्पादन और अनुवाद का मुझे विशाल अनुभव है। नियम यह है कि जिस ग्रन्थ का सम्पादन किया जाता है उसकी जितनी सम्भव हों उतनी प्राचीन प्रतियां प्राप्त की जाती हैं। उनमें से अध्ययन करके एक प्रति को

आदर्श प्रति बनाया जाता है। दूसरी प्रतियों में यदि कोई पाठभेद मिलते हैं तो उन्हें पाद टिप्पण में दिया जाता है। यह एक सर्वमान्य नियम है।

जो विद्वान इस पद्धति का अनुसरण करता है वह सिद्धान्त रक्षा मे सफल माना जाता है। जो इस नियम का उल्लंघन करता है, उसकी समाज में भले ही पूछ हो, सिद्धान्त रक्षा में उसकी कोई कीमत नहीं की जा सकती।

सामान्य से नय दो प्रकार के हैं, भेद की अपेक्षा वे सात प्रकार के हैं और अनेक प्रकार के है। देखा जाता है कि किस नय से कहाँ क्या लिखा गया है। उस नय से स्पष्टीकरण करने मे कोई बाधा नहीं। उसे अस्वीकार करना यही जिनमार्ग को तिलांजलि देना है।

जब षट्खण्डागम धवला जी की प्रथम पुस्तक का सम्पादन हो रहा था उस समय मैं और स्व० श्री पं० हीरालाल जी शास्त्री अमरावती से उस भाग के सम्पादन, अनुवाद मे लगे हुए थे। सम्पादन करते हुए सत्प्ररूपणा में ९३ सूत्र में यह अनुभव हुआ कि इसमे 'संजद' पद छूटा हुआ है। यह बात डा० हीरालाल जी के ध्यान मे लाई गई परन्तु समस्या का हल न देख कर पाद टिप्पण मे यह लिखना पड़ा कि 'अत्र सयतपदः त्रुटितः प्रतिभाति'।

इसका जो फल हुआ वह समाज के सामने है। इसलिए मैं सोचता हूं कि जो ग्रन्थ हस्तलिखित प्रतियों में जैसा प्राप्त हो, उसको आधार मानकर उसे वैसा मुद्रित कर देना चाहिए। हमको यह अधिकार नही है कि हम उसमें हेर-फ़ेर करें। आप अपने विचार लिख सकते हैं या पाद टिप्पण मे अपना सुझाव दे सकते है। मूल ग्रन्थ बदलवाने का आपको अधिकार नहीं है। इसी तथ्य की ओर मान्य प० जी का समाज के सामने ध्यान आकर्षित करने का प्रयत्न है। उससे आम्नाय की मर्यादा बनाने मे सहायता मिलती है और मूल आगमों की सुरक्षा बनी रहती है।

वेदो के समान मूल आगम प्राचीन है। वे व्याकरण के नियमों से बधे नही हैं। व्याकरण के नियम बाद मे उन ग्रन्थों के आधार पर बनाये जाते है। फिर भी कुछ अश मे कमी रह जाती है, इसलिए व्याकरण के आधार पर संशोधन करना योग्य नही। जो जैसा पाठ मिले वह रहना चाहिए। मान्य पं० जी का इसी तथ्य की ओर ध्यान आकर्षित करने का छोटा-सा प्रयत्न है, उसका सबको और स्वय किसी भी ग्रन्थ सम्पादक को स्वागत करना चाहिए। विज्ञेषु किमधिकम्। —पं० फूलचन्द सिद्धान्त शास्त्री

बनारस वाले हस्तिनापुर

(३)

जनवरी-मार्च ८८ का 'अनेकान्त' त्रैमासिक पत्र मिला। उसमे आपका एक लेख "आगम के मूलरूपों में फेर-बदल घातक है" शीर्षक पढने को मिला। उसमें आपने जो कुछ लिखा है वह बहुत उचित और युक्तियुत लिखा है। यह समय कलियुग के नाम से विख्यात है, इस कलियुग के प्रभाव से ही मनुष्य की बुद्धि सुधार और सशोधन के नाम पर बिगाड और विनाश की ओर जा रही है। यही कारण है कि आज लोग आगम ग्रन्थो की भाषा के सुधार में लगे हुए है।

परमपूज्य आचार्य कुन्दकुन्द जैन भारती के रचयिता आचार्यो में अपनी प्रधानता रखते हैं। बारह वर्ष के दुर्भिक्ष के बाद जैनधर्म और जैन साधुओं में जो विकृतियां आई थी उस समय जैन धर्म अनेक सघों में बिखर गया था और अपनी-अपनी बुद्धि तथा सुविधा के अनुसार उन्होंने अपने-अपने पृथक संघ बना लिए। उस समय चतुर्थ काल से चले आये मूल सघ की सुरक्षा आचार्य कुन्दकुन्द ने ही की थी। नीतिसार समुच्चय ग्रन्थ में आचार्य इन्दनन्दि ने लिखा है :—

भरते पञ्चमे काले नानासङ्घ समा समाकुलम्। वीरस्य शासनं जातं विचित्रा काल शक्तयः ॥२॥

अर्थ—भरत क्षेत्र में पञ्चम काल में भगवान महावीर का शासन अनेक संघों में बट गया। काल शक्तियां भी बड़ी विचित्र होती हैं।

अलग-अलग बँट जाने वाले संघों के नाम उन्होंने इस प्रकार दिए हैं :—

गो पुच्छिका श्वेतवासा द्राविड़ो यापनायकः । निः पिच्छश्च पञ्चैते जैनाभासा प्रकीर्तिताः ॥१॥

१ गोपुच्छक संघ, २ श्वेताम्बर संघ, ३ द्राविड़ संघ, ४ यापनीय संघ, ५ नि.पिच्छ संघ ।

इन पांचों संघों को आचार्य ने जैनाभास बताया है परन्तु आचार्य कुन्दकुन्द ने अपने मूल जैनधर्म की रक्षा की और उस रक्षा की वजह से उनके संघ का नाम मूलसंघ रक्खा गया । आचार्य कुन्दकुन्द ने गिरनार आदि तीर्थ क्षेत्रों पर संशय मत आदि विभिन्न मतो से शास्त्रार्थ किया एवं मूल जैन धर्म की रक्षा की । जिनका नाम मंगल करने वालों (महावीर, गौतम, कुन्दकुन्द) मे तीसरे नम्बर पर आता है । क्या उनसे यह आशा की जा सकती है कि उनकी भारती में अनेक भाषा या शब्दों की अशुद्धि है ।

आचार्य कुन्दकुन्द के सभी ग्रन्थ प्रायः प्राकृत भाषा में हैं । प्राकृत भाषा का अर्थ है कुदरती भाषा । बहुत प्राचीन काल में जिस देश मे जो भाषा बोली जाती थी वह उस देश की प्राकृत भाषा थी । एक प्राकृत भाषी देश वाला यदि दूसरे प्राकृत भाषी देश में रहने लगे तो वह उस देश की प्राकृत भाषा सीख लेगा और बोलने लिखने में दोनों भाषाओं का सम्मिलित प्रयोग कर सकता है । आज भी हम देखते हैं कि हम हिन्दी भाषा के साथ कभी-कभी उर्दू एवं अंग्रेजी भाषा का भी प्रयोग करते हैं । दोनों भाषाओं के मिश्रित प्रयोग में हम उर्दू भाषा के प्रयोग को गलत बता देवें तो यह कहा की बुद्धिमानी है । उदाहरण के लिए एक व्यक्ति भाषण करते हुए कह रहा है कि "आज का इंसान कितना बदल गया है" सुनने वाला कहता है यह गलत क्यों बोलता जा रहा है, सही बोलना चाहिए । "आज का युगीन पुरुष कितना बदल गया है ।" भाषाओं का मिश्रण हो सकता है पर उसका अभिप्राय गलत नही होना चाहिए ।

शौरसेनी भाषा मथुरा एवं उसके आसपास के क्षेत्रों की भाषा है । कुन्दकुन्द मथुरा प्रदेश के रहने वाले नहीं थे, उनका विहार उत्तर दक्षिण सभी ओर था । अतः उन्हें अपने देश की प्राकृत भाषा के साथ अन्य देश की भी प्राकृत भाषा का ज्ञान था ।

भगवान महावीर की दिव्य ध्वनि विपुलाचल पर्वत पर खिरी थी । विपुलाचल पर्वत मगध देश में है । अतः भगवान की भाषा को कहा जाता है वह अर्द्धमागधी भाषा थी । इस अर्द्धमागधी भाषा का अर्थ ग्रन्थकारों ने किया है कि आधी भाषा मगध देश की और आधी भाषा अन्य देशों की थी । क्योंकि समवशरण में दिव्यध्वनि सुनने वालों में आधी संख्या तो मगध देश के लोगों की थी तथा आधी सख्या अन्य सब देशों के लोगों की थी । इसका अभिप्राय यह है वास्तव में भगवान की वाणी सभी देशों की वाणी थी, परन्तु अधिक सख्या की अपेक्षा उसे अर्धमागधी कहा गया है । व्याकरण शास्त्रो मे प्राकृत भाषा के मुख्य पांच भेद किये है, ये सभी भाषाएँ अपनी-अपनी जगह ठीक हैं । यदि इनमे कही शब्दो का मिश्रण आता है तो ठीक है कोई हानि नही है । लेकिन अगर हम उसके शब्दों कों बदल देते हैं तो ऐतिहासिक दृष्टि से यह बहुत अनुचित है और जिन्होने उन शब्दों का प्रयोग किया उन शब्दों को बदल कर हम उनका अनादर कर रहे हैं ।

आज हिन्दी पूजा, पाठ, स्तुतियों की भाषाओं का बहुत कुछ मिश्रण है, फिर तो हमे उस मिश्रण को हटा कर अपना शुद्ध शब्द रख देना चाहिए ।

हम हिन्दी का मंगल पाठ बोलते हैं उसमें ऐरावत हाथी के लिए रूपचन्द जी ने लिखा है :—

'जोजन लाख गयंद बदन सौ निरमये ।

इसकी जगह अगर हम इसका निम्न प्रकार सुधार कर दें तो बुरा है; जैसे—

"योजन लाख गजेन्द्र वदन शत निरमयं" क्या इस सुधार को ठीक मान लिया जायगा । यदि ठीक मान लिए तो हिन्दी में भी ऐसे सैकड़ों हजारों छन्दों की भाषाएँ हैं जो दूसरे शब्दों मे उसी अभिप्राय की हैं, बदली जा सकती है तथा णमोकार मंत्र की प्राकृत भाषा भी बदली जा सकती है फिर वह अनादि मूल मंत्र नहीं रहेगा । मंत्र की

प्रशंसा में एक श्लोक है :— एसो पंच णमोयारो सव्व पावप्पणासणो।
मंगलाणं च सव्वेसिं पढम होइ मङ्गल।।

यही प्रशंसा श्वेताम्बर धर्म के शास्त्रों मे इस प्रकार की गई है—
एसो पच णमोक्कारो सव्व पावप्पणासणं।
मंगलाणं च सव्वेसिं पढमं हवइ मंगलं॥

इन श्लोकों को देखकर दिगम्बर लोग भी अपने णमोकार मंत्र में 'णमोयारो' शब्द की जगह णमोक्कारो और 'होइ' की जगह 'हवइ' कर ले तो दिगम्बर समाज को कोई एतराज नही होना चाहिए क्योंकि अर्थ तो दोनों के समान हैं पर शब्दों का प्रयोग भिन्न-भिन्न है। लेकिन कोई भी दिगम्बर यह मानने को तैयार नहीं है कि अपने णमोकार मंत्र के शब्द बदल देना चाहिए। क्योंकि इससे हमारे दिगम्बर धर्म के इतिहास पर चोट लगती है।

बदलने के लिए आचार्य कुन्दकुन्द के समयसार में भी बहुत-सी गाथाओं को बदला जा सकता है। उदाहरण के लिए समयसार का मंगलाचरण लीजिए। मंगलाचरण की गाथा इस प्रकार है :—

"वदित्तु सव्व सिद्धे धुवमचल मणोवमं गईं पत्ते वोच्छामि समयपाहुड **भिणमो** सुयकेवली भणियं।" इसमें **भिणमो** शब्द को बदल कर यो गाथा को सुधारना चाहिए—"वंदित्तु सव्व सिद्धे धुवमचलमणोवमं गइं पत्ते वोच्छामि समयपाहुण **केवलि** सुयकेवली भणिय।"

अर्थात् 'भिणमो' की जगह केवली शब्द होना चाहिए क्योंकि धर्म का मूल उपदेश तो अर्हंत केवली का है न कि श्रुत केवली का है।

क्या विद्वान् लोग इस परिवर्तन को स्वीकार करेंगे ? क्योंकि मूल गाथा में यह लिखा है श्रुतकेवली द्वारा कहे हुए समयसार को कहूंगा। जबकि वास्तविकता यह है कि श्रुतकेवली ने भी अरहंत की वाणी सुनकर ही तो सब कहा है। लेकिन आचार्य कुन्दकुन्द का अपना अभिप्राय ही दूसरा है। अतः उन्होने केवली शब्द का प्रयोग नही किया, इसलिए मात्र बोलने की भाषा के आधार पर शब्दो को अशुद्ध नही समझना चाहिए। हां अगर उन शब्दो में कोई भाषा की अशुद्धि हो तो हमे उसी भाषा के व्याकरण के अनुसार शब्द शुद्ध करदेना चाहिए। जैसे अगर सौरसेनी भाषा में कोई मागधी प्राकृत भाषा का शब्द प्रयुक्त किया गया है तो हमेमागधी भाषा के ही व्याकरणानुसार उसे ठीक कर देना चाहिए। हिन्दी भाषा मे तो कविता पर के अक्षर और मात्राओं की मर्यादा को लेकर अशुद्ध शब्द भी रखने पड़ते हैं। जैसे आठ को अठ, दृष्टि को दिठ, गोस्वामी को गुसाईं। अतः ग्रन्थकर्ता और रचना, रचनाकाल, परिस्थिति आदि सभी बातो को ध्यान रखना चाहिए। भाषाओं मे सस्कृत भाषा ही एक ऐसी है जो सभी क्षेत्रो में एक जैसी है। क्योंकि उस भाषा का सस्कार किया गया है। संस्कार करने से ही उसे संस्कृत कहा गया है। प्राकृत भाषा संस्कृत से प्राचीन है विभिन्न देशों मे उस प्राचीन भाषा की विभिन्न स्थिति देखकर उस भाषा मे सस्कार किया गया तो वह संस्कृत हो गई। हमारे प्राचीन आगम ग्रन्थ प्राकृत भाषा में ही है तथा अर्वाचीन संस्कृत में है।

आपने अनेकान्त मे आगम के मूल रूप को लेकर जो कुछ लिखा है वह बहुत अच्छा। हमे कुन्दकुन्द भारती को बदलने से बचाना चाहिए। अन्यथा लोग आगम ग्रन्थ तो दूर रहे वे अनादि मूल मत्र णमोकार मत्र को भी बदल कर रख देंगे।

आपका दूसरा लेख 'क्या कुन्दकुन्द भारती बदलेगी ?' वह भी मैं पढ़ चुका हू। आगम ग्रन्थों की भाषा रक्षा में आप संलग्न हैं इसके लिए आपको धन्यवाद है।

आपका :
(पं०) लाल बहादुर शास्त्री

आर्ष-भाषा को खण्डित न किया जाय

□ श्री पद्मचन्द्र शास्त्री, नई दिल्ली

सर्व विदित है कि वेदों की भाषा आर्ष-भाषा है और उसमें संस्कृत व्याकरण के प्रचलित नियम लागू नही होते। पाणिनीय जैसे वैयाकरण को भी वेदो के मूल शब्दों की सिद्धि के लिए वेद-भाषा के अनुसार ही पृथक् से स्वर-वैदिकी प्रक्रियाओं की रचना करनी पड़ी और यास्काचार्य को वेद-विहित शब्दों की सिद्धि और अर्थ समझाने के लिए अलग से तदनुरूप निरुक्त (निघण्टु) रचना पड़ा।

वेदों की भांति दिगम्बर प्राचीन आगम भी आर्ष है और उनकी रचना व्याकरण से शताब्दियों पूर्व हुई है—उनमें पर-वर्ती व्याकरण की अपेक्षा नहीं की जा सकती। आर्ष मे प्राकृत भाषा सम्बन्धी अनेक रूप पाए जाना भी इसकी साक्षी हैं। और दिगम्बरो की आर्ष-भाषा का नाम ही जैन शौरसैनी है।

प्राकृत व्याकरण के रचयिता आचार्य हैमचन्द्र जी १२वीं शताब्दी के महान् प्रामाणिक विद्वान् थे और आर्ष का निर्माण उनसे शताब्दियो पूर्व हो चुका था और हेमचन्द्रादि ने उपलब्ध रचनाओं के आधार पर बहुत बाद मे व्याकरण की रचना की। हैमचन्द्र ने 'शब्दानुशासन' मे दो सूत्र दिए है—'आर्षम्' और 'बहुलम्'। उनका आशय है कि आर्ष प्राकृत में व्याकरण की अपेक्षा नही होती उसमे प्राकृत भाषा के सभी रूप 'बहुलम्' सूत्र के अनुसार पाए जाते हैं और बहुलम् का अर्थ—'क्वचित्प्रवृत्ति, क्वचिदप्रवृत्ति, क्वचिद्विभाषा, क्वचिदन्यदेव।'—कही नियम लागू होता है कही ला . नही होता, कही अन्य का अन्य-रूप होता है।

स्व० डा० नेमिचन्द्र, आरा ने प्राकृत को दो विभागो में विभक्त किया गया माना है। वे लिखते है—

'हैम ने प्राकृत और आर्ष-प्राकृत ये दो भेद प्राकृत के किए है। जो प्राकृत अधिक प्राचीन है उसे 'आर्ष' कहा गया है।' —आ० हैम० प्राकृत शब्दानु० पृ० १३४

इसके सिवाय त्रिविक्रम द्वारा रचित 'प्राकृत शब्दानुशासन' के Introduction मे पृ० ३२ पर लिखा है—"Trivikram also makes reference to ARSHA But he says that ARSHA and DESYA are rudha (रूढ़) forms of the language, they are quite independent; and hence, do not stand in need of grammer."इसी में पृ० १८ पर लिखा है—'The sutra 'बहुलम्' occurrings in both Trivikram and Hemchandra, which means. 'क्वचित्प्रवृत्ति. क्वचिदप्रवृत्ति. क्वचिद्विभाषा क्वचिदन्यदेव, and Hemchandra's statement 'आर्षे तु सर्वे विधयो विकल्प्यन्ते।'—आगम मे सभी विधियां विकल्प्य है।

उक्त स्थिति मे जब कि आचार्य हैमचन्द्र के 'बहुलम्' और 'आर्षम्' सूत्र हमारे समक्ष हों और हमें बोध दे रहे हो कि—आर्ष–आगमग्रन्थ सदा व्याकरण निरपेक्ष और है प्राकृत व्याकरण के नियम अन्यत्र ग्रन्थो में भी क्वचित् प्रवृत्त व क्वचित् अप्रवृत्त होते है तथा क्वचित् शब्दरूप अन्य के अन्य ही होते है। इस बात को स्पष्ट समझ लिया जाय कि आगम आर्ष है और आर्ष-भाषा बन्धनमुक्त है। और जैन शौरसेनी का यही रूप है। दि० आगमो की भाषा यही है इसमे किसी एक जातीय प्राकृत व्याकरण से सिद्ध शब्द नही होते। जब कि शौरसेनी इससे सर्वथा भिन्न और बन्धनयुक्त है। ऐसी दशा मे आर्ष को व्याकरण की दुहाई देकर उसे किसी एक जातीय व्याकरण में बांधने का प्रयत्न करना या निम्न सन्देश देना कहाँ तक उपयुक्त है? इसे पाठक विचारें।

"उपलब्ध सभी मुद्रित प्रतियों का हमने भाषा शास्त्र, प्राकृत व्याकरण और छन्द शास्त्र की दृष्टि से सूक्ष्म अवलोकन किया है। हमे ऐसा लगा कि उन प्रतियो मे परस्पर में तो अन्तर है ही, भाषा शास्त्र आदि की दृष्टि से भी

त्रुटियों की बहुलता है। अधिकांश कमियाँ जैन शौरसेनी भाषा के रूप को न समझने का परिणाम है। प्राकृत व्याकरण और छन्द शास्त्र के नियमो का ध्यान न रखने के कारण भी अनेक भूलें हुई जान पड़ती है।"
—मुन्नुडि० पृ० १२ (समयसार कुंदकुंद भारती प्रकाशन)

यदि उक्त सस्करण के प्रकाशकों, सयोजकों का आर्ष-भाषा और कथित जैन-शौरसेनी के स्वरूपो पर तनिक भी लक्ष्य रहा होता तो वे न तो उक्त बात लिखते और न ही समयसार के वर्तमानकालिक क्रिया-रूपो और अन्य शब्दरूपो में परिवर्तन कर उन्हे मात्र शौरसेनी के रूप बना देते। सयोजको का यह कैसा भयानक साहस है कि उन्होने पूरे ग्रन्थ में कही भी होइ, हवइ, हवेइ का नाम निशान नही छोडा—जब कि पूरे जैन आगमो मे उक्त रूप बहुतायत से पाए जाते है। क्या सयोजकों को इष्ट है कि धवला आदि से भी उक्त रूपो का बहिष्कार करके उनके स्थान पर सयोजकों द्वारा निर्धारित होदि, हवदि, हवेदि कर दिए जाँय और पूरे आगमो को अशुद्ध मान कर बदला जाय? णमोकार मत्र-माहात्म्य को ही लीजिए? क्या उसमे भी 'होइ या हवइ मगलं' की जगह 'होदि या हवदि मगल' कर दिया जाय? लोए को लोगे कर णमोकार मत्र के बदलने का मार्ग तो वे खोल ही चुके है। क्या, श्रद्धालु चाहते है कि—जो अब 'णमो लोए सव्वसाहूणं' है वह 'णमो लोगे सव्वसाहूणं' हो जाय—मूल मंत्र बदल जाए? यह तो मूल का घात ही होगा। हम पूछते हैं कि क्या? समयसार की गाथा ३ और ३२३ मे 'लोए' गलत था जो उसे लोगे करने की जरूरत पड़ गई। हमारी ही नही, प्राकृत व्याकरण की दृष्टि से भी लोए, लोगे और लोक के लिए लोगो, लोय, लोओ आदि सभी रूप आगमो मे प्रयुक्त हैं तब किसी जगह के परम्परित शुद्ध रूप की जगह दूसरा शब्दरूप बिठाने की क्या आवश्यकता थी? यदि संयोजक आगमो मे इसी भाति शौरसेनी की भरमार करने लगे तो 'पढम' के स्थान पर 'पधमं' होते देर न लगेगी। क्योंकि शौरसेनी मे 'थ' को 'ध' हो जाने का भी नियम है—देखें सूत्र 'थो धः'—प्राकृत सर्वस्व ३।२।४. यद्यपि शब्दानुशासन में ऐसा नही है।

यदि शौरसेनी और जैन-शौरसेनी में भेद न किया जायगा और आगमो के क्रियारूपो होदि, हवदि की भांति अन्य सभी रूप भी ठेठ शौरसेनी में किए जायँगे तो 'तम्हा के स्थान में ता[१], तहा के स्थान पर तधा[२] तुज्झ के स्थान पर ते-दे;तुम्ह[३], मज्झ के स्थान पर मे-मम[४], जहा के स्थान पर जधा[५] चेव के स्थान पर ज्जेव[६] आदि भी करने पड़ेगे—जबकि आगमों मे तम्हा, तहा तुज्झ, मज्झ, जहा और चेव आदि जैसे सभी रूप मिलते हैं।

इसी भाँति आगमो में अन्य अनेक शब्दों के विभिन्न रूपों के और भी अनेक उदाहरण देखे जा सकते हैं, जिन्हें शौरसेनी के नियमो मे बदला जा सकेगा। जैसे आगम मे 'भरत' के लिए कई जगह 'भरह' शब्द आया है, जो महाराष्ट्री का है, देखे—'भरहक्खेत्तम्मि, भरहम्मि—(ति० प० ४/१०० व ४/१०२) इसे शौरसेनी मे भरधक्खेत्तम्मि और भरधम्मि करना पड़ेगा क्योकि शौरसेनी मे त को ध होने का नियम है—'भरते धस्तस्य'—प्रा०स० ६/२५. इसी प्रकार आगम मे रत्न के लिए रयण शब्द है जो महाराष्ट्री का है—रयणप्पह, (ति०प० २/१६८); रयणमया (३/१३५), रयणत्थभा (३/१३८) यहाँ शौरसेनी के अनुसार 'य' की जगह 'द' होकर—'रदण' हो जायगा। (देखें पिशल पैरा १३१) आदि। फलतः—

हमारा कथन है कि आगमों में (समयसार में भी) सभी रूप मिलते है और जैन-शौरसेनी में सभी समाहित हैं। समयसार मे जिनरूपों को शुद्धि के नाम पर बदला गया है—जैन-शौरसेनी की दृष्टि से वे सभी ठीक थे। संशोधकों ने शौरसेनी को जैन-शौरसेनी समझ लिया यही उनका भ्रम था। हमें आश्चर्य है कि उन्होंने सभी शब्द शौरसेनी मे क्यों न किए? खैर, गनीमत है कि उनकी मुख्य दृष्टि अपने अभीष्ट शब्दों तक ही सीमित रही,

(शेष पृ० १४ पर)

१. तस्मात्ता, २. थोधः, ३. तेदे तुम्हा ङसा, ४. न मज्झ ङसा, ५. थोधः,
६. एवार्थे ज्जेव स्यात्—सभी (प्राकृत सर्वस्व)।

श्री कुन्दकुन्द का विदेह गमन

□ श्री रतनलाल कटारिया, केकड़ी

इस वक्त कुन्दकुन्द द्विसहस्राब्दि महोत्सव का प्रारम्भ है यह हमारे लिए अत्यन्त सौभाग्य की बात है। शिलालेखों (६ सौ वर्ष) टीकाओं (८ सौ वर्ष) कथा ग्रन्थों (५-६ सौ वर्ष) में आ० कुन्द कुन्द के चारण ऋद्धि होने और विदेह गमन के उल्लेख पाये जाते हैं। ये युक्ति और आगम से कहां तक ठीक हैं आज उन पर विचार किया जाता है ताकि वास्तविकता का ज्ञान हो सके :—

चारण ऋद्धिधारी मुनि तो एकल नही होते ज्यादातर युगल ही होते हैं जैसा कि सारे कथा ग्रन्थों में जहाँ भी चारण मुनियों के उल्लेख है प्राय: दो मुनिराज ही युगल रूप से विहार करते बताए गये है (देखो—मुनि सुव्रत काव्य में देशभूषण कुलभूषण (इनके जन्म, दीक्षा, कैवल्य, निर्वाण साथ-साथ हुए है) महावीर काल मे सजय विजय) क्योकि एकल बिहारी होना मुनि के लिए मूलाचार और भगवती आराधना में महान् दोषास्पद बताया है। अगर कुन्द कुन्द के चारण थी तो दूसरे साथी मुनि कौन थे? चारण ऋद्धिधारी तो सदा चारण ऋद्धिधारी मुनियों के साथ ही रहते है अन्य के साथ नही जबकि आचार्य कुन्द कुन्द के संघ मे अन्य किसी भी मुनि के चारण ऋद्धि होने की बात नहीं बताई गई है। अत: कुन्दकुन्दाचार्य को चारण ऋद्धि बताना युक्तियुक्त नही, असंगत है।

अभी डा० हुकमचन्द जी भारिल्ल कृत "आ० कुन्द कुन्द और उनके पंच परमागम" ग्रंथ जयपुर से प्रकाशित हुआ है उससे एक वर्ष पूर्व उनकी सुपुत्री का "आ० कुन्द कुन्द: एक अध्ययन" प्रकाशित हुआ है दोनों में "ज्ञान प्रबोध" की कथानुसार लिखा है :—

"सीमंधर स्वामी की समवशरण सभा में कुन्द कुन्द के पूर्व भव के दो मित्र चारण ऋद्धिधारी मुनिराजा उपस्थित थे वे आ० कुन्द कुन्द को विदेह ले गए।"

यह कथन भी युक्तियुक्त नहीं, क्योंकि ले जाने वाले क्या अपने कन्धों पर बिठाकर ले गए? आकाश मार्ग में कैसे ले गए? महाव्रती साधु न तो किसी को बैठा सकते हैं और न कोई महामुनि किसी के कन्धे पर बैठ कर कहीं जा सकता है तब कैसे ले गए? और फिर ये दोनों चारणर्षि पहुंचाने को भी आए गए क्या? १—"तिलोय पण्णत्ती" अधिकार ४ (भाग २ सम्पादिका विशुद्धमति जी) में बताया है कि—

अत्तो चारण मुणिणो, देवा विज्जाहरा य णायान्ति।

(इस पचम काल मे यहा चारण ऋद्धिधारी मुनि, देव और विद्याधर नही आते।

२—'परमात्म प्रकाश' पृ० २५६ (अ० २ दोहा १३६ की ब्रह्मदेव कृत ठीका) में लिखा है :

देवागम परीहीणे, कालेऽतिशय वर्जिते।
केवलोत्पत्ति हीनेतु, हल चक्रधरोज्झिते॥

(इस पचम काल मे यहा देवताओं का आगमन नही होता, कोई अतिशय नही होता किसी को केवलज्ञान नही होता, बलदेव चक्री आदि शलाका पुरुष नहीं होते)।

३—"पुण्याश्रव कथाकोश" पृष्ठ २२४ में लिखा है : आगच्छतो विमानस्य व्याघुटन अदय प्रभृत्यत्र सुर चारणादीनां आगमनाभावं ब्रूते॥३॥ (आते हुए विमान का लौटना यह बताता है कि—आज से यहां देव और चारण ऋषियों का आगमन नही होगा। (चन्द्रगुप्त के सोलह स्वप्नों का फल)।

४—भद्र बाहु चरित (भ० रत्ननंदि कृत १७ वीं शती) परिच्छेद २ में लिखा है :

व्याघुट्यमानं गीर्वाण विमान वीक्षितं ततः।
कालेऽस्मिन्नागमिष्यन्ति, सुर खेचर चारणाः॥३६॥

(इस विषम काल में देव, विद्याधर और चारण मुनि नही आयेंगे, यह स्वप्न में जो सम्राट् चन्द्र गुप्त ने लौटना

हुआ देव विमान देखा है उसका फल है ।)

५—भद्र बाहु चरित (किशन सिंह जी पाटणी कृत १७८३ सं०)—

जात अपूठा देव विमान, इस स्वप्ना को येह बखान ।
सुर खेचर चारण मुनि जोय, पंचमकाल न आवे कोय ॥

६—प्रति बोध चिन्तामणि (काष्ठासंघी श्री भूषण विजय सूरि १६३६ सं०) में लिखा है :—पंचम काल मे उत्पन्न पुरुष विदेह मे नही जा सकता ।

तब कुन्द कुन्द का सदेह विदेह गमन कैसे सगत हो सकता है । तटस्थ होकर विद्वानों को विचार करना चाहिए । कुन्दकुन्द को दो हजार वर्ष हो गए १२ सौ वर्ष तक तो किसी ने उनके विदेह गमन और चारण ऋद्धि को बात कही की नही उनके टीकाकार आ० अमृतचद्र ने भी इस विषय का कही कोई संकेत तक नहीं नहीं दिया । न स्वय कुन्दकुन्द ने कही कोई उल्लेख किया है । एकाएक आठ सौ वर्षों के शिला लेखों से ऐसी बातें बिना आधार के उत्कीर्ण होना आश्चर्यजनक है । उत्कीर्ण करने वालों की प्रामाणिकता का भी कोई नाम पता नही । आज तक किसी विद्वान् ने इस पर गम्भीरता से विशेष विचार ही नही किया । भारिल्ल साहिब तो महान् तार्किक प्रतिभाशाली मनीषी विद्वान् है वे कैसे गतानुगतिक बन गये ? आश्चर्य है ।

कुन्दकुन्द प्राभृत संग्रह (सन् १९६० पण्डित कैलाश चन्द जी शास्त्रीकृत) की विशाल प्रस्तावना मे (जिसका अनुसरण जयपुर के उक्त प्रकाशनो में थोड़ा बहुत है) कुन्दकुन्द के विदेह गमन और चारण ऋद्धि पर विस्तृत विचार करते हुए अन्त में लिखा है—"तथापि इन्हें अभी ऐतिहासिक तथ्य के रूप मे स्वीकार नहीं किया जा सकता, उनके लिए अभी और भी अनुसन्धान की आवश्यकता है ।" इसी से प्रेरित होकर वर्षों से मैं, श्रद्धातिरेक से कुन्दकुन्द के साथ जुड़ी ऐसी अनेक घटनाओं का युक्त्यागम पूर्वक अध्ययन कर रहा हूं उसी का परिणाम यह और आगे के लेख है । दर्शनसार गाथा ४३ मे सिर्फ यह लिखा है कि—"सीमंधर स्वामी के दिव्य ज्ञान द्वारा कुन्दकुन्द विबोध नहीं देते तो श्रमण सुमार्ग को कैसे जानते ?" वहां कहीं भी चारण ऋद्धि और विदेह गमन की बात नहीं लिखी है । क्योंकि यह सब युक्तयुक्त्यागम विरुद्ध है जैसाकि ऊपर दिए ६-प्रमाणादि से सिद्ध है । मेरे ख्याल से कुछ ऐसा हो सकता है कि—"स्वप्न में कुन्दकुन्द को सीमंधर प्रभु के दर्शन हुए हों और उनसे वे विबोध को प्राप्त हुए हो ।" धीरे-धीरे परम्परागति से यही कल्पना और जनश्रुति विदेह गमन चारण ऋद्धि के रूप मे प्रस्फुटित हुई हो ।

तत्वार्थ सूत्र के कर्ता उमा स्वामी और सर्वार्थसिद्धि टीकाकार पूज्यपाद दोनों के भी, शिलालेखादि में चारण ऋद्धि और बिदेह गमन बताए हैं । जैसे लोक में England Returned—विदेश जाकर आए हुए को विशेष महत्त्व दिया जाता है शायद उसी शैली मे इन आचार्यों के साथ विदेह-गमन की बात जोड़ी गई है । किन्तु गलत बातों से किसी का गौरव और महत्ता नही बढती । गरिमा तो सदा गुणों और प्रामाणिकता की ही होती है । मान्य तो वे ही है अन्ध श्रद्धादि नहीं । अपनो की झूठी प्रशंसा करना और दूसरो की गलत निन्दा करना दोनो मिथ्या है । भले ही विनय और कषायादि सही सोचने की हमारी शक्ति को कुण्ठित कर दें परन्तु—

सचाई छिप नही सकती बनावट के उसूलों से ।
खुशबू आ नही सकती कभी कागज के फूलों से ॥

"मूलाचार" प्रस्तावना पृष्ठ १० मे श्री जिनदास पार्श्वनाथ जी फड़कुले लिखते है—भद्रबाहु चरित में स्वप्नफल के रूप मे जो पचमकाल मे चारण ऋद्धि आदि निषेध किया है, श्री कुन्दकुन्द के विषय मे उसका समाधान यो समझना चाहिए कि—"वह सामान्य कथन है । पचम काल में ऋद्धि प्राप्ति अत्यन्त दुर्लभ है । पंचमकाल के प्रारम्भ मे ऋद्धि का अभाव नही है परन्तु आगे उसका अभाव है ऐसा समझना चाहिए । यह कथन प्रायिक व अपवाद रूप है । इस सम्बन्ध मे हमारा कोई आग्रह नही है ।"

समीक्षा

महापुराण पर्व ४१ श्लोक ६१ से ८० में भरत चक्री को आये सोलह स्वप्नो का फल ऋषभ प्रभु ने यह बताया कि—

प्रांसु धूसर रत्नौघ निध्यानाद् ऋद्धि सत्तमाः ।
नैव प्रादुर्भविष्यंति मुनयः पचमे युगे ।।७३।।

धूल से मलिन रत्नराशि देखने का फल यह है कि—पंचम काल में ऋद्धिधारी उत्तम मुनि नही होंगे ।)

इसमे और ऊपर जो छः प्रमाण दे आए है उनमें कही भी पंचमकाल मे ऋद्धि निषेध के कथन को न तो सामान्य बताया है न प्रायिक (अधिकाश रूप) न आपवादिक । फडकुले जी ने अपने मन से ही यह सब लिख दिया है इसी से आगे उन्हे लिखना पड़ा है कि—इस सम्बन्ध में हमारा कोई आग्रह नही है । अगर इस तरह नियमो और सिद्धांतों को सामान्य करने लगेंगे तो फिर तो स्वप्न फलों मे जो इस काल मे अवधि-मन: पर्याय और केवल ज्ञान का भी निषेध किया है वह भी किन्ही को होने लगेगा किन्तु ऐसा नही ये तीनो प्रत्यक्ष ज्ञान इस काल मे किसी को नही होते । यहा यह शका नही करना चाहिए कि फिर पचम काल में गौतम, सुधर्मा, जम्बू ये ३ केवली और श्रीधरादि अननुबद्ध केवली कैसे हुए ? समाधान—ये सब चतुर्थ काल के अन्त मे पैदा हुए ये और पचम काल के आदि मे मुक्त हो गए । पचमकाल मे पैदा होने वाले कभी प्रत्यक्ष ज्ञान के धारी नहीं हो सकते । इसी तरह पचम काल में उत्पन्न कोई मुनि कभी ऋधिधारी नहीं हो सकते । जैन नियम त्रिकालाबाधित है किसी की लिहाज नही करते । लिहाज मानने लगेगे तो सिद्ध जीव भी कभी न कभी ससार मे आने लगेगे किन्तु ऐसा अनन्त कल्पकाल बीतने पर भी नहीं होने वाला । नियम नियम हैं घर का राज नही । फड़कुले जी सा० लिखते है—"पचम काल मे ऋद्धि प्राप्ति अत्यन्त दुर्लभ है ।" समीक्षा—पूर्वकाल मे भी ऋद्धिया तो सर्व सुलभ नहीं थी दुर्लभ ही थी । इस काल में तो दुर्लभ क्या अत्यन्त असम्भव है । इसी से महापुराण में "एव" लगा कर निषेध किया हैं ।

विदेह भारत से अत्यन्त दूर है वहां की भाषा, रहन-सहन, जल-वायु, भोजन-पान, आयु, शरीराकार आदि आदि सब यहा से भिन्न है तब कथानुसार कुन्दकुन्द वहां ७ दिन तक कैसे रहे ? और भी कथादि मे दिया कुन्दकुंद का जीवन-चारित्र कितना कल्पित, असगत तथा अयुक्त है आगे क्रमशः उसकी समीक्षा की जाएगी । इसके सिवा, स्त्री मुक्ति की तरह शूद्र मुक्ति का भी कुन्दकुन्द स्वामी ने निषेध किया है यह उनके ग्रथो से स्पष्ट किया जाएगा ।

—:०:—

(पृष्ठ ११ का शेषांश)

अन्यथा पूरा आगम ही अशतः के स्थान पर पूर्णतः विलुप्त हो जाता । हम नही चाहते कि बाद मे कभी नारा लगने की सम्भावना बने कि कभी कोई अमुक महान् हुए जिन्होने आगम या कुन्दकुन्द को ठीक किया—भले ही वर्तमान में कुन्दकुन्द की जय बोल—बुलवाकर यह सब बदलाव किया जा रहा हो ।

जब कोई किसी की प्रशंसा करता हो, उसे बढ़ाता हो, तब हमे हर्ष होता है : पर, जब कोई व्यक्ति अतिशयोक्तियों में पूर्वाचार्यों—विद्वानो को पीछे धकेल झूठी ठकुरसुहाती करता हो तब हमे कष्ट होता है । ऐसा एक ही क्यों; यदि मिलकर सभी विद्वान भी कहें कि मूल आगम गलत है और वे बदले जा सकते है—या वे किसी एक जातीय प्राकृत भाषा के हैं, हम तब भी नही मानेंगे । हमारी दृष्टि से तो वे उसी जैन-शौरसेनी के हैं जिसमें सभी रूप समाहित होते है और यही आर्ष-भाषा का स्वरूप है इसे बदल कर शुद्ध करने के गीत गाना मिथ्या है ।

समय ऐसा आ गया है कि अब अर्थ-दाता दानी को भी सोचकर सावधान होना होगा कि उसका द्रव्य आगम-ध्वंस में लग, कही प्रश्न तो नही पूछ रहा—कि क्या तेरी कमाई न्याय नीति की थी ? क्योंकि अन्यायोपार्जित द्रव्य कभी सत्कार्य में नही लगता—ऐसा सुना गया है । लोगों को इन बातों पर पूरा ध्यान देना चाहिए । □□

राजस्थानी कवि ब्रह्मदेव के तीन ऐतिहासिक पद

□ डा० कस्तूरचन्द कासलीवाल

ब्रह्मदेव १८वी शताब्दी के प्रसिद्ध कवि थे। राजस्थानी एवं विशेषत: ढूढारी भाषा में अपने पदों की रचना करके उन्होंने एक कीर्तिमान स्थापित किया था। वे सम्भवत: जयपुर अथवा इसके समीपस्थ किसी ग्राम के निवासी थे। उनके अब तक सैकड़ों पद प्राप्त हो चुके है। ७० से भी अधिक पद तो हमारे सग्रह में हैं। लेकिन पद साहित्य के अतिरिक्त इनकी कोई बड़ी रचना अभी तक प्राप्त नही हो सकी है। इसलिए कवि का विशेष परिचय भी कही उपलब्ध नही होता। फिर भी इनके पदों के लिपि काल के आधार पर कवि का समय सवत् १८०० से १८६० तक का माना जा सकता है।

राजस्थान के विभिन्न शास्त्र भण्डारो मे ब्रह्मदेव की जो रचनाएँ उपलब्ध हुई है वे सभी गुटकों मे सग्रहीत है। कवि निबद्ध भक्तिमय पदों के अतिरिक्त सास बहू का झगड़ा, शिखर विलास आदि लघु रचनाएं भी पदो के रूप में मिलती हैं। लेकिन सबसे महत्त्वपूर्ण कवि द्वारा निबद्ध तीन ऐतिहासिक पद है जो केशोराय पाटन के मुनि सुव्रत नाथ, राजोरगढ़ के नो गजा भगवान एव चदन गाव के महावीर स्वामी की भक्ति मे लिखे गए है। जैन कवियों ने हिन्दी मे हजारो पद तो अवश्य लिखे है लेकिन तीर्थों, अतिशय क्षेत्रों एव अन्य मन्दिरों के बारे में बहुत कम लिखा है। मैंने कुछ समय पूर्व "जैन हिन्दी कवियो की महावीर यात्रा" लेख मे कुछ कवियों द्वारा निबद्ध चदन गांव के भगवान महावीर की भक्तिपूर्ण पदों पर प्रकाश डाला था उसमे देवाब्रह्म द्वारा निबद्ध एक पद था। उक्त पद सहित ब्रह्मदेव के तीन ऐतिहासिक पद हो गए हैं, जिनको लेकर प्रस्तुत लेख में प्रकाश डाला जा रहा है—

मुनि सुव्रतनाथ का पद

कवि का प्रथम पद राजस्थान का प्राचीन जैन तीर्थ केशोराय पाटन स्थित भगवान मुनि सुव्रतनाथ के स्तवन मे लिखा गया है। यद्यपि केशोराय पाठन पर मेरी एक पुस्तक सन् १६८५ में प्रकाशित हो चुकी है लेकिन उस समय तक प्रस्तुत पद प्राप्त नही हुआ था इसलिए पुस्तक मे उसका उल्लेख नही किया जा सका। अभी मैं दिनांक २७ मार्च को झालावाड़ का जब शास्त्र भण्डार देख रहा था तो उन समय एक गुटके मे लिपिबद्ध यह पद अथवा विनती मिली है। कवि ने लिखा है कि हाडौती प्रदेश के चम्बल नदी के तट पर स्थित पाटनपुर नगर है। इस नगर के मन्दिर में भगवान मुनि सुव्रतनाथ की श्यामवरण सुन्दर प्रतिमा है जो पद्मासन है। जिनके दर्शनार्थ देश-विदेश के विभिन्न यात्रीगण आते है। अष्ट द्रव्य से भगवान की पूजा करते है। कार्तिक सुदी १४ के शुभ दिन यहां मेला लगता है जिसमे बड़ी संख्या मे दर्शनार्थी एकत्रित होते है। पूरा पद निम्न प्रकार है—

मुनि सुव्रत जी की विनती ढाल

मुनि सुव्रत जी पूजस्यां मन वांछित दातार। मुनि०।
जम्बू डीप की बीच जी मेर सुदरसण थाये।
भरत क्षेत्र दक्षिण दिशा हाडौती देश कहाये ।।मुनि० १।।
चामला नदी तट उपरे पाटण पूर सार।
नगर बीच मन्दिर बण्यो सोभा अधिकार ।।मुनि० २।।
स्यामवरण सुन्दर सदा, पद्मासण धार।
राजे चुहेरा में सदा, अति से अधिकार ।।मुनि० ३।।
देस देस का जातरी, आवे बारम्बार।
आठ दव्य पूजा रचे; ध्यावे नवकार ।।मुनि० ४।।
कार्तिक सुदी मेलो जुडे, चौदस दीन सार।
नर नारी आवे घणा, गावे गुण सार० ।।मुनि० ५।।
सुरग मुकत कोपंथ जी, उपदेस कराये।
ज्यों सेवक आसा करे, पूर हीतकार ।।मुनि० ६।।
आठ करम बेरी घणे; त्रिजग त्रास सुधार।
देवा ब्रह्म वीनती करे, आवागमन नीवार ।।मुनि० ७।।
मुनि सुव्रत पूजस्यां, मन वांछित दातार।

उक्त पद में कवि ने केशोराय पाटन के स्थान पर पाटण नाम का ही उल्लेख किया है जो उसके प्राचीन नाम की ओर संकेत है। केशोराय पाटन स्थित भगवान मुनि सुव्रत नाथ का मन्दिर राजस्थान के प्राचीनतम मन्दिरों में से है जिसकी अतिशय क्षेत्र के रूप में सर्वत्र प्रसिद्धि है।

नो गजा पर

कवि का दूसरा ऐतिहासिक पद राजस्थान के अलवर जिले में राजोरगढ़ स्थित नो गजा नाम से प्रसिद्ध भगवान पार्श्वनाथ की मूर्ति के स्तवन में लिखा गया है। पद मे नो गजा बिम्ब के सम्बन्ध मे लिखा गया है कि वह गेहूं वरणी है जो राजपुर अथवा राजोरगढ जो वन मे पर्वत पर गढ़ बना हुआ है उसी में वह मूर्ति विराजमान है। घने जंगल के कारण मन्दिर तक पहुंचना कठिन लगता है। वहाँ कितने ही जैन मन्दिर हैं। अजबगढ़ होकर राजोरगढ़ जाना पड़ता है। स्वय अजबगढ भी प्राचीन नगर है। नो गजा की यात्रा की जाती थी ऐसा पद में वर्णित हैं। डॉ कैलाशचद जैन के मतानुसार राजोरगढ ८वीं शताब्दी से लेकर १२वी शताब्दी का नगर है जहा पहिले बड़ा गूजर राजपूतो का राज्य था।

दूसरे पद मे पाँच अन्तरे हैं। पाठको के पठनार्थ पूरा पद ही यहाँ दिया जा रहा है—

राग रेखता

सरसा उत्री बम्ही प्रतिमा राजोरगढ़ मैं विराजे है।
नो गजा बिम्ब छाजै है, गेहूं बरण कहा जे है।१।
देस है जोध ए नामां, नगर है राजपुर धामा।
निकरि परबल बना गढ़ है, मारिग अति कठिन चालै है।२।
जैन मन्दर घणा दरसै भव्य जीव आणि परसै है।
पूजै आहूं द्रव्य लै चित सै, करम सब भाग ऐ डर सै।३।
अजब गढ़ थे सबै ध्यावै, प्रभू की जतरा पावै।
गुरा जुत संग थावै, मंगल पूजा रचावै है।४।
प्रभू जी जी अरज ऐ सुणिये, करम का फद टाल्योगे।
देवा ब्रह्म वीनती करि है, तुम्हरी भगति मो धोये।५।

तीसरा पद पूजो श्री महावीर जी

तीसरा पद चान्दन गांव के भगवान महावीर की स्तुति में लिखा गया है। यद्यपि ब्रह्मदेव के पूर्व भी जैन कवियों ने चांदन गाँव के महावीर के सम्बन्ध में पद लिखे हैं लेकिन प्रस्तुत पद विस्तृत है जो २० लघु अन्तरों में पूरा होता है। इसमें गाय चरने, गाय के स्तनों से दूध वर्षा होने, गाय के मालिक द्वारा उक्त घटना देख कर नगर मे जाकर वृत्तांत कहना, चौबीसवां तीर्थंकर की प्रतिमा होने का शब्द होना; पाँचों द्वारा एकत्रित होकर जमीन खोद कर मूर्ति का प्रकट कराना. देश के यात्रियों का दर्शनार्थ आने लगना, महावीर भगवान को शहर में विराजमान करने का विचार करके बैलगाड़ी मे विराजमान करना, बैल पाड़ी का नही चल सकना, स्वप्न आना, चैत्र शुक्ला पूर्णिमा का मेला भरना; वही पर भगवान का मन्दिर बनवाना, दर्शनार्थियो का लगातार आते रहना आदि का वर्णन किया गया है। पद मे मन्दिर निर्माता का नाम नही दिया गया है। किस ग्राम के पंच आए थे इसका भी उल्लेख नही किया गया है। फिर भी पद महत्त्वपूर्ण है तथा अपने समय में काफी लोकप्रिय रहा है इसलिए राजस्थान के शास्त्र भण्डारों मे सग्रहीत कितने ही गुटको में मिलता है। पूरा पद निम्न प्रकार है—

ढाल—असडौ बधावो म्हारै आइयौ

पूजो श्री महावीर जी

जीवा चांदण गाँव नदी,
जीवा अतिशय अधिक अपार जी।पू० १।
जीवा गाय घणी वन मे चरै,
जीवा नदी दरडा माहि जी।पूजो० २।
जीवा एक गऊ सिरदार हो,
जीवा दरडो पूजै आय जी।पूजो० ३।
जीवा दूध धार बरखा करै,
जीवा ढोकै मस्तक नाय जी।पूजो० ४।
जीवा गाय घणी इम देखिके,
जीवा कहो नगर मैं आय जी।पूजो० ५।
जीवा सबद दैव का तब हुआ;
अठै चौबीसमा छ जिनराय जी।पूजो० ६।
जीवा पंच सबै भेला हुआ,
जीवा खोदन लागा जाणी जी।पूजो० ७।

मध्य-प्रदेश का जैनकेन्द्र सिहोंनिया

डॉ० कस्तूरचन्द्र 'सुमन' जैन विद्या संस्थान, महावीर जी

मूलपाठ

संवत् १०१३ माधवसुतेन महिन्द्रचन्द्रकेनकभा (खो) दिना।[१]

प्रथम प्रतिमा लेख :

पाठ-टिप्पणी

पं० विजयमूर्ति ने 'खोदिता' पद को 'प्रतिष्ठिता' का अपभ्रंश बताया है।[२] दुर्जनपुर से प्राप्त गुप्तकालीन एक प्रतिमा-लेख में 'कारिता' पद इस अर्थ में व्यवहृत हुआ है।[3] अतः प्रस्तुत लेख में 'कारिता' पद रहा प्रतीत होता है।

अभिलेखों में कारिता या खोदिता पद प्रतिमा-निर्माण के अर्थ में आये हैं। इन पदों के पूर्व प्रतिमाओं के नाम बताये गये हैं। दुर्जनपुर प्रतिमा-लेख मे 'कारिता' पद के पूर्व प्रतिमा का नाम चन्द्रप्रभ बताया गया है।[४] अतः प्रस्तुत लेख में भी 'खोदिता' पद के पहले 'चन्द्रप्रभ' नाम उत्कीर्ण रहा प्रतीत होता है।

इस लेख मे दो नाम आये हैं माधव ओर महिन्द्रचन्द्र, इनमें पिता का नाम माधव और पुत्र का नाम महिन्द्र-चन्द्र बताये जाने से महिन्द्र के साथ सयोजित 'चन्द्र' पद चन्द्रप्रभ तीर्थंकर का प्रतीक ज्ञात होता है।

भावार्थ

सवत् १०१३ में माधव के पुत्र महेन्द्र ने चन्द्रप्रभ तीर्थंकर की प्रतिमा प्रतिष्ठित कराई।

प्रतिमा-परिचय

प्रस्तुत लेख जिस प्रतिमा की आसन पर उत्कीर्ण रहा है, वह प्रतिमा सम्प्रति यहाँ के मन्दिर में नहीं है। जो मुख्य तीन प्रतिमाएं हैं, उनकी आसनें भूगर्भ में होने से यदि यह लेख उनमें किसी प्रतिमा की आसन पर उत्कीर्ण है, तो यह नही कहा जा सकता कि वह लेख किस तीर्थंकर-प्रतिमा की आसन पर है।

व्याख्या

माधव—यह वहाँ का आरम्भिक शासक ज्ञात होता है। इसके पुत्र का नाम महेन्द्र था।

महेन्द्र—यह सिहोनियाँ के महाराज माधव का पुत्र था। डॉ० ज्योतिप्रसाद ने बताया है कि यह अर्ध स्वतन्त्र राजा था। इसने ६५६ ईसवी में ग्वालियर के निकट सिहोनियाँ में विपुल द्रव्य व्यय करके एक जैन मन्दिर बनवाया था।[५] भूगर्भ से प्राप्त प्रतिमाओं से यह स्पष्ट है कि यहाँ का मन्दिर ध्वस्त हो गया और प्रतिमाएँ कालान्तर में भूगर्भ में आवृत हो गई।

अभिलेख का महत्व

प्रस्तुत लेख एक ही पक्ति का होने पर भी बहुत महत्त्वपूर्ण है। राजा माधव और उनके पुत्र महेन्द्र का नाम इसी लेख से ज्ञात हुआ है।

प्राप्तिस्थल-परिचय

सिहोंनिया—ग्वालियर से २४ मील उत्तर की ओर तथा कोतवाल से १४ मील उत्तर-पूर्व में आसन नदी के उत्तरी तट पर स्थित है। यह नगर प्राचीन काल में समृद्ध था। कहा जाता है कि यह बारह कोस विस्तृत मैदान में बसा था। इसके चार फाटक थे। यहाँ से एक कोस दूर बिलौनी ग्राम में दो खम्भे, पश्चिम में एक कोस दूर पोरीपुरा ग्राम में एक द्वार अंश, पूर्व में दो कोस दूर पुरावस ग्राम में तथा दक्षिण में बाढा ग्राम में दरवाजों के अवशेष इसके प्रतीक हैं।[६]

डॉ० नेमिचन्द्र शास्त्री ने अपने एक लेख में बताया कि यहाँ प्राचीनकाल में विभिन्न सम्प्रदायों के मन्दिरों में ग्यारह जैन मन्दिर थे, जिनका निर्माण जैसवाल जैनों ने कराया था।[७] मुरैना के जैसवाल जैन श्रावकों की समृद्धि को देखकर लगता है कि वे मूलतः सिहोंनिया या उसके निकट बसे ग्रामो के निवासी रहे होंगे।

कनिंघम को विक्रम संवत् १०१३, १०३४ और १४६७ के ये तीन प्रतिमा लेख प्राप्त हुए थे। उन्हें वहाँ पाँचवीं-छठी शताब्दी का एक लेख ऐसा भी मिला था जो चौदह पंक्ति में उत्कीर्ण था। यह शिलाखण्ड उन्होंने लंदन भेज दिया बताया है।[८] इस उल्लेख से नगर की धार्मिक समृद्धि का सहज ही अनुमान लगाया जा सकता है।

नगर के नामकरण का इतिहास

जनश्रुति है कि ग्वालियर के संस्थापक सूरजसेन के पूर्वजों ने आज से लगभग दो हजार वर्ष पूर्व इस नगर को

बसाया था। कहा जाता है कि राजा सूरजसेन को कुष्ट रोग हो गया था जो यहाँ अम्बिका देवी के पार्श्व में स्थित तालाब में स्नान करने से नष्ट हुआ था। इस घटना से वे बहुत प्रभावित हुए थे। उन्होंने अपना नाम शुद्धनपाल तथा नगर का नाम सुद्धनपुर या सुधियानपुर रखा था[९], जो कालान्तर में सुहानिया या 'सिहोंनिया' हो गया प्रतीत होता है।

इस नगर पर ईसवी ११६५ से ११७५ के मध्य कनौज के राजा अजयचन्द्र द्वारा आक्रमण किया गया था। इस समय नगर का शासन एक राव ठाकुर के आधीन था, जो ग्वालियर के अन्तर्गत था। युद्ध में राव ठाकुर पराजित हुआ। कन्नौज के शासक भी अधिक दिन तक न रह सके।[१०]

द्वितीय प्रतिमा-लेख

मूलपाठ

संवत् १०३४ श्री वज्रदाम महाराजाधिराज वइसाख वदि······।[११]

पाठ-टिप्पणी

पं० विजयमूर्ति ने जरनल एसियाटिक सोसायटी ऑफ बंगाल जिल्द ३१ का सन्दर्भ देते हुए 'संवत्' को 'सम्वतः' तथा 'पाचमी' को 'पाचमि' बताया है।[१२] लेख का अंतिम अंश अपूर्ण है। इस अंश में प्रतिमा का नाम तथा 'कारिता' पद उत्कीर्ण रहा प्रतीत होता है।

भावार्थ

संवत् १०३४ के बैशाख वदि पंचमी (तिथि) मे महाराजाधिराज श्री वज्रदाम ने (प्रतिष्ठा कराई)।

अभिलेख-परिचय

यह अभिलेख कनिंघम को एक जैन प्रतिमा पर अंकित मिला था। पं० परमानन्द शास्त्री ने इसे सिहोंनिया के शान्तिनाथ तीर्थंकर की प्रतिमा के पृष्ठ भाग में उत्कीर्ण बताया है।[११] वर्तमान में प्रतिमा के पीछे एक दीवाल खड़ी कर दी गई है जिससे लेख लुप्त हो गया है।

प्रतिमा-परिचय

मन्दिर में तीन मनोज्ञ प्रतिमाएँ है। इनमे शान्तिनाथ तीर्थंकर की मूलनायक प्रतिमा है। इस प्रतिमा की केश-राशि, नासाग्र-दृष्टि, मन्दस्मित-मुख, कपोल, चिबुक, कर्ण और नाभि का अंकन मूर्तिकार के शिल्प ज्ञान और सुन्दर हस्त-कौशल का परिचायक है।

प्रतिमा के हाथों के नीचे चँवरधारी सौधर्म और ईशान इन्द्रों को खड्गासन मुद्रा में अंकित बताया गया है। पीछे भामण्डल भी अंकित है।

यह प्रतिमा कायोत्सर्ग मुद्रा में इनके कत्थई वर्ण के पत्थर से निर्मित है। चरण से नीचे का अंश भूगर्भ मे है। इसकी अवगाहना लगभग तेरह फुट है।

इस प्रतिमा की दाईं ओर सत्रहवें तीर्थंकर कुन्थुनाथ की प्रतिमा है। इसकी आसन पर मध्य में अर्ध चन्द्राकृति के बीच चिह्न स्वरूप बकरे की आकृति अंकित है। चिह्न के नीचे धर्मचक्र तथा धर्मचक्र के दोनों ओर आमने सामने मुख किए एक-एक बैठा हुआ सिंह दर्शाया गया है। आसन पर कोई लेख उत्कीर्ण नही है।

मूल नायक शान्तिनाथ-प्रतिमा की बाईं ओर अठारहवें तीर्थंकर अरहनाथ की प्रतिमा है। इस प्रतिमा के हाथों के नीचे चँवरवाही इन्द्र, आसन के मध्य में एक अर्ध चन्द्राकृति के बीच मच्छ और इसके नीचे आमने सामने एक-एक सिंह अकित है। इस प्रतिमा की बाईं ओर पद्मासन मुद्रा मे छोटी-छोटी कुछ प्रतिमाओ का अंकन भी है।

शान्तिनाथ-प्रतिमा के समान कुन्थुनाथ और अरहनाथ की प्रतिमाएँ भी कायोत्सर्ग मुद्रा में कत्थई रंग के बलुए पाषाण से निर्मित है। गुच्छकों के रूप में दर्शाई गई केश राशि, उन्नत नासिका, नासाग्र-दृष्टि, मन्दस्मित मुख, भरे हुए कपोल, ओठ, चिबुक और कर्ण दोनों प्रतिमाओ में विन्यास की दृष्टि से समान है। अभिलेख तीनों प्रतिमाओं पर नही है।

इन प्रतिमाओं से सम्बन्धित शान्ति, कुन्थु और अरह तीनो कामदेव, चक्रवर्ती और हस्तिनापुर के निवासी तथा तीर्थंकर थे। इन तीनों प्रतिमाओ मे शान्तिनाथ-प्रतिमा अन्य प्रतिमाओ की अपेक्षा अधिक ऊँची है। सम्भवतः यही कारण है जो कि यह मन्दिर 'शान्तिनाथ-मन्दिर' के नाम से विश्रुत हुआ। प्रस्तुत मन्दिर मे विराजमान ये तीनो प्रतिमाएँ एक टीले को खोदकर भूगर्भ से निकाली गई हैं।

व्याख्या

वज्रदाम—प्रस्तुत लेख में इन्हें 'महाराजाधिराज' कहा गया है। 'महाराजाधिराज' इस पद से यह स्पष्ट है

कि ये अन्य नरेशों को पराजित कर स्वतन्त्र हो गये थे। यहाँ से प्राप्त संवत् १०१३ के प्रतिमा-लेख से ज्ञात होता है कि इन्होंने सिहोनिया के शासक माधव के पुत्र महेन्द्र से सिहोंनिया का शासन प्राप्त किया था तथा यहाँ सवत् १०३४ में एक जैन प्रतिमा की प्रतिष्ठा कराई थी।

कच्छपघात राजवश की ग्वालियर शाखा के संवत् ११५० के प्रशस्ति लेख में भी इस नाम के एक नृप का नाम आया है।[१४] इतिहासकार गागुली ने सिहोंनिया के इस प्रतिमा लेख और ग्वालियर के संवत् ११५० के प्रशस्ति-लेख मे उल्लिखित वज्रदाम नामक दोनों शासको को एक ही माना है तथा इसका शासनकाल ९७७ ईसवी से ९९९ ईसवी तक की अवधि का बताया है।[१५] डॉ० रे० ने इसका शासनकाल ९७५ ई० माना है।[१६]

ग्वालियर के सवत् ११५० के इस प्रशस्ति-लेख से ज्ञात होता है कि इसने कन्नौज के राजा को पराजित कर ग्वालियर पर अधिकार किया था। सम्भवत: ग्वालियर पर अधिकार हो जाने के पश्चात् इसने सिहोनिया पर अधिकार किया होगा।

अन्य प्राचीन कलावशेष

सिहोंनिया के जैन मन्दिर मे खण्डित और अखण्डित कुल बाईस प्रतिमाएँ है। इनमे एक प्रतिमा तीर्थंकर कुंथुनाथ के पार्श्व मे खड्गासन मुद्रा मे स्थित है। इसके शीर्ष भाग पर जटा जूट, मुख पर दाढी, गले मे हार, सिर के पीछे प्रभावर्तुल, कटि मे मेखला, कलाई मे दस्तबन्द, बाहो भुजबन्ध और दायाँ हाथ जांघ पर रखा हुआ अंकित है। चरणों के पास खड्गासन मुद्रा में इसके सेवको की प्रतिमाएँ भी अंकित की गई है।

तीर्थंकर प्रतिमाओ मे यहाँ तीर्थंकर सुपार्श्वनाथ और तीर्थंकर महावीर की प्रतिमाएँ उल्लेखनीय है। सुपार्श्वनाथ की प्रतिमा के सिर पर पाच सर्पफण अकित है। तीर्थंकर महावीर की प्रतिमा के शीर्ष भाग पर दुन्दुभिवादक है। प्रतिमा के दोनों पार्श्व में सूंड उठाये एक-एक हाथी अंकित है। बाईं ओर का हाथी खण्डित हो गया है। इन हाथियों के नीचे कायोत्सर्ग मुद्रा मे दोनों ओर एक-एक तीर्थंकर प्रतिमा उत्कीर्ण है। इनके नीचे चँवरधारी इन्द्र चँवर ढोरते हुए अंकित है। प्रतिमा के पीछे सुन्दर प्रभामण्डल है।

आसन पर मध्य में धर्मचक्र तथा दोनों ओर एक-एक सिंहाकृति अंकित है। नीचे दाईं ओर उपासक तथा बाईं ओर उपासिका की प्रतिमाएँ भी निर्मित है। चिह्न स्वरूप सिह दर्शाया गया है। यह 'सिद्ध बाबा' के नाम पर घी, गुड़, दूध चढ़ाकर पूजी जाती थी।

अन्य तीर्थंकर प्रतिमाओ में यहाँ एक तीर्थंकर चन्द्रप्रभ और एक तीर्थंकर पार्श्वनाथ की प्रतिमा भी है। सभी प्रतिमाएँ भू-गर्भ से प्राप्त बताई जाती हैं।

भीमलाट

इस ग्राम के निकट एक टीले पर प्राचीन पाषाण-स्तम्भ है, जिसे आजकल 'भीमलाट' कहा जाता है। यह स्तम्भ जैनों का मानस्तम्भ ज्ञात होता है। इस पर यद्यपि आज कोई मूर्ति उत्कीर्ण नही है, किन्तु यहाँ उपलब्ध प्रतिमाओं से यह स्पष्ट है कि यहाँ कोई विशाल जैन मन्दिर था। सम्भव है यह किसी जैन मन्दिर में स्थापित किया गया हो। यह भी सम्भावना है कि इस स्तम्भ के शीर्ष भाग पर प्रतिमाएँ विराजमान की गई होंगी जो कालान्तर में स्तम्भ के शीर्षभाग से अलग हो गई और यह जिन-प्रतिमा विहीन हो गया। दमोह जिले के कुंअरपुर ग्राम में ऐसे आज भी स्तम्भ है जिनमे एक पर चारो दिशाओं में प्रतिमाओं का अंकन भी उपलब्ध है।[१७]

सिहोंनिया ग्राम से दो मील दूर उत्तर-पश्चिम में "ककनमठ" नाम से प्रसिद्ध एक मन्दिर है। इसका निर्माण विशाल शिलाखण्डों से हुआ है। पं० बलभद्र जैन ने बताया है कि यह मन्दिर राजा कीर्तिराज ने अपनी पत्नी काकनवती के नाम पर बनवाया था।[१८] यह अब ध्वस्त होने लगा है। इसमें मूर्ति नहीं है। मण्डप के ऊपर शिखर है।

ग्वालियर के संवत् ११५० के सास-बहू मन्दिर प्रशस्ति लेख में राजा कीर्तिराज के द्वारा 'सिंहपानीयनगर' मे शंकर का मन्दिर बनवाये जाने का उल्लेख है।[१९] इस लेख के परिप्रेक्ष्य में लगता है 'सिंहपानीयनगर' यह सिहोनिया है तथा सिहोनिया का 'ककनमठ' कीर्तिराज द्वारा बनवाया गया 'शिव मन्दिर' है। मूलतः यह मन्दिर काकनमठ के नाम से प्रसिद्ध रहा प्रतीत होता है। यहाँ अम्बिका देवी का मन्दिर तथा हनुमान की मूर्ति भी दृष्टव्य है।

सिहोंनिया अपर नाम सिंहपानीयनगर

ग्वालियर के संवत् ११५० के प्रशस्ति-लेख में उल्लि-

खित 'सिहपानीयनगर' और 'सिहोनिया' एक ही नगर के दो नाम ज्ञात होते हैं। इस प्रशस्ति लेख में उल्लिखित राजा कीर्तिराज और उसके पूर्वज वज्रदाम, दोनों राजाओं ने इस नगर में पुनीत कार्य किए थे। वज्रदाम ने यहां जैन-प्रतिमा स्थापित कराई थी और कीर्तिराज ने 'ककन मठ' नाम से प्रसिद्ध शिव मन्दिर बनवाया था। अतः इन अभिलेखों के परिप्रेक्ष्य में कहा जा सकता है कि ये एक ही नगर के दोनों नाम हैं। इनमें 'सिहपानीयनगर' नाम प्राचीन है।

जनश्रुति के अनुसार यह नगर राजा सूरजसेन ने बसाया था। कहा जाता है कि उसका यहाँ कुष्ट रोग दूर हो गया था। अतः उसने इस घटना से प्रभावित होकर अपना नाम शोधनपाल और नगर का नाम सुद्धनपुर या सुधियानपुर रखा था। कालान्तर मे किसी घटना विशेष के कारण पुन: नाम में परिवर्तन हुआ और इसे 'सिहपानीयनगर' कहा जाने लगा।

हमारा अनुमान है कि नगर के इस नाम में अम्बिका देवी की कोई अद्भुत घटना समाहित है। इसमें पूर्व पद 'सिंह' है जो अम्बिका का वाहन होने से अम्बिका देवी का प्रतीक है। तथा नाम का उत्तर पद 'पानीय' है। इससे प्रतीत होता है कि कभी यहाँ पानी का संकट रहा है, जो अम्बिका देवी की आराधना से दूर हुआ होगा। अतः देवी की स्मृति में यहां 'अम्बिका देवी' का मन्दिर बनवाया गया तथा नगर का नाम 'सिहपानीयनगर' रखा गया।

दूसरी सम्भावना यह है कि लेख पढ़ने में भ्रान्ति हुई है। 'सिहपानीय' पद में 'प' वर्ण के स्थान में 'य' वर्ण रहा होगा जिसे 'प' समझा गया है। यदि 'प' वर्ण को 'य' वर्ण मान लिया जावे तो 'सिहयानीय' पढ़ा जावेगा, जिसका अर्थ होगा—सिंह है यान अर्थात् वाहन जिसका वह देवी अम्बिका। इस प्रकार इस व्युत्पत्ति से भी नगर का नाम अम्बिका देवी की स्मृति में रखा गया प्रतीत होता है।

सम्पूर्ण लेख संस्कृत भाषा में उत्कीर्ण होने से 'सिहपानीय' नाम में 'पानी' शब्द का व्यवहार विचारणीय है। निश्चित ही यहां 'पानी' शब्द अशुद्ध है। भाषा की दृष्टि से भी इस नाम मे 'प' वर्ण के स्थान में 'य' वर्ण अधिक शुद्ध और अर्थसगत है। अतः नगर का प्राचीन नाम 'सिहपानीय नगर' रहा है। 'सिहोनिया' इसी नाम से निष्पन्न नाम ज्ञात होता है।

वर्तमान मे इस नगर के शान्तिनाथ मन्दिर को तीर्थ क्षेत्र बताया जा रहा है। मुरैना जिले के प्रसिद्ध समाजसेवी विद्वान् प० सुमतिचन्द्र शास्त्री की अध्यक्षता में एक समिति के सतत् प्रयत्नो से मन्दिर तक पक्का मार्ग हो गया है। मन्दिर मे यात्रियो के लिए कुछ कमरे बन चुके है, कुछ निर्माणाधीन है।

सन्दर्भ-सूची

१. पूर्णचन्द्र नाहर, जैनशिलालेख संग्रह भाग २, लेख संख्या १४३०।

२. जैनशिलालेख संग्रह भाग २, ले. सं. १४८, पृ. १९१।

३. प्रस्तुत कृति का प्रथम लेख। ४. वही, प्रथम पक्ति।

५. डॉ. ज्योतिप्रसाद, भारतीय इतिहास, एक दृष्टि: भारतीय ज्ञानपीठ, १९६१ ई०, पृ० १७५–७६।

६. डॉ. नेमिचन्द्र शास्त्री, जैन सिद्धान्त भास्कर, भाग १५, किरण १।

७. वही, किरण प्रथम।

८. आर्किलॉजिकल सर्वे रिपोर्ट, जिल्द २, ई० १८६४-६५, पृ० ३९९-४०१। ९. वही।

१०. जैन सिद्धांत भास्कर, भाग १५, कि० १।

११. श्रीपूर्णचन्द्र नाहर, जैनशिलालेख सग्रह भाग २, लेख संख्या १४३१।

१२. जैनशिलालेख स० भाग २, ले.सं. १५३, पृ. १९८।

१३. अनेकान्त वर्ष १९, अक १-२, पृ० ६४।

१४. तस्माद्वज्रधरोपमः क्षितिपति श्रीवज्रदामाभवद्
दुर्वारोर्जित वाहुदण्ड विजिते गोपाद्रि दुर्गे युवा।
निर्व्याज परिभूयवैरि नगराधीशप्रतापोदय
यद्वीर व्रतसूचकः समभवन् प्रोद्गोषणाकिकमः ॥६॥
—पूर्णचद्र नाहर, जैनशिलालेख सग्रह भाग २, ले.स १४२६

१५. श्री डी.सी. गांगुली, हिस्ट्री आफ दि परमार डायनस्टी, ढाका विश्वविद्यालय, १९३३ ई०, पृ० १०६।

१६. डॉ एच.सी.रे; डायनस्टिक हिस्ट्री ऑफ दार्दर्न इण्डिया, भाग २, पृ० ८३५।

१७. जैन सिद्धांत भास्कर, भाग ३८, किरण १।

१८. अद्भुतः सिहपानीय नगरे येन कारितः
कीर्तिस्तम्भ इवाभाति प्रासादः पार्वतीपतेः ॥११॥
पूर्णचद्र नाहर, जैनशिलालेख सग्रह भाग २, ले स. १४२६

१९. भारत के दिगम्बर जैन तीर्थ, भाग ३, पृ० ३२।

जैन कवि विनोदीलाल की अर्चाचित रचनाएँ

□ डा० गंगाराम गर्ग

विनोदीलाल शहिज़ादपुर के गर्ग गोत्रिय अग्रवाल जैन थे। डॉ० प्रेमसागर जैन ने अपने शोध प्रबन्ध हिन्दी जैन भक्तिकाव्य और कवि एवं पं० परमानन्द शास्त्री ने अपने एक लेख 'अग्रवालों का जैन संस्कृति में योगदान' में कवि की सात रचनाएँ बतलाई हैं—भक्तामर कथा, सम्यक्त्व कौमुदी, श्रीपाल विनोद, राजुल पच्चीसी, नेमि ब्याह, फूलमाला पच्चीसी, नेमिनाथ का बारहमासा। चाकसू (जयपुर) के कोट मंदिर मे विनोदीलाल की श्रेष्ठ काव्य कृति 'नेमिनाथ नव मंगल' दो प्रतियों मे प्राप्त है। अग्रवाल जैन मन्दिर कामां (भरतपुर) में विनोदीलाल की कुछ महत्त्वपूर्ण कृतियाँ प्राप्त हुई है—सुमति कुमति को झगरो, चेतन गारी (१७४३) नवकार मंत्र की महिमा, रेखता, चूनड़ी, नेमिनाथ की विनती आदि। कामा मे प्राप्त इन रचनाओं का सम्वादात्मकता बाह्याचार-खडन और भाषा की दृष्टि से विशेष महत्व है।

'नवकार मंत्र महिमा' में यद्यपि अभी ३३ कवित्त ही प्राप्त हुए हैं, किन्तु उनके भाषा-प्रवाह एवं काव्य-सौष्ठव से ऐसा लगता है कि कुछ अधिक कवित्त होने चाहिए। नवकार मंत्र महिमा मे जिनेन्द्र के नाम-स्मरण के महिमा-गान की अपेक्षा कवि का अनैतिकता के प्रति तीखा स्वर अधिक महत्त्वपूर्ण है। अपने समय मे व्याप्त तीर्थ-स्नान, शख वादन, बाहरी वेशभूषा, गोरखपंथियों के काया-कष्टो से विनोदी लाल को कबीर की सी चिढ़ है। इसीलिए उनकी वाणी मे उग्रता आ गई है—

द्वारिका के न्हाये काहा, अंग के दगाये कहा।
संख के बजाये काहा, राम पाइयतु है।
जटा के बढ़ाये काहा, भसम के चढ़ाये कहा।
धुनी के लगाये काहा, सिव ध्यायतु है॥
कान के फराये काहा, गोरख के ध्याये कहा।
सींगी के सुनाये काहा, सिद्ध ल्याहतु है।
दया धर्म जाने बिनु, अप्पा पहिचाने बिनु।
कहैयतु 'विनोदीलाल' मोष पाइयतु है॥३३॥

उत्तर मध्यकाल मे खुशामदप्रिय सामन्त और सम्पन्न लोग अपने चाटुकारों एवं धर्मान्धो को ही दान दिया करते थे। दान भी हाथी, घोड़े और सोने तक का कर्म काण्डी साधुओं और ब्राह्मणों को दिन-प्रतिदिन अच्छे भोजनों से इसलिए प्रसन्न रखा जाता था कि सामान्य निर्धन जनता को वे धर्म के भुलावे मे फंसाये रखें। इस तरह धर्म, धन एवं निरकुश सत्ता का त्रिगुट अधिसख्या जन समूह को अपने शिकजे में जकड़े हुआ था। ऐसे वातावरण मे बड़े-बड़े भोजों और दानराशि का विरोध करके सामान्य जन के प्रति दया रखने का निर्देश एक उल्लेखनीय प्रसंग है—

कहा भूमिदान, अस्वदान कहा कंचन के दान महा,
कहूं मोक्ष पाइहै।
ब्राह्मण जिमाये कोटि जाप के कराये, लख तीरथ के नहाये,
काकं सिद्ध आई है।
धरम न जानत, बखानत मन में आनत,
जो सुगुरु बताई है।
कहत 'विनोदीलाल' करनी सब विकार, जपो एक ठीक दया,
दया नहीं आई है॥

बाह्याचार का विरोध करते हुए भी जैन कवि विनोदी लाल यह अनुभव करते हैं कि यदि भाव को शुद्ध और मन को निर्विकार रखते हुए यदि अष्ट द्रव्य से पूजा की जाय तो उपयोगी है। भक्त को प्रभु पर चन्दन, पुष्प, अक्षत चढाते समय शान्ति, यश तथा अक्षयता का बोध होना चाहिए। दीप जलाते समय मोह-नाश तथा धूप चढ़ाते समय वसु कर्मों के विनाश की ओर दृष्टि रहनी चाहिए। भगवान की आरती उतारना, मन्दिर में नृत्य करना अथवा दुन्दुभी बजाना तभी सार्थक है जब उद्देश्य प्रेरित हो :—

नीर के चढ़ाये नीर भवदध पार हूजे,
चन्दन चढ़ाये दाह दुरति मिटाइये।
पुष्प के चढ़ाये पूजनीक होत जग मांहि,
अक्षत चढ़ाये ते सु अखं पद पाइये।
चरु के चढ़ाये क्षुधा रोग को विनाश होत,
दीप के चढ़ाये मोह तम को नसाइये।
धूप के चढ़ाये वसुकर्म को विनास फल,
अर्थ पूजे ते परम पद पाइये॥

हिन्दी जैन काव्य में बूचराज कृत चेतन पुद्गल कमाल, ब्रह्मरायमल्ल कृत परमहंस चौपई, बनारसीदास कृत मोह विवेक तथा भैया भगवतीदास का चेतन कर्म चरित आदि श्रेष्ठ रूपक काव्यों के माध्यम से जैन तत्त्व के मधुर विवेचन की परम्परा प्रारम्भ हुई थी। इसी परम्परा में विनोदीलाल कृत 'सुमति कुमति को झगरो' महत्वपूर्ण रचना है। भाषा के सरल प्रवाह और सवाद तत्व की प्रधानता से ग्रन्थ काफी रोचक बन गया है। 'कुमति' और 'सुमति' दोनों नारियाँ एक-दूसरी की निन्दा करते हुए 'चेतन' पति को अपनी ओर आकृष्ट करने का कैसा प्रयत्न कर रही है :—

कुमति कहै सुनि नाह बावरे, यह तोकूं फुसलावै।
यह दूती चंचल सिवपुर की, केतेक छंद यह आवै॥
हूं सूधी अपने घर बैठी, जाको अंक लगावै।
तो सों कंत पाय कै भोंदू, क्यों नहिं नांच नचावै॥
सुमति कहै इनको सूधापन, जांन परैगो तोकों।
वैहै डारि जरा मनमथ की, यह अपनी गोकों॥
अपनों कियो आप ही पैहैं, हूं काहे को रोकौं।
तब ही समझि परैगी चेतन, जब छांड़ेगो मोकों॥

फागुन सुदि १३ सवत् १७४३ मे लिखित 'चेतन गारी' मे आत्मा द्वारा जन्म-जन्मान्तरों मे काया कष्ट झेलने की निन्दा करते हुए उसे सिद्ध वधू से विवाह करने को कहा गया है:—

यह तो है बारे की बिगरी, अब कैसे जात सुधारी।
छांड़ों सग कुमति गणिका को, घर से देहु निकारि।
ब्याहो सिद्ध वधू सी वनिता, और निबाहन हारी।
तृष्णा छांडि गहो निज संवर, तजहु परिग्रह भारी॥

विनोदी लाल द्वारा साठ वर्ष की उम्र में लिखित नेमिनाथ की वीनती तथा एक अन्य रचना रेरवता खड़ी बोली के विकास-क्रम की दृष्टि से महत्वपूर्ण रचनाएँ है। जयपुर नरेश सवाई प्रताप सिंह जी निधि तथा उनके दरबारी कवि अमृतराम आदि द्वारा लिखित रेरवते विरह और गेयता की प्रधानता के कारण तो रोचक है ही किन्तु शब्द और क्रिया के रूपो में खड़ी बोली हिन्दी के प्रारम्भिक मानदण्ड भी है। अठारहवीं शताब्दी के पूर्वार्द्ध में लिखित निम्नांकित रेरवता मे राजुल के विरह को केवल विनोदीलाल जी ने ही नये रूप में प्रस्तुत किया है। मुगल काल मे फारसी शब्दो के सहज बोधगम्य हो जाने के कारण इस रेरवता में भी नफासत आ गई है :—

ब्याहों कूं आया श्री सिर सेहरा बंधाया।
सीस पंच कौ जावौं सब संग भी रहा है।
कहां गया नाथ मेरा, किया न फिगर फेरा,
परवर दिगार मेरा, दिल संग ही रहा है॥
पशु देख महर आई, सब धन धणी छुड़ाई,
इतनी खबर मैं पाई, गिरिनार गढ़ गया है।
मैं जाऊंगी जहाँ ही, जहाँ गया मेरा साईं,
मैं वे अज भरौंगी, मुझ कूं मुकति रहा है।
मरे चस्यौ दातारा, महताब सा उजारा,
जिन मन हरा हमारा, वे मन हँस रहा है॥
उसकी खबर जो ल्यावै, वोहोत सबाब पावै,
मुझकूं कोई बतावै, उसका वतन रहा है।
मुझे छांड़ि किधर भागा, दिलजांन वसै लागा,
आतस वियोग लगा, दिल खाक-२ हो रहा है।
खाने में क्या करूंगी, दिन रैन को मरोंगी,
मैं वे अजल भरौंगी, मुझको मुकति कहा है।
परहैजु मुझे दीना, उन्हीं के इश्क भी ना,
मैं खूब तुझे चीना, मश्ताक हो रहा है।
दिल जांन यार मेरा, किया बन में बसेरा,
करो नाथ फेरा मुकलन के वाह है।
अब खोप लाज नाहीं, मै जाऊँ कंत ताहीं,
नयौ दस्त मुझ गाहीं तो कौं सुख महा है।
लाचार हो रहौंगी, उसके कदम गहौंगी,
मैं वे अजल मरौंगी, मुझको मुकति महा है।
राजुल खड़ी पुकारे, जुगदस्त सीस मारै,
मुख नाथ का निहारै, क्या गुम हो रहा है।
मुश्ताक में दरस की, तेरे कदम परस की,
तुझे न मेरे तरस की, वे परद ही महा है।
तू मान अरज मेरी, मब आठ की मैं चेरी,
मैं पांव खाक तेरी, कब का गुस्सा गहा है।
लाल विनोदी गावै, तुझे महर भी न आवै,
मैं वे अजल मरौंगी, मुझको मुकति कहा है॥

११०-ए, रणजीतनगर, भरतपुर (राज०)

'द्वादशानुप्रेक्षा'

❑ डॉ० (कुमारी) सविता जैन

अनित्य :

सूर्य रश्मि है सोख लेती तत्क्षण ओस की बूंद ज्यों।
क्रूर मृत्यु की तांडव लीला चल रही चहुं ओर त्यों ॥
रूप यौवन थिर नहीं इक पल जहाँ इस देह का।
ध्रुव आत्मा को छोड़कर फिर उसी से प्रीति क्यों ?

अशरण :

काल खड़ा जब दे रहा दस्तक हमारे द्वार पर।
चतुरंगिनी सेनाएँ भी उस पल तेरी रक्षक नहीं ॥
ध्रुव आत्मा को कोई भी जब अस्त्र छू सकता नहीं।
फिर मरण की भीति क्यों, फिर शरण की प्रीति क्यों ?

संसार :

कस्तूरी मृग सम चंचल मन दौड़ रहा इस भव-वन में।
सुख की खोज यहाँ ऐसे ही जैसे जल की मरुथल में ॥
तृष्णाओं की दाहक ज्वाला शीतल होगी शुद्ध घनों से।
अनित्य और अशरण जग में पर पदार्थ से प्रीति क्यों ?

एकत्व :

एकाकी आया था जग में, एकाकी ही जाना है।
फिर क्यों लगाता द्वार पर है अर्गला अनुराग से ?
यदि वरण करना ही है तो शुद्धात्म ही इक मीत हो।
साथी कोई चुनना ही है तो एकत्व से ही प्रीति हो ॥

अनयत्व :

जब देह ही अपनी नहीं, तब गेह से फिर मोह क्यों ?
जब द्वेष भी अपना नहीं, तब शत्रु से फिर रोष क्यों ?
जब कर्म ही अपने नहीं, फिर कर्तृत्व की हो बुद्धि क्यों ?
जब राग भी अपना नहीं, फिर प्रिया से हो प्रीति क्यों ?

अशुचि :

नव द्वारों से रिसता रहता निसि वासर मल जिस देह से।
इत्र, तेल, फुलेल भी दुर्गन्धित हों पड़ जिस गेह में ॥
सातों जलधि की जलधारा भी धो सकती न जिस कीच को।
परम अशुचि उस तन से फिर निर्मल आत्मा की प्रीति क्यों ॥

आश्रव :

इष्ट वियोग अनिष्ट संयोग की ज्वाला में प्रतिपल जलता।
राग द्वेष से पीड़ित हो नित आस्रव का द्वार खुला रखता॥
शुभ और अशुभ पर दृष्टि रख बेड़ी में जकड़ा फिरता।
चौरासी की योनि में तू भ्रम वश भ्रमण किया करता॥

संवर :

कुछ भी शेष नहीं जग में मेरे करने के हेतु।
मैं संकल्प विकल्प किया करता केवल कर्मों के हेतु॥
कर्तृत्व बुद्धि को त्याग यदि बन जाऊँ ज्ञाता-द्रष्टा।
तब आस्रव का द्वार रुके बन जाऊँ संवर का कर्ता॥

निर्जरा :

पर से विमुख होकर हो जाऊँ निज स्वभाव में लीन।
डूबूं और रमूं उसी में, हो जैसे जल बिच मीन॥
ब्रह्मचर्य के साहचर्य से करूँ निर्जरा कर्मों की।
शुद्धोपयोग में ही हो जाए थिरता मन व इन्द्रियों की॥

लोक भावना :

षट् द्रव्यमय इस लोक में, दुर्लभ आत्मा ही है शरणभूत।
उसमें जो विचरण करे, वह परलोक से भयभीत क्यों॥
चाहें नरक हों या निगोद, फिर किसी से भीति क्यों ?
स्वर्ग और ग्रैवेयक से भी हो फिर किसी को प्रीति क्यों ?

बोधि दुर्लभ :

पूर्व संचित पुण्य से सब कुछ सुलभ संसार में।
नर देह उत्तम कुल हो कंचन कामिनी भी साथ में॥
बस तत्त्व का श्रद्धान ही है कठिन इस संसार में।
मर कर भी तू रमण कर इस बोधि दुर्लभ भाव में॥

धर्म :

वीतराग विज्ञानमय, शुद्ध बुद्ध, अरि नाशकारी।
परम चैतन्य, अखण्ड रूप, 'सविता' सम आलोक कारी॥
निर्विकल्प समाधि में हो लीन धर्म का जो धारी।
चार गतियों के दुःखों से फिर उसे हो भीति क्यों ?

७/३५, दरियागंज, नई दिल्ली-२

"दसवीं शताब्दी के अपभ्रंश काव्यों में दार्शनिक समीक्षा"

☐ श्री जिनेन्द्र कुमार जैन, शोध-छात्र

जन-जीवन की आचार संहिता का प्रतिबिम्ब तत्कालीन साहित्य मे देखने को मिलता है। साहित्य मानवीय विचारों भावनाओं एवं आकांक्षाओं का मूर्तरूप है। भारतीय इतिहास व संस्कृति के निर्माण, विकास व संरक्षण के क्रम में जैनधर्म-दर्शन की महत्वपूर्ण भूमिका रही है। भारतीय आध्यात्मिक पृष्ठभूमि मे जैनधर्म-दर्शन उत्पन्न हुआ, विकसित हुआ और समृद्ध हुआ। जैनसाहित्य संस्कृत, प्राकृत व अपभ्रंश के साथ-साथ अन्य क्षेत्रीय भाषाओ में भी लिखा हुआ प्राप्त होता है। मध्ययुगीन जैन साहित्य धार्मिक एवं दार्शनिक मान्यताओं के परीक्षण का युग था। अतः इस दृष्टि से १०वी शताब्दी के जैनाचार्यों ने अपभ्रंश साहित्य मे तत्कालीन धार्मिक व दार्शनिक तत्वो को प्रतिपादित किया है। उन्होंने दार्शनिक तत्वों के मण्डन व खण्डन की परम्परा का अनुसरण किया है। उन्होंने दार्शनिक निबन्ध में १०वी शताब्दी के अपभ्रंश साहित्य मे प्रतिपादित धार्मिक व दार्शनिक तत्वों का समालोचनात्मक अध्ययन प्रस्तुत करने का प्रयत्न किया गया है।

मध्ययुग वैचारिक क्रान्ति का युग था। इस युग के साहित्य में वैचारिक असमानता व धार्मिक एवं दार्शनिक विरोध तथा वैमनस्य के सन्दर्भ प्राप्त होते है। धर्म एव दर्शन के क्षेत्र में अपनी धार्मिक एव दार्शनिक अवधारणाओ की पुष्टि एव विरोधी अवधारणाओं के खण्डन की प्राचीन परम्परा इस युग के जैनाचार्यों मे भी परिलक्षित होती है। उन्होने अन्य भारतीय दर्शनों के साथ-साथ सामाजिक अन्धविश्वासों, बाह्य आडम्बरो व दूषित धारणाओ पर टिप्पणियाँ प्रस्तुत की हैं। किन्तु अनेकान्त और स्याद्वाद जैसे सिद्धान्तो के परिप्रेक्ष्य मे उन्हे नाप-तौलकर समन्वयात्मक दृष्टिकोण प्रस्तुत करना इन जैनाचार्यों की अपनी विशेषता कही जा सकती है।

प्राच्य विद्याओं के शोध-परक विश्लेषण एवं गहन अध्ययन से यह सिद्ध हो गया है कि अपभ्रंश अन्य भाषाओं की तरह एक स्वतंत्र भाषा थी। इसका उद्भव ईसा की तीसरी शताब्दी[1] एव विकास ईसा की छठी शताब्दी से माना जाता है।[2] अपभ्रंश साहित्य का पूर्वमध्यकाल (ई० ६०० से ई० १२०० तक) साहित्य-सृजन का स्वर्ण युग माना जाता है। देवसेनकृत सावयधम्मदोहा, पद्मकीर्तिकृत पासणाहचरिउ, पुष्पदन्तकृत महापुराण, णायकुमारचरिउ, जसहरचरिउ, हरिषेणकृत धम्मपरिक्खा मुनिकनकामरकृत करकण्डचरिउ तथा मुनिरामसिंहकृत पाहुड़दोहा आदि १०वी शताब्दी की प्रमुख कृतियां है। इनमें जैन धर्म एवं दर्शन तत्वमीमांसा, ज्ञानमीमांसा, आचारमीमांसा, प्रमाण-मीमांसा,अहिंसा, कर्म, पुनर्जन्म एवं मोक्ष विषयक सामग्री को प्रस्तुत किया गया है।

वैदिक दर्शन के आत्मा सम्बन्धी विचार एवं यज्ञ प्रधान क्रियाओं, दर्शन के भौतिकवाद एवं तत्वमीमांसा, बौद्ध दर्शन के आत्मा, निर्वाण, क्षणिकवाद व प्रतीत्यसमुत्पादवाद, सांख्यदर्शन के पुरुष व प्रकृति के स्वरूप एवं सम्बन्ध तथा कारण-कार्यवाद (सत्कार्यवाद) आदि प्रमुख सिद्धान्तों का विवेचन इन काव्यों में प्राप्त है। वैशेषिक, न्याय, मीमासा, शैव आदि दर्शन तथा अन्य प्रचलित मान्यताओं का भी समीक्षात्मक इस शताब्दी के अपभ्रंश कवियो ने किया है।

जैन धर्म एवं दर्शन :

जैनधर्म विरक्तिमूलक सिद्धान्तों पर आधारित है। इसीलिए अपभ्रंश कवियो ने श्वेतबाल, टूटता हुआ तारा एव कामवासना हेतु परपुरुष का ससर्ग आदि प्रसंगों को वैराग्य का कारण बताया है। जैनधर्म एवं दर्शन के अहिंसा, आचारमीमासा, तत्वमीमासा, ज्ञानमीमांसा, कर्म, पुनर्जन्म, आत्मा, मोक्ष व अनेकान्तवाद आदि सिद्धान्तों

को व्यापक रूप से इन काव्यों में प्रस्तुत किया गया है।

वैदिकी हिंसा के निरसन के संदर्भ मे अहिंसा सिद्धांत की महत्ता प्रस्तुत की गई है।[३] जसहरचरिउ में वर्णित स्वप्नदोष को मिटाने के लिए जब माता ने नाना जीवों की बलि करने को कहा तब यशोधर उत्तर में हिंसा की निन्दा करते हुए कहता है—

पाणिवहु भडारिए अप्पवहु,
किं किज्जइ सो दुक्कियणिवहु।
कहिं चुक्कइ माणउ पसु हणिवि,
पावेण पाउखज्जइ खणिवि ॥[४]

"प्राणियों का बध आत्मघात ही है। अतएव इस प्राणी का हिंसा रूपी दुष्कर्म का पुञ्ज क्यों एकत्रित किया जाये? पापी को उसका ही पाप खा जाता है।" अहिंसा को जगत में परमधर्म व परमार्थ कहा गया है। अत: जीवों की हिंसा नहीं करनी चाहिए।[५] हिंसक प्राणी नीच, दरिद्री व नरकगामी होते हैं।[६]

धर्म श्रमण व श्रावक के भेद से २ प्रकार का कहा गया है।[७] इसी प्रकार व्रत के भी श्रमणव्रत (महाव्रत) तथा श्रावक या ग्रहस्थव्रत (अणुव्रत) ये दो भेद होते हैं। इन व्रतों को श्रमणो द्वारा सूक्ष्मरूप (बडी कठोरता पूर्वक) पालन करने के कारण महाव्रत व श्रावको द्वारा स्थूलरूप से पालन करने के कारण अणुव्रत कहते हैं।[८] श्रावक धर्म हेतु जैनधर्म १२ व्रतों (५ अणुव्रत, ३ गुणव्रत व ४ शिक्षा-व्रत) के पालने का विधान है।[९] इसी प्रकार आचार मीमांसा के अन्तर्गत १२ तप, ५ आचार, त्रिरत्न, ५ समितियाँ, ३ शल्य और सलेखना आदि सिद्धान्तो का भी पालन करने व चार कषाय तथा सप्तव्यसनो आदि के सर्वथा त्यागने का निर्देश दिया गया है।[१०]

गुण व पर्याय से युक्त वस्तु द्रव्य कहलाती है।[११] वस्तु या पदार्थ मे अनेक धर्म या गुण होते हैं। आचार्यों ने पदार्थ की अनेकान्तिकता सिद्ध करने के लिए सप्तभंगी या स्याद्वाद जैसे सिद्धान्त का प्रतिपादन किया है। वस्तु के गुण विशेष को प्रमुख मानकर अन्य गुणों को गौण मानना ही स्याद्वाद है। आचार्य पुष्पदन्त ने अपने काव्यो मे इस सिद्धान्त का उल्लेख किया है।[१२] इस जगत को नश्वर मानते हुए ससार के प्रपंच को त्यागने का निर्देश आचार्यों द्वारा किया गया है। अपभ्रंश महाकवि पुष्पदन्त ने कहा है कि :—

जहिं णिद्द ण भुक्ख ण भोयरइ,
देहु ण पंचिदियहु सुहु।
जहिं कहि मि ण दीसइ णारिमुहु,
तहो देसहो लहु लेहि महु ॥[१३]

जहां न नींद हो, न भूख हो, न भोगरति हो, न शारीरिक शुद्धि हो और न ही नारी दर्शन हो।" अर्थात् ऐसी अवस्था मोक्ष प्राप्ति पर होती है। अतः वह (कवि) मोक्ष की कामना करता है। मोक्ष प्राप्ति के लिए त्रिरत्न-रूपी प्रथम सोपान का आश्रय अति आवश्यक है।[१४] इस युग के अपभ्रंश कवियों ने जैनधर्म व दर्शन के आत्मा, मोक्ष कर्म[१५] व पुनर्जन्म[१६] आदि सिद्धान्तो का भी वर्णन किया है।

वैदिक दर्शन की समीक्षा :

वैदिक दर्शन आस्तिक दर्शन है। क्योंकि वह जगत मे वेदों को ही सत् शाश्वत व मूल मानता है।[१७] उसके मता-नुसार वेदों को किसी ने नहीं बनाया। अतः वेद अपौरुषेय (स्वयभू) हैं। वेदों की ऋचाओ को भी जगत में किसी ने नही बनाया।[१८] किन्तु जैनाचार्यों को "वेद अपौरुषेय है" उनकी यह बात उचित प्रतीत नही हुई। इसीलिए उन्होंने कहा है कि :—

ण हि सयमेव थंति पंतीए णहे मिलिऊण सद्दया।[१९]

"शब्दों की पक्तिया स्वय आकाश में मिलकर स्थित नही रह सकती।" बिना जीव के कही (प्रमाणभूत) शब्द की प्राप्ति हो सकती है? बिना सरोवर के नया कमल कहाँ से उत्पन्न हो सकता है? अत: जगत मे वेद प्रमाण (अपौरुषेय) नही हो सकते।[२०]

वैदिक दर्शन में पशुबलि व मांस भक्षण को भी 'मोक्ष प्राप्ति का साधन' कहा गया है।[२१] यदि इस कर्म से भी मोक्ष की प्राप्ति होती है तो फिर धर्म से क्या? शिकारी की ही पूजा (सेवा) करनी चाहिए।[२२] याज्ञिकी की हिंसा मांस-भक्षण तथा रात्रिभोजन को पुण्य का प्रतीक मानने वाले वेद पुराण सम्बन्धी मत की समीक्षा करते हुए जैना-चार्यों ने कहा है कि—मृगों का आखेट करने वाले जो मांस-भक्षण से अपना पोषण करते हैं, वे अहिंसा क

घोषणा क्या कर सकते हैं।[३४] पशुबलि-हिंसा के विरोध में आचार्य सोमदेव सूरि[३५] ने भी अपने यशस्तिलक चम्पू में विशद वर्णन किया है। पुष्पदन्त ने भी इस प्रकार की वैदिक मान्यता को उचित नही माना है, क्योंकि हिंसा करने वाले महापापी व मायाचारी होते हैं।[३५] इसलिए कवि ने वेदों का अनुसरण करने वाले को नरकगामी कहा है।[३६]

ब्राह्मणधर्म की समीक्षा करते हुए कहा गया है कि—

"हा हा बम्भणेय मारावियि, रायहु रायवित्ति दरिसाविय।
पियरपक्खु पच्चक्खु णिरिक्खइ मंसखडु दियपडिय भक्खइ॥
धोयंतउ दुद्धे पक्खालउ होइ कहिं मि इगालु ण धवलउ।
एहु देहु किं सलिल धुप्पइ हिंसारम्भे डम्भे लिप्पइ॥"[३७]

"पशुओं का वध करके पितृपक्ष पर जो द्विज-पंडित मास खाते है, हिंसा दम्भ तो उनसे पूर्णतः लिपटे है। तब उनके द्वारा देह को जल से क्या होगा? कहीं अगार दूध से धोने पर श्वेत हो सकता है?" आचार्य कहते है कि—वैदिक मान्यतानुसार यदि यज्ञ मे बलि दिए जाने वाले प्राणी (जीव) स्वर्ग के अधिकारी होते है तो लोगो को अपने पुत्रों व स्त्रियों सहित स्वय को भी बलि चढ़ जाना चाहिए।[३८]

वैदिक मान्यतानुसार तत्व एक ही है—'ब्रह्म' जो नित्य है।[३९] इस मान्यआ की समीक्षा करते हुए कवि कहता है कि—"यदि ब्रह्म एक व नित्य होता, तो जो एक देता है उसे दूसरा कैसे लेता है? एक स्थिर है तो दूसरा कैसे लेता है? एक स्थिर होता है तो दूसरा दौड़ता है। एक मरता है तो अनेक जीवित रहते हैं। अतः जो नित्य है, वह बालकपन, नवयौवन व वृद्धत्व कैसे प्राप्त करेगा[४०] इत्यादि।

चार्वाक दर्शन :—

केवल प्रत्यक्ष को ही प्रमाण मानने वाले भौतिकवादी या जड़वादी (चार्वाक दर्शन सुख को ही जीवन का परम लक्ष्य मानते है। चार्वाक दर्शन के अनुसार 'जीवो नास्ति' अर्थात जीव नहीं है।[४१] वह शरीर से पृथक जीव की सत्ता स्वीकार नहीं करता बल्कि शरीर को ही आत्मा मानता है। क्योंकि शरीर से पृथक आत्मा मूर्तरूप में दिखाई नहीं देती। अतः यह दर्शन शरीर पर्यन्त ही जीव की सत्ता स्वीकार करता है। इस मत की पुष्टि करते हुए कवि कहता है कि—"जिस प्रकार पुष्प से गंध भिन्न नहीं है, किन्तु पुष्प के नष्ट होने पर गध स्वतः नष्ट हो जाती है। उसी प्रकार शरीर के नष्ट होने पर जीव भी स्वतः नष्ट हो जाता है।[४२] इस मत का खण्डन करते हुए जसहरचरिउ में कहा गया है कि—

"जो आहारदेहु सो अण्णु जिमइ गहिओ अचेयणो।"[४३]

'यह शरीर जीव से भिन्न व अचेतन है।" जिस प्रकार चम्पक पुष्प की वास तेल में भी लग जाती है और गध की पुष्प से पृथक सत्ता सिद्ध होती है, उसी प्रकार देह और जीव की भिन्नता देखी जाती है।[४४] जीव की सत्ता के संदर्भ में कहा गया है कि यदि जीव शरीर से पृथक है, तो क्या उसे किसी ने देखा है।[४५] इसके प्रत्युत्तर ये कहा गया है कि—

दूरा एन्तु सद्दु णउ दीसइ पर कणम्भि लग्गओ।
एज्जइ जेम तेम जगि जीउ वि बहु जोणीकुलं गओ॥[४६]

"दूर से आता हुआ शब्द यद्यपि दिखाई नही देता। परन्तु जिस शब्द का कान मे लगने पर अनुमान-ज्ञान हो जाता है, उसी प्रकार नरक-योनियों मे जीव की गति होती। अतः जीव अनुमान से सिद्ध है।"

चार्वाक दर्शन के अनुसार पृथ्वी, जल, अग्नि और वायु ही जगत के मूल तत्व हैं। इन्ही भूतचतुष्टयों से अर्थ और काम पुरुषार्थ उत्पन्न होते है। कोई परलोक नहीं है, मृत्यु ही निर्वाण है।[४७] चार्वाक दर्शन के अनुसार पृथ्वी, जल, अग्नि और वायु के परस्पर ससर्ग से ही जीव की उत्पत्ति होती है। अर्थात् उसकी सत्ता है।[४८] इस मत की समीक्षा करते हुए अपभ्रंश कवि कहता है कि—उन चारो में परस्पर विरोधी गुण होने के कारण इनका सयोग कैसे हो सकता है?

जल जणहं विरोहु ससहावे ताइं थंति किह उवके भावे।
पवणु चवलु महि थक्क थिरत्ते, हा किं झखिउ सुरगुरुपुत्तें।[४९]

"जल और अग्नि स्वभाव से विरोधी गुण युक्त हैं, फिर वे एक स्वरूप कैसे रह सकते हैं? पवन चंचल है और पृथ्वी अपनी स्थिरता लिए हुए स्थिर है।" यदि जीव चार भूतों के संयोग से उत्पन्न है तो सभी जीवों का स्वभाव व शरीर एकसा क्यों नहीं है। अतः यह एक वितण्डामात्र है।[५०] यदि भूतचतुष्टय के सम्मिलन मात्र

से जीव की उत्पत्ति सिद्ध है, तो औषधियों के क्वाथ (काढ़ा) से किसी पात्रमे जीव-शरीर उत्पन्न होना चाहिए।[४१]

अपभ्रंश कवियो ने भी चार्वाक दर्शन के "प्रत्यक्ष ही प्रमाण है" नामक मत की समीक्षा विभिन्न प्रमाणों द्वारा की है। इसके अनुसार मात्र दृष्टिगत पदार्थों की सत्ता नहीं है, अथवा जो नेत्रों से दिखाई नही देते वे पदार्थ नही है। तो हमारे पूर्वजों (पितामह आदि) को जिन्हें हमने नही देखा, उनकी भी सत्ता नही स्वीकारी जा सकती।[४२] जबकि हमारी सत्ता होने पर पूर्वजो की सत्ता-सिद्धि के लिए आगम-प्रमाण माना जाए, तो भी चावार्क दर्शन का यह मत स्वतः खण्डित हो जाता है।[४३]

बौद्ध दर्शन की समीक्षा :—

जगत को नश्वर, क्षणविध्वंसी व अनित्य मानने वाला बौद्ध-दर्शन आत्मा की नित्य सत्ता भी स्वीकार नहीं करता है। जीव अनित्य इस मायने मे है कि वह क्षणिक है, प्रत्येक क्षण वह परिवर्तित होता रहता है। यदि 'पचस्कन्ध'[४४] को आत्मा मान भी लिया जाये तो उसे क्षणिक ही माना जायेगा, नित्य नही। इसलिए आत्मवादी मतो द्वारा जीव को नित्य मानना उचित नही है।[४५] बौद्ध-दर्शन में जीव को शरीरपर्यन्त माना गया है किन्तु चार्वाक से इस मत मे भिन्न है कि इस दर्शन की यह यह मान्यता है—शरीर के नष्ट होते ही जीव पचस्कन्ध समुच्चय (रूप, वेदना, सज्ञा, सस्कार एवं विज्ञान) का समूह होने के कारण अन्य रूप धारण कर लेता है।

बौद्ध-दर्शन मे यद्यपि आत्मा को समस्त क्रियाओं का मूल माना गया है फिर भी क्षणिकवाद के कारण आत्मा की पृथक एव नित्य सत्ता स्वीकार नही की गई।[४६] इस मत का खण्डन करते हुए कहा गया है कि क्षणिकवाद सिद्धात के कारण आत्मा की नित्य सत्ता स्वीकार न कर जीव को क्षण-क्षण में परिवर्तनशील माना जाये तो छः माह की व्याधि (रोग) की वेदना (दुःख) कौन सहन करता है।[४७] महापुराण[४८] राजा महाबल के एक मन्त्री द्वारा क्षणिकवाद का समर्थन किया गया है। जिसका खण्डन अन्य मत्री स्वय बुद्ध नामक ने करते हुए कहा है कि—

जइ दव्वइं तुह खणभगुराइं तो खणधसिणि वासणणकाइं।[४९]

"द्रव्य को क्षणस्थायी मानने से वासना (जिसके द्वारा पूर्व मे रखी गई वस्तु का स्मरण होता है) का भी अस्तित्व नहीं रह जाता है।" बौद्ध दर्शन की मान्यता है कि वासना के नष्ट होने पर ज्ञान प्रकट होता है। किन्तु वासना भी पचस्कन्धों से भिन्न न होने के कारण क्षणमात्र मे नष्ट हो जाती है। अतः उन्ही की यह उक्ति क्षणिकवाद को भग कर देती है।[५०] इसी प्रकार जो जीव घर से बाहर जाता है क्षणिकवाद के सन्दर्भ मे देखे तो वही जीव घर कैसे लौटता है? जो वस्तु एक ने रखी, उसे दूसरा नही जान सकता।[५१]

ससार मे प्रत्येक वस्तु की उत्पत्ति का कोई न कोई कारण अवश्य है। "अस्मिन् सति इदं भवति" अर्थात् इसके होने मे यह होना—इस प्रकार का भाव ही प्रतीत्यसमुत्पादवाद (कारण-कार्यवाद) कहा जाता है। बुद्ध के चार आर्य सत्यों के दुःख रूपी कार्य की उत्पत्ति व विनाश द्वादश निदान (अविद्या-अज्ञान आदि) रूपी कारण पर ही निर्भर है। बौद्ध दर्शन के प्रस्तुत 'वाद' सिद्धान्त की समीक्षा करते हुए महाकवि पुष्पदन्त ने कहा है.—

सतइ सताणइ सगाहयइ, गोवग्गामि कहिं दुद्धइ दहियइ।
दीवक्खए कहिं लब्भइ भजणु; सच्चउ भासइ णोमिणिरजणु।[५२]

"यदि क्षणविनाशी पदार्थों मे कारण-कार्यरूप धारा प्रवाह माना जाए, वे जैन—गाय (कारण) से दूध (कार्य) एव दीपक (कारण) से अजन (कार्य) की प्राप्ति माना जाये, तो प्रतिक्षण गौ और दीपक (कारण) के विनष्ट हो जाने पर दूध एव अजन (कार्य) की प्राप्ति कैसे हो सकती है।[५३]

(शेष अगले अंक मे)

सन्दर्भ-सूची

१. पातञ्जलि—महाभाष्य।

२. (क) भामह—काव्यालकार, १।१६।२८.
(ख) इडियन एन्टिक्वेरी, भाग १० अक्टू० ८८ पृ. २८४

३. जसहरचरिउ (पुष्पदतकृत) संपादक व अनु० डा० हीरालाल जैन, भारतीय ज्ञानपीठ १९७२.

४. वही—२।१४।६-७

५ परमत्थु अहिंसा धम्मुजए, मारिज्जइ जीउ ण जीवकए। जसहरचरिउ, २।१५।६

६. ते दालिद्दिय इह उप्पज्जहिं, णरय-पडता केण धरिज्जहिं। ३।८।८।३. पासणाहचरिउ(पद्मकीर्तिकृत)—

संपा० एवं अनु० प्रफुल्लकुमार मोदी, प्रकाशक प्राकृत ग्रंथ परिषद्, वाराणसी १९४४.

७. ओ घम्मतरु राय, सोहोइ दुहुभेय—९।२०।३. करकण्डचरिउ (मुनिकनकामरकृत)–सपा० व अनु० डा. हीरालाल जैन, भारतीय ज्ञानपीठ, १९४४.

८. करकण्डचरिउ—९।२२।२-३

९. (क) पासणाहचरिउ ३।९-११
(ख) करकण्डचरिउ–९।२२-२३

१०. (क) महापुराण (पुष्पदंतकृत) सधि ७, कड्वक १४, सपादक डा० पी. एल. वैद्य तथा अनुवादक डा. देवेन्द्र-कुमार जैन, भारतीय ज्ञानपीठ। ९७९.
(ख) जसहरचरिउ ३।१७. (ग) करकण्डचरिउ ९।२१।९

११. 'गुणपर्यायवद् द्रव्यम्' तत्वार्थसूत्र(उमास्वातिकृत)५।३७

१२. (क) महापुराण ३।२।७. (ख) णायकुमारचरिउ (पुष्पदन्तचरिउ) १।१।९, सपा. व अनु० डा. हीरालाल जैन भारतीय ज्ञानपीठ १९९२.

१३. णायकुमारचरिउ ९।१५

१४. 'मोक्खमग्गु सुन्दर मुणसु तिण्णि वि दंसणणाणचरित्ताइ णायकुमारचरिउ ९।१३।१४.

१५. (क) पासणाहचरिउ ६।१५ (ख)महपुराण ध।७, ७।१३

१६. (क) महापुराण ९।६, (ख) करकण्डचरिउ ५।११

१७. जगिवेउ मूल धम्मधिवहो''' । जसहरचरिउ २।१५।८

१८. कि केणवि जयम्भि ण कयाउ रियाउ भणन्ति णिद्दया। जसहरचरिउ ३।२९ १

१९. जसहरचरिउ ३।२९।२

२०. वेउ पमाणु ण होउ जएविणु जीवेणसइ कहिलब्भइ। विणुसरेणकहि णवकमलु विण धेणुयए गयणु कि युब्भइ। —णायकुमारचरिउ ९।८।८-९

२१. पसुहम्मइ फलु जिम्मइ सग्गहोमोक्खहो गम्मइ। —जसहरचरिउ २ १५।१०

२२. जइ एण जि कम्मे ता कि धम्मे पारधिउ सेविज्जइ। —महापुराण ७।२।१२

२३. मिगमारउ अहिंसा कि धोसइ,
जो मासे अप्पाणउ पोसइ। णायकुमारचरिउ ९।८।१

२४. यशस्तिलकचम्पू—आश्वासचतुर्थ।

२५. जसहरचरिउ २।६।१४. २६. वही ३।११।१०.

२७. महापुराण ७।८।१०-१३.

२८. पसुसग्गुगच्छन्ति। दीखन्ति सकयत्थ तो अप्पयं तत्थ। होमेवि मंतेहिं महुं पुत्तकतेहिं। महापु. ९९।३२।२१-२३

२९. णायकुमारचरिउ ९।१०।३. ३०. वही ९।१०।३-५.

३१. चन्द्रप्रभचरित (वीरनन्दिकृत) २।५४।५३.

३२. जसहरचरिउ ३।२१।१२-१३ ३३. वही ३।२१।१.

३४. चपयवासु विलग्गउ तेल्लहो, एमगधु जिह भिण्ण फुल्लहो तिह देहहो जीवहो भिण्णत्तणु दिट्ठउ कि किर चवहि-जिड़त्तणु ॥ —जसहरचरिउ २।२१।१७

३५ ......इंतुड दीसइ जीउ पहतरि। जसहरच० २।२१।१७

३६. जसहरचरिउ ३।२२।१-२.

३७. प्रबोधचन्द्रोदय (कृष्णमिश्रकृत) रूपक के द्वितीय अक मे दृष्टव्य।

३८. महापुराण २०।१७

३९. (क) णायकुमारचरिउ ९।११।१-२.
(ख) चवलयरु पवणु थिरजउ धरित्ति, असरुवह कहिं नेलावजुत्ति ॥ —महापुराण २०।१८।८

४०. णयकुमारचरिउ ९।११।४-६.

४१. महापुराण २०।१८।१०-११. ४२. वही २३।१६.

४३. यशस्तिलकचम्पू (दीपिक) उत्तरार्ध पृ० २०४.

४४. मलिन्द प्रश्न. ४५. ईश्वरप्रत्यभिज्ञाविमर्शिनी-१।२।८

४६. ····· जगु णिद्दिट्ठउ खणविद्धंसणु।
—णाय कुमार चरिउ, ९।५।२

४७. खणि खणि अण्ण होइ जइ चेयण ताको मुणइ छमासं वेयण। —जसहचरिउ, ३।२६।३

४८. महापुराण-२०।१९। ८-१० ४९. वही-२०।२०।५

५०. वासणाइ जइणाणु पयासइ तो
वासण खणि कि णउ णासइ।
कि सा पचह खधहं भिण्णी जीव
सिद्धि एमइ पडिवण्णी ॥
—जसहरचरिउ, ३।२६।४-५

५१. खणि-खणि अण्णु जीउ जइ जायउ,
तो वाहिरे गउ किह घरु आयउ।
अण्णे यवियउ अण्णु ण याणइ,
सुण्णु वि वाइ काई वक्खाणइं ॥

५२. णायकुमारचरिउ ९।५।८-९

५३. सर्वदर्शन सग्रह (माधवाचार्यकृत) पृ० ६३-६४.

यह शोचनीय अवश्य है कि जब वर्तमान विद्यमान प्राकृतज्ञ जिस व्याकरण को (के आधार पर) पढ़कर प्राकृतज्ञ बने हैं वह व्याकरण आर्ष-निर्माण के बहुत (शताब्दियों) बाद आर्षों के आधार पर बना है—तब वे पूर्ववर्ती आगमों में व्याकरण द्वारा विभक्त किसी एक भाषा का निर्धारण कैसे कर सकेंगे, जब कि आगमों में परवर्ती विभिन्न जातीय व्याकरणों से सिद्ध विभिन्न शब्दरूप मिलते हैं।

फिर इसका निर्णय एक-दो दिन का विषय भी नहीं—लम्बे विचार का विषय है। फलतः एक-दो दिन के कमीशन बिठाने की अपेक्षा हम उचित समझते है कि विद्वान् इस विषय में खोज करें और सप्रमाण मैटर (लेख) तैयार करें। वीर सेवा मन्दिर उपयुक्त लेखों पर उपयुक्त पुरस्कार भेंट करेगा। इससे लेखकों को विचार करने का अवसर भी मिलेगा और लेखों का संग्रह भी होगा। लेख सादर आमंत्रित हैं। हमारी भावना विरोध की नहीं, अपितु हम चाहते हैं कि—प्राचीन कोई प्रति आदर्श मानी जाकर वैसेही पूरे पाठ छपाए जांय और पाठ-भेद या अपना अभिमत हो तो टिप्पण में दिए जांय।

ग्रन्थों का सम्पादन और सुझाव :

जब हमने मूल-आगम के बदलाव को रोकने की बात उठाई तो एक महाशय ने शत-प्रतिशत् हमारा समर्थन करके भी हमें बाद में सलाह दी कि इस विरोध के बजाय यदि आप किसी ग्रन्थ का सम्पादन करके कोई आदर्श उपस्थित करते तो और अच्छा होता। शायद उन्होने हमारी कमजोरी और हमारे दृष्टिकोण को नही समझा, जो वे हमारी जाँच मे उतर पड़े। हम बता दें कि हम इतने योग्य नही कि आगम ग्रन्थों पर कलम चला सकें। फिर हमारा यह धन्धा भी तो नही। हमारी दृष्टि से जब कई बड़े बड़े विद्वान् जिनग्रथों के कई-कई सपादन करके आदर्श उपस्थित कर चुके हों और उन्ही सम्पादनों से किसी को आदर्श न मिल सका हो, तब हम किस खेत की मूली जो आदर्श दे सकें? फिर, हम तो एक-एक ग्रन्थ के अनेक-२ संपादनों के पक्ष में भी नहीं। क्योंकि जितने संपादन उतनी विविधताएँ। कई बार तो पाठक को ऐसा भ्रम तक हो जाता है कि कौन-सा ठीक है, और कौन-सा नही। साथ ही पाठक संपादकों के शब्दजाल में भी उलझ जाता है। उदाहरण के लिए समयसार के संपादनों को ही लीजिए। कितने-कितने उद्भट विद्वान् समयसार के पृथक्-पृथक् कितने ही संपादन कर चुके हैं फिर भी कार्यसिद्धि नही—विसंवाद ही हैं—किसी को कोई ठीक है और किसी को कोई?

काश, हमारा प्रयत्न समयसार आदि के मूल और आचार्यों कृत उसकी संस्कृत टीकाओं के शब्दार्थ मात्र के अनुसरण मात्र मे होता—हम लोगों को शब्दशः अर्थ देते—उन्हें अपने भाव न देकर आचार्यों के शब्दशः मन्तव्य समझाते तो विवादों से तो बचे ही रहते—संपादनों मे पुन-पुनः प्रभूत द्रव्य भी व्यय न हुआ होता और जिनवाणी का मूलरूप भी सुरक्षित रहा होता।

इसका अर्थ यह नही कि हम संपादनों के खिलाफ है—सम्पादन तो हम चाहते है—वे हों और जानकार योग्य संपादको से हो और ऐसे ग्रन्थो के हों जो प्रकाश मे न आ सके हों। जैसे किसी समय भाषा के दिग्गज विद्वानो द्वारा षट्खण्डागम का सपादन हुआ था। आदि।

एक सुझाव यह भी था कि समाज में वैसे ही बहुत से विवाद हैं आप भाषा का नया विवाद क्यों छेड़ते हैं? यह सुझाव भी उल्टा होने से हमे रास नहीं आया। हम सोचते है कि कैसे कैसे लोग हैं—जिन्हे हमारा आगम-रक्षा का प्रसंग तो विवाद दिखा और आगम के मूल-लोप जैसे श्री गणेश के समय और आज भी वे मौन साधे रहे? हम नहीं समझे उनकी क्या साध थी या उन्हें किसका क्या भय या लालच था? जो वे जिनवाणी के लोप को गुप-चुप देखते रहे? इसे वे ही जानें। जरा, आप भी सोचिए, कि ठीक क्या है? हमारा कोई आग्रह नही—विचार है।

—संपादक

श्री भारतवर्षीय दि० जैन विद्वत्परिषद् का पत्र

दिनांक २३-६-८८

श्रीमान् ला० सुभाषचन्द जी जैन
(महासचिव) एवं
श्रीमान् पं० पद्मचन्द जी शास्त्री एम०ए०
संपादक "अनेकान्त"
श्री वीर सेवा मन्दिर
दरियागंज, नई देहली

सादर जयजिनेश।

दिगम्बर जैन आगम ग्रन्थों में मूल शब्दों के बदलने की प्रक्रिया के विषय में अध्यक्ष महोदय के पास जयपुर भेजा हुआ आपका पत्र प्राप्त हुआ। मैं षट्खण्डागम स्वाध्याय हेतु ललितपुर में आयोजित स्वाध्याय शिविर के समापन के अवसर पर ३ दिन ललितपुर रहा। वहाँ माननीय डा० पन्नालाल जी, डा० कोठिया जी तथा अन्य कई विद्वानों से इस विषय पर चर्चा हुई। आगमों की भाषा कौन-सी प्राकृत है, यह तो एक गम्भीर विचारणीय बात है। इस पर समाज के सुप्रसिद्ध प्राचीन शोध संस्थान "वीर सेवा मन्दिर" को प्राकृत के अधिकारी विद्वानों को एक साथ बिठाकर उनसे निर्णय कराना चाहिए। ताकि हमेशा के लिए यह विषय सुलझ जाय।

प्राचीन आर्ष ग्रन्थों के संपादन में शब्दों के बदलने के विषय में—

"प्राचीन ग्रन्थों के संपादन की सर्वमान्य परिपाटी यह है कि उनके शब्दों में उलटफेर न करके अन्य प्रतियों में जो दूसरे रूप मिलते हों, परिशिष्ट में या टिप्पणी में उनका उल्लेख कर दिया जाय। यदि सम्पादक महोदय को उस विषय में अपनी ओर से किसी नये रूप का सुझाव देना है तो वह भी नीचे टिप्पणी में दे दिया जाय। ग्रन्थ लेखक के समय भाषा और व्याकरण की क्या स्थिति थी और लेखक ने किस रूप में शब्दों का प्रयोग किया है उसकी सुरक्षा हेतु छेड़छाड़ न करना ही सम्यक् मार्ग है। इसी मार्ग का संपादन में अनुसरण होना चाहिए।"

"भाषाओं के विकास का अपना इतिहास है। क्षेत्र और काल के भेद से उनके रूपों में भेद होना भी स्वाभाविक है। २००० वर्ष के लम्बे समय के बाद उनकी सही स्थिति पर पहुंच पाना अत्यन्त कठिन है। ऐसी दशा में जो लिखा है उसमें परिवर्तन न करके अपनी राय टिप्पणी में दिया जाना ही उन ग्रन्थों की प्राचीनता और वास्तविकता की रक्षा का परिचायक है।" शेष शुभ,

आपका अपना :
हीरालाल जैन 'कौशल'
मंत्री

आजीवन सदस्यता शुल्क : १०१.०० रु०
वार्षिक मूल्य : ६) रु०, इस अंक का मूल्य : १ रुपया ५० पैसे

विद्वान् लेखक अपने विचारों के लिए स्वतन्त्र होते हैं। यह आवश्यक नहीं कि सम्पादक-मण्डल लेखक के विचारों से सहमत हो। पत्र में विज्ञापन एवं समाचार प्रायः नहीं लिए जाते।

Regd. with the Registrar of Newspaper at R. No. 10591/62

वीर-सेवा-मन्दिर के उपयोगी प्रकाशन

जैनग्रन्थ-प्रशस्ति संग्रह, भाग १ : संस्कृत और प्राकृत के १७१ अप्रकाशित ग्रन्थों की प्रशस्तियों का मंगलाचरण सहित अपूर्व संग्रह, उपयोगी ११ परिशिष्टों और पं० परमानन्द शास्त्री की इतिहास-विषयक साहित्य-परिचयात्मक प्रस्तावना से अलंकृत, सजिल्द । ६-००

जैनग्रन्थ-प्रशस्ति संग्रह, भाग २ : अपभ्रंश के १२२ अप्रकाशित ग्रन्थों की प्रशस्तियों का महत्त्वपूर्ण संग्रह। ५५ ग्रन्थकारों के ऐतिहासिक ग्रंथ-परिचय और परिशिष्टों सहित। सं. पं. परमानन्द शास्त्री। सजिल्द। १५-००

समाधितन्त्र और इष्टोपदेश : अध्यात्मकृति, पं० परमानन्द शास्त्री की हिन्दी टीका सहित ५-५०

श्रवणबेलगोल और दक्षिण के अन्य जैन तीर्थ : श्री राजकृष्ण जैन ३-००

जैन साहित्य और इतिहास पर विशद प्रकाश : पृष्ठ संख्या ७४, सजिल्द । ७-००

कसायपाहुडसुत्त : मूल ग्रन्थ की रचना आज से दो हजार वर्ष पूर्व श्री गुणधराचार्य ने की, जिस पर श्री यतिवृषभाचार्य ने पन्द्रह सौ वर्ष पूर्व छह हजार श्लोक प्रमाण चूर्णिसूत्र लिखे। सम्पादक पं हीरालालजी सिद्धान्त-शास्त्री। उपयोगी परिशिष्टो और हिन्दी अनुवाद के साथ बड़े साइज के १००० से भी अधिक पृष्ठों में। पुष्ट कागज और कपड़े की पक्की जिल्द। २५-००

ध्यानशतक (ध्यानस्तव सहित) : संपादक पं० बालचन्द्र सिद्धान्त-शास्त्री १२-००

श्रावक धर्म संहिता : श्री दरयावसिंह सोधिया ५-००

जैन लक्षणावली (तीन भागों में) : स० प० बालचन्द सिद्धान्त शास्त्री प्रत्येक भाग ४०-००

जिन शासन के कुछ विचारणीय प्रसंग : श्री पद्मचन्द्र शास्त्री, सात विषयों पर शास्त्रीय तर्कपूर्ण विवेचन २-००

मूल जैन संस्कृति अपरिग्रह : श्री पद्मचन्द्र शास्त्री २-००

Jaina Bibliography : Shri Chhotelal Jain, (An universal Encyclopaedia of Jain-References.) In two Vol. (P. 1942) Per set 600-00

सम्पादक परामर्श मण्डल **डा० ज्योतिप्रसाद जैन, श्री लक्ष्मीचन्द्र जैन,** सम्पादक **श्री पद्मचन्द्र शास्त्री**
प्रकाशक—बाबूलाल जैन वक्ता, वीरसेवामन्दिर के लिए मुद्रित, गीता प्रिंटिंग एजेन्सी, डी०-१०५, न्यूसीलमपुर, दिल्ली-५३

BOOK-POST

वीर सेवा मन्दिर का त्रैमासिक

अनेकान्त

(पत्र-प्रवर्तक : आचार्य जुगलकिशोर मुख्तार 'युगवीर')

वर्ष ४१ : कि० ३ जुलाई-सितम्बर १९८८

इस अंक में—

क्रम	विषय	पृ०
१.	गुरु-स्तुति	१
२.	निन्यानवे के चक्कर से बचिए —स्व० डा० ज्योतिप्रसाद जैन	२
३.	आचार्य कुन्दकुन्द के ग्रन्थों में निश्चय-व्यवहार का समन्वय—डॉ० सुदर्शनलाल जैन	३
४.	एक नया मिथ्यात्व-'अकिंचित्कर'—संपादक	८
५.	मिथ्यात्व ही द्रव्य कर्मबंध का मूल कारण है —श्री पं० फूलचन्द्र जी सि० शास्त्री	९
६.	मिथ्यात्व का बदला रूप—अकिंचित्कर —श्री पं० मुन्नालाल प्रभाकर	११
७.	'अकिंचित्कर' पुस्तक आगम विरुद्ध है —श्री पद्मचन्द्र शास्त्री, दिल्ली	१३
८.	क्या मिथ्यात्व बन्ध के प्रति अकिंचित्कर है —श्री बाबूलाल जैन कलकत्ते वाले	१७
९.	मिथ्यात्व ही अनंत संसार का बंधक है —स्व० पं० श्री कैलाशचन्द्र सि० शास्त्री	१७
१०.	मिथ्यात्व अकिंचित्कर नहीं—डा. सुदर्शनलाल जैन	२१
११.	दशवीं शताब्दी के अपभ्रंश काव्यों मे दार्शनिक समीक्षा—श्री जिनेन्द्रकुमार जैन उदयपुर	२५
१२.	धवला पु० ६ व पु० १ तथा जयधवला पु० ७ का शुद्धिपत्र—श्री प० जवाहरलाल शास्त्री	२४
१३.	जरा सोचिए : —सम्पादक	३१
१४.	मिथ्यात्व अकिंचित्कर नही है—रतनलाल कटारिया, क.	३

प्रकाशक :

वीर सेवा मन्दिर, २१ दरियागंज, नई दिल्ली-२

निन्नानवे के चक्कर से बचिए

'इतिहास मनीषी विद्यावारिधि' स्व० डा० ज्योतिप्रसाद जैन

अपरिग्रह का अर्थ है परिग्रह का अभाव और 'परिग्रह' उसे कहते हैं जो आत्मा को सर्व ओर से घेरे व बांधे रखता है--"परितो गृह्णाति आत्मानमिति-परिग्रहः।" चेतन-अचेतन, घर-जायदाद, धन-दौलत आदि अनगिनत बाह्य भौतिक पदार्थ मनुष्य को बांधे रखते है। वह अहर्निश उनके अर्जन, सग्रह, सुरक्षा की चिन्ता में तथा उनके नष्ट हो जाने या छिन जाने के भय से व्याकुल रहता है। वह उन्हे ही अपना जीवन प्राण समझता है। अतएव वे सब पदार्थ सामान्यतया परिग्रह कहलाते है, किन्तु वास्तव मे स्वय वे पदार्थ परिग्रह नही है, वरन् उनमे जो व्यक्ति की मूर्च्छा है, ममत्वभाव है, आसक्ति है, वही परिग्रह है और इस परिग्रह का मूल कारण उसकी कामनाए, इच्छाएँ, आकाक्षाएँ, लोभ, तृष्णा या आशा है। जिसका चित्त इन आशा-तृष्णादि विकारो से ग्रस्त रहता है, उसके पास अटूट धन वैभव हो तो भी उसे सुख व शान्ति प्राप्त नही होती। इसीलिए एक शायर ने कहा है कि—

जमीयते दिल कहां हरीमों को नसीब।
निन्नानवे ही रहे कभी सौ न हुए॥

तृष्णा ग्रस्त जीवो को कभी भी चित्त की शान्ति प्राप्त नही होती। वे सदा निन्नानवे के चक्कर मे पड़े रहते है क्योंकि पुरानी इच्छाओ की पूर्ति के साथ ही साथ तृष्णा की सीमा आगे-आगे बढ़ती जाती है। अत. वह धनी होते हुए भी निर्धन है, वैभव सम्पन्न होते हुए भी रक है — स हि दरिद्री यस्य तृष्णा विशाला। वह यह भूल जाता है कि—

दिल की तस्की भी है जिन्दगी की खुशी की दलील।
जिन्दगी सिर्फ जरोसीम का पैमाना नही॥

जीवन के सुख का प्रमाण चित्त का सन्तोष व शान्ति है, मात्र धन-दौलत उसका मापदड नही है--वह बाह्य वैभव मे नही मापा जा सकता।

पुरातन जैनाचार्य कह गये है कि जो निर्ग्रन्थ होता है, भीतर-बाहर दोनों से सर्वथा निष्परिग्रह होता है, वही सच्चा चक्रवर्ती होता है—लौकिक चक्रवर्ती सम्राट का अपार वैभव भी उस महात्मा की दिव्य विभूति के समक्ष सर्वथा नगण्य है, हेय है। प्रसिद्ध दार्शनिक हेनरी डेविड थोरो की उक्ति है कि "सबसे बड़ा अमीर वह है जिसके सुख सबसे सस्ते हैं—आत्मा की आवश्यकताएं जुटाने के लिए पैसों की आवश्यकता नही होती।" गोल्डस्मिथ कहता है कि—"हमारी प्रमुख सुविधाएं व आरामतलबियाँ ही बहुधा हमारी सर्वाधिक चिन्ता का कारण होती है और जैसे-जैसे हमारे परिग्रह मे—हमारी धन सम्पत्ति मे बढोत्तरी होती जाती है हमारी चिन्ताएँ भी बढती जाती है, नित्य नवीन चिन्ताए उत्पन्न होती जाती है। शायद इसीलिए किसी ने कहा है कि—"जिसने धन की सर्वप्रथम खोज की, उसी ने मनुष्य के सारे दु.ख भी साथ ही साथ खोज लिए।"

अपने धर्म को, स्वरूप व स्वभाव को आत्मा और चित्त की शांति को प्राप्त करने का आधार धन-सम्पत्ति या परिग्रह नहीं है, वरन् उसके त्याग में, उसकी आशा व तृष्णा के घटाने में ही निहित है।

अहमक पूछता है वहा जाने की राह क्या है?
जेब गर हल्की करे हर जानिब से रास्ता है।

जिन महानुभावो ने "परिग्रह पोट उतारकर लीनो चारित पथ" उन्होने आत्म धर्म प्राप्त किया है। जरा यह सोचना तो शुरू कीजिए कि धनवान होने की वह कौन-सी सीमा है कि जिसपर पहुचकर आपके और अधिक धनवान बनने की इच्छा समाप्त हो जाय? स्वय समझ मे आ जायेगा कि इस मृगतृष्णा मे पार नही पाया जा सकता।

आशैव मदिराक्षाणाम आशैव विषमञ्जरी।
आशामूलानि दुःखानि प्रभवन्ती देहिनाम्॥
येषामाशा कुतस्तेषां मनः शुद्धि शरीरिणाम्।
अतो नैराश्यमवलम्ब्य शिवीभूता मनीषिणः॥
तस्य सत्य-श्रुत-वृत्त-विवेकस्तत्त्वनिश्चय।
निर्ममत्वं च यस्याशा पिशाची निधनगता॥

बडी भयंकर है यह धनलिप्सा! यह तृष्णा ही समस्त दुःखों की जड़ है। इस आशा पिशाचिनी के नष्ट होने पर ही सत्य, श्रुतज्ञान, चारित्र, विवेक, तत्वनिश्चय और

(शेष पृ० ३ पर)

आचार्य कुन्दकुन्द के ग्रन्थों में निश्चय-व्यवहार का समन्वय

☐ डॉ० सुदर्शनलाल जैन, वाराणसी

दिगम्बर परम्परा में आचार्य कुन्दकुन्द का स्थान सर्वोपरि है। आपने भगवान महावीर की वाणी का मन्थन करके हमे नवनीत प्रदान किया है। भगवान महावीर ने जिस वीतरागता का उपदेश दिया था उसे मात्र बाह्यलिङ्ग के रूप मे समझा जाने लगा तो आपने भगवान् महावीर दर्शन के बाह्य और आभ्यन्तर वीतराग भाव को स्पष्ट किया। आभ्यन्तर वीतरागभाव को प्रकट करना उनका प्रमुख लक्ष्य था। अतः आपने उन्ही बातों का अधिक व्याख्यान किया है। इसका यह तात्पर्य नही है कि उन्हे बाह्य वीतराग मुद्रा अभीष्ट नही थी। वस्तुतः आपने बाह्य और आभ्यन्तर वीतरागभाव के उपदेशो का व्यवहार और निश्चय उभय नयो के द्वारा सम्यक् आलोडन करके अपने जीवन मे तथा स्व-रचित ग्रन्थो मे समावेश किया है। आपके ग्रन्थो के अन्तः साक्ष्य से तथा आपकी स्वय की जीवनशैली से आपकी निश्चय-व्यवहार की यथायोग्य समन्वय दृष्टि स्पष्ट परिलक्षित होती है।

सामान्य रूप से कोई भी लेखक अपनी रचनाओ के प्रारम्भिक अशो मे अपने अनुभवो को भूमिका रूप में स्थापित करता है और अन्त मे उपसहार के रूप मे उन्हे परिपुष्ट करता है। अतः उन्ही अशो को यहा इस लेख में प्रमुख रूप से माध्यम बनाकर आपकी समन्वयदृष्टि का प्रतिपादन किया गया है—

आपकी मान्य रचनायें हैं—१. पचास्तिकाय संग्रह, २. समयसार, ३. प्रवचनसार, ४. नियमसार, ५. अष्टपाहुड, ६. द्वादशानुप्रेक्षा और ७. भक्तिसंग्रह। 'रयणसार' के सन्दर्भ मे विद्वानो का मतभेद अधिक होने से उसे यहा नही लिया गया है। क्रमशः उनके उक्त ग्रथों का परिचय दिया जा रहा है।

१. पचास्तिकाय संग्रह—यह ग्रन्थ दो श्रुतस्कन्धों में विभक्त है। दोनों श्रुतस्कन्धों का प्रारम्भ ग्रन्थकार 'जिन' स्तुतिपूर्वक करते है।[1] यह नमस्कार निश्चय ही भक्तिरूप व्यवहार नय का आश्रय लेकर किया गया है। इसके प्रथम श्रुतस्कन्ध मे षड्द्रव्यो का और द्वितीय श्रुतस्कन्ध मे नव पदार्थों एव मोक्षमार्ग का वर्णन है।

प्रथम श्रुतस्कन्ध का उपसहार करते हुए लिखा है—"प्रवचन के सारभूत पंचास्तिकाय सग्रह को जानकार जो रागद्वेष को छोडता है वह दुखो से मुक्त हो जाता है। इसके अर्थ को जानकर तदनुगमनोद्यत, विगतमोह और प्रशमित राग-द्वेष वाला जीव पूर्वापरबन्धरहित हो जाता है।[2] द्वितीय श्रुतस्कन्ध में तत्वश्रद्धानादिरूप व्यवहार मोक्षमार्ग का कथन करके[3] निश्चय मोक्षमार्ग का कथन करते हुए लिखा है—"रत्नत्रय से समाहित (तन्मय) हुआ आत्मा ही निश्चय से मोक्षमार्ग है जिसमे वह अन्य कुछ भी नही करता है और न कुछ छोडता ही है।[4] यह कथन निश्चय ही निर्विकल्प शुद्ध ध्यानावस्था को लक्ष्य करके कहा गया है। इसके आगे बतलाया है कि अर्हदादि की भक्ति से बहुत पुण्यलाभ एव स्वर्गादि की प्राप्ति होती है। यही अर्हदादि की भक्ति से कर्मक्षय का निषेध और निर्वाणप्राप्ति की दूरी को भी बतलाया है, भले ही वह सर्वागमधारी और सयम-तपादि से युक्त क्यों न हो।[5] यह कथन भी छठे आदि गुण स्थान वालों को लक्ष्य करके कहा गया है। यहीं पर यह भी कहा गया है कि मोक्षाभिलाषी पुरुष निष्परिग्रही और निर्ममत्व होकर सिद्धों मे भक्ति करता

(पृष्ठ २ का शेषांश)

निर्ममत्व या अपरिग्रह जैसे गुण आत्मा मे प्रगट होते हैं—उसके रहते वे व्यर्थ हैं।

अस्तु, परिग्रह मे निरासक्त रहने का अभ्यास करने, उसका परिमाण करने का तथा उक्त परिमाण की सीमा को निरन्तर घटाते जाने का अभ्यास करने से ही व्यक्ति शनैः शनैः अपरिग्रही हो जाता है, और सच्चे सुख एव शान्ति का उपभोग करता है।

चारबाग, लखनऊ

है और उससे वह निर्वाण प्राप्त करता है।[1] यहां टीकाकारों ने 'सिद्धेषु' का अर्थ शुद्धात्म द्रव्य में विश्रान्तिरूप पारमार्थिक सिद्धभक्ति अर्थ किया है।[2] गाथा १७२ की व्याख्या में अमृतचन्द्राचार्य और सिद्धसेनाचार्य ने केवल निश्चयावलम्बी उन जीवों को लक्ष्य करके कहा है जो वस्तुत: निश्चय नय को नहीं जानते हैं :—कोई शुभभाव वाली क्रियाओं को पुण्यबन्ध का कारण मानकर अशुभ भावों मे वर्तते हुए वनस्पतियों की भांति केवल पापबंध को करते हुए भी अपने में उच्च शुद्धदशा की कल्पना करके स्वच्छन्दी और आलसी है—

णिच्छयमालम्बन्ता णिच्छयदो णिच्छय अयाणता।
णासंति चरणकरण बाहरिचरणालसा केई॥

अन्त में इस ग्रन्थ का उपसहार करते हुए ग्रन्थकार लिखते हैं—प्रवचन (जिन वाणी) की भक्ति से प्रेरित होकर मैंने (मोक्ष) मार्ग की प्रभावना के लिए प्रवचन का सार भूत यह पंचास्तिकाय संग्रह सूत्र (शास्त्र) कहा है।[8]

इससे स्पष्ट है कि जो व्यवहाररूप अर्हदादि की भक्ति को मात्र स्वर्ग का साधन बतलाकर और मोक्षप्राप्ति मे प्रतिबन्धक बतलाकर तुरन्त उपसहार करते हुए जिन मार्ग प्रभावनार्थ "प्रवचनभक्ति प्रेरित" जैसे वाक्यो का कथन क्यों करेगा। नमस्कार वाक्यों मे महावीर को "अपुनर्भव का कारण" कहना व्यवहार नयाश्रित कथन है क्योंकि निश्चय से कोई किसी का कारण नही है। इत्यादि कथनो से सिद्ध होता है कि व्यवहार रूप बाह्य क्रियाये भी निर्वाणप्राप्ति के लिए आवश्यक हैं परन्तु वही तक सीमित न रह जाएं। अत: उन तपस्वियों के प्रतिबोधनार्थ निश्चय का कथन करके आचार्य ने दोनो नयो का सम्यक् समन्वय करना चाहा है। किसी एक नय को हेय और दूसरे को उपादेय कहना स्याद्वाद सिद्धान्त का और आचार्य कुन्दकुद का उपहास है। अपेक्षा भेद से अपने-अपने स्थान पर दोनो नय सम्यक् है। परमदशा की प्राप्ति तो नयोपरि अवस्था है।

'दर्शनविशुद्धि' आदि भावनाए जो तीर्थङ्कर प्रकृति बन्ध की कारण मानी जाती हैं वे व्यवहार से बन्ध की कारण भले ही हैं परन्तु तीर्थङ्कर प्रकृति बन्ध करने वाला जीव नियम से निर्वाण प्राप्ति करने वाला माना गया है। इस तरह व्यवहार और निश्चय का सम्यक् समन्वय ही निर्वाण का हेतु है, न केवल व्यवहार और न केवल निश्चय नय। यही ग्रन्थकार का अभिमत है। नय मात्र वस्तु-परिज्ञान के लिए स्वीकृत है शुद्धात्मा नयातीत है।

(२) समयसार—

यहां "जीव" पदार्थ को "समय" शब्द से कहा गया है। जब वह अपने शुद्ध स्वभाव मे स्थित होता है तब उसे "स्वसमय" कहते है और जब परस्वभाव (राग-द्वेषादि के कारण पुद्गल कर्मप्रदेशो) मे स्थित होता है तब उसे 'परसमय" कहते हैं।[1] इस ग्रन्थ में जीव के इस स्वसमय और परसमय का ही विवेचन किया गया है।

ग्रन्थारम्भ मे ग्रन्थकार ध्रुव, अचल और अनुपम गति को प्राप्त सभी सिद्धो को नमस्कार करके श्रुत केवलियो के द्वारा कथित इस समय प्राभृत को कहने का सकल्प करते है।[2] इसके बाद एकत्व विभक्त (सभी पर पदार्थों से भिन्न-पुद्गलकर्मबन्ध से रहित) आत्मा की कथा की दुर्लभता का कथन करते हुए[3] उसके कथन करने की प्रतिज्ञा करते है—मैं अपनी शक्ति के अनुसार उस एकत्व-विभक्त आत्मा का यदि प्रमाणरूप से दर्शन करा सकू तो प्रमाण मानना अन्यथा (ठीक से न समझा सकने पर या ठीक न समझने पर) छलरूप ग्रहण न करना।[4]

इससे सिद्ध है कि ग्रन्थकार का मुख्य उद्देश्य इस ग्रथ मे आत्मा के दुर्बोध शुद्धस्वरूप का ज्ञान कराना है। अत: वे व्यवहार पक्ष को गौण करके निश्चय का कथन मुख्यता से करते है। इसका यह तात्पर्य नही कि व्यवहार मिथ्या है। इस सन्दर्भ मे उनका यह निवेदन ध्यान देने योग्य है कि "ठीक न जान सकने पर छल रूप ग्रहण न करना।" इस तरह से निश्चय ही व्यवहार और निश्चयनय से समन्वित कर आत्मा को दर्शाना चाहते है। अन्यथा वेदान्त दर्शन के साथ जैन दर्शन का भेद करना कठिन हो जायेगा। इसीलिए ग्रन्थकार व्यवहार नय से कहते है कि ज्ञानी जीव के चारित्र, दर्शन और ज्ञान हैं परन्तु (निश्चय नय से) न चारित्र है, न दर्शन है और न ज्ञान है, अपितु वह शुद्ध ज्ञायकरूप है।[5] यही ग्रन्थकार व्यवहार नय की अनुपयोगिता की अशका का समाधान करते हुए कहते है कि जैसे अनार्य (साधारण) जन को अनार्य भाषा के बिना समझाना

(वस्तु स्वरूप का ज्ञान कराना) कठिन है उसी प्रकार व्यवहार नय के बिना परमार्थ का उपदेश देना अशक्य है।[६]

इस तरह यहां स्पष्टरूप से साधारण जन को परमार्थ तक पहुंचाने मे व्यवहारनय को अनिवार्य साधन के रूप मे स्वीकार किया गया है। इसके आगे व्यवहार को "अभूतार्थ" तथा शुद्धनय (निश्चयनय) को "भूतार्थ" कहते हुए भूतार्थनयाश्रयी को सम्यग्दृष्टि कहा है।[७] यहा ग्रन्थकार भ्रम निवारणार्थ पुन: कहते है—जो परम भाव (उत्कृष्ट दशा) में स्थित है उसके द्वारा शुद्ध तत्त्व का उपदेश देने वाला शुद्धनय जानने योग्य है और जो अपरम भाव (अनुत्कृष्ट दशा) में स्थित है वे व्यवहारनय से उपदेश करने के योग्य है।[८] इस तरह व्यवहारनय को त्याज्य न बतलाते हुए अपेक्षा भेद से ग्रन्थकार दोनो नयों की प्रयोजनवत्ता को सिद्ध करते है। अधिकाश जीव अपरम भाव में ही स्थित है। यहा टीकाकार "अमृतचन्द्राचार्य" "उक्तं च" कहकर एक गाथा उद्धृत करते हैं—

"जइ जिणमय पवज्जह ता मा ववहारणिच्छए मुयह।
एक्केण विणा छिज्जइ तित्थ अण्णेण उणतच्च॥"[९]

अर्थ—यदि तुम जिनमत की प्रवर्तना करना चाहते हो तो व्यवहार और निश्चय दोनो नयों को मत छोडो, क्योकि व्यवहार नय के बिना तो तीर्थ (व्यवहार मार्ग) का नाश हो जायेगा और निश्चय नय के बिना तत्त्व (वस्तु) का नाश हो जायेगा क्योकि जिनवचन को स्याद्वाद रूप माना गया है, एकान्तवादरूप नही। अत: जिनवचन सुनना, जिनबिम्बदर्शन आदि भी प्रयोजनवान् है।

ग्रन्थ का उपसंहार करते हुए आचार्य ने कहा है "जा बहुत प्रकार के गृहस्थ आदि बाह्य लिङ्गो मे ममत्व करते है वे समयसार को नही जानते।[१०] व्यवहार नय दोनो (मुनि और गृहस्थ) लिङ्गो को इष्ट मानता है।[११] पर यहा जो अलिङ्गी को मोक्षमार्ग निश्चय नय से कहा है वह विशुद्धात्मा की दृष्टि से कहा है। जो विशुद्ध आत्मा है वह जीव-अजीव द्रव्यों मे से कुछ भी न तो ग्रहण करता है और न छोडता है।[१२]

इस प्रकार जो इस समयप्राभृत को पढ़कर अर्थ एव तत्त्व को जानकर इसके अर्थ मे स्थित होगा वह उत्तम सुख प्राप्त करेगा।[१३] यहां पडिहूद (पढ़कर), अत्थतच्चदो णाउं (अर्थ तत्त्व को जानकर) और अत्थे ठाही चेया (अर्थ मे स्थित आत्मा) पद चिन्तनीय हैं जो निश्चय व्यवहार के समन्वय को ही सिद्ध करते है। शुद्ध निश्चय नय तो स्वस्वरूप स्थिति है वहां कुछ करणीय नही होता, जब कि ससारी को करणीय कर्म भी जानना जरूरी है।

(३) **प्रवचनसार**—

यह ज्ञान, ज्ञेय और चारित्र इन तीन अधिकारों में विभक्त है। इसकी प्रारम्भिक पांच गाथाओ मे तीर्थंकरों, सिद्धो, गणधरो, उपाध्यायो और साधुओ को नमस्कार किया गया है तथा उनके विशुद्ध दर्शन-ज्ञान प्रधान आश्रय को प्राप्त करके निर्बाण सम्प्राप्ति के साधनभूत समताभाव को प्राप्त करने की कामना की गई है। इसके बाद सराग चारित्र वीतराग चारित्र आदि का कथन किया गया है।

तृतीय चारित्राधिकार का प्रारम्भ करते हुए ग्रन्थकार सिद्धों और श्रमणो को बारम्बार नमस्कार करके दु:खनिवारक श्रमणदीक्षा लेने का उपदेश देते है।[१] इसके बाद श्रमणधर्म स्वीकार करने की प्रक्रिया आदि का वर्णन करते हुए निश्चय व्यवहाररूप श्रमणधर्म का विस्तार से कथन करते है। प्रसङ्गवश प्रशस्तराग के सन्दर्भ मे कहा है—

"रागो पसत्थभूदो वत्थुविसेसेण फलदि विवरीदं।
णाणाभूमिगदाणिह बीजाणिव सस्सकालम्हि॥२२५॥"

अर्थ जैसे एक ही बीज भूमि की विपरीतता से विपरीत फल वाला देखा जाता है वैसे ही प्रशस्तरागरूप शुभोपयोग भी पात्र की विपरीतता से विपरीत फल वाला होता है। इससे सिद्ध है कि प्रशस्त राग पात्रभेद से तीर्थंकर प्रकृति के बन्धादि के द्वारा मुक्ति का और निदानादि के बन्ध से ससारबन्ध का, दोनों का कारण हो सकता है। श्री जयसेनाचार्य ने २५४वी गाथा की व्याख्या करते हुए इसी अर्थ को स्पष्ट करते हुए लिखा है—'वैयावृत्य गृहस्थों का मुख्य धर्म है। इससे वे खोटे ध्यानों से बचते हैं तथा साधु-सगति मे निश्चय-व्यवहार मोक्ष मार्ग का ज्ञान होता है, पश्चात् परम्परया निर्वाणप्राप्ति होती है।'[२]

उपसहाररूप २७४वी गाथा मे शुद्धोपयोगी मुनि को सिद्ध कहकर नमस्कार किया गया है तथा २७५वी गाथा

में ग्रन्थ का फल बतलाते हुए लिखा है—

बुज्झदि सासणमेय सागारणगार चरितया जुत्तो ।
जो सो पवयणसारं लहुणा कालेण पप्पोदि ॥२७५॥

अर्थ—जो गृहस्थ और मुनि की चर्या से युक्त होता हुआ (अरहन्तभगवान् के) इस शासन (शास्त्र) को जानता है वह शीघ्र ही प्रवचन के सार (मोक्ष) को प्राप्त कर लेता है। यहा "सागारणगारचरियया" शब्द ध्यान देने योग्य है जिसकी व्याख्या करते हुए जयसेनाचार्य ने लिखा है—'अभ्यन्तररत्नत्रयानुष्ठानमुपादेय कृत्वा बहिरङ्गरत्नत्रयानुष्ठानं सागारचर्या श्रावकाचर्या। बहिरङ्गरत्नत्रयाधारेण भ्यन्तर रत्नत्रयानुष्ठानमनगारचर्या प्रमत्तसयतादितपोधनचर्येत्यर्थः।"

इस तरह इस प्रवचनसार मे विशेष रूप मे व्यवहार निश्चयरूप मुनिधर्म का प्रतिपादन करते हुए ग्रन्थकार दोनों नयों का सम्यक् समायोजन चाहते है। ज्ञान और ज्ञेय अधिकार मे भी निश्चय-व्यवहार अथवा द्रव्यार्थिक-पर्यायार्थिक दोनो नयों का समन्वय करते हुए वस्तु तत्त्व का विवेचन करते है।

(४) नियमसार—

जो अवश्यकरणीय (नियम से करने योग्य) हो उन्हे "नियम" कहते है। नियम से करने योग्य है सम्यग्ज्ञान, दर्शन और चारित्र। विपरीत ज्ञान, दर्शन और चारित्र का परिहार करने के लिए नियम शब्द के साथ "सार" पद का प्रयोग किया गया है।[१] इस तरह यह नियमसार ज्ञान, दर्शन और चारित्र स्वरूप नियम निर्वाण का कारण (मोक्षोपाय) है तथा उसका फल परम निर्वाण प्राप्ति है।[२] इसमे १६ अधिकार है। इस ग्रन्थ के लिखने का प्रयोजन ग्रन्थकार ने यद्यपि निज भावना बतलाया है परन्तु प्रवचन भक्ति भी इसका प्रयोजन रहा है।[३]

ग्रन्थारम्भ करते हुए ग्रन्थकार "जिन" को नमस्कार करके केवली और श्रुतकेवलियो के द्वारा कथित नियमसार को कहने का सकल्प करते है।[४] पश्चात् व्यवहार और निश्चय दोनों नयो की दृष्टि से रत्नत्रय का कथन करते हैं। प्रथम जीवाधिकार के अन्त मे ग्रन्थकार निश्चय-व्यवहार तथा द्रव्यार्थिक-पर्यायार्थिक दोनो प्रकार के नय विभाजना का समन्वय करते है :—

कत्ता भोत्ता आदा पोग्गलकम्मस्स होदि ववहारा।
कम्म जंभावेणादा कत्ता भोत्ता दु णिच्छयदो ॥८
दव्वत्थिएण जीवा वदिरित्ता पुव्वभणिदपज्जया।
पज्जवणयेण जीवा सजुत्ता होंति दुविहेहिं ॥९

दशम परम भक्त्याधिकार के प्रारम्भ मे ग्रन्थकार व्यवहार नय की अपेक्षा से उसकी प्रशसा में लिखते है—"जो श्रावक अथवा मुनि रत्नत्रय मे भक्ति करता है अथवा गुणभेद जानकर मोक्षगत पुरुषो में भक्ति करता है उसे निवृत्ति-भक्ति (निर्वाण भक्ति) होती है।"[५]

अन्त मे ग्रन्थकार अपनी सरलता को बतलाते हुए हृदय के भाव को प्रकट करते है—'प्रवचन की भक्ति से कहे गये नियम और नियमफल मे यदि कुछ पूर्वापर विरोध हो तो समयज्ञ (आगमज्ञ) उस विरोध को दूर करके सम्यक् पूर्ति करे।"[६] किन्तु ईर्ष्याभाव से इस सुन्दर मार्ग की यदि कोई निन्दा करे उनके वचन सुनकर जिनमार्ग के प्रति अभक्ति न करे क्योंकि यह जिनोपदेश पूर्वापरदोष से रहित है।"[७] यहाँ पूर्वापरविरोध परिहार की बात करके ग्रन्थकार दोनों नयों का सम्यक् समन्वय करना चाहते है। इसे सुनकर ईर्ष्या भाव उत्पन्न होने की सम्भावना को ध्यान में रखते हुए ग्रन्थकार व्यवहार नयाश्रित भक्ति को न छोडने की बात करते है।

इस तरह ग्रन्थकार सरल हृदय से किसी एक नय का ऐकान्तिक ग्रहण अभीष्ट न मानते हुए पूर्वापरविरोध रहित स्याद्वाद का सिद्धान्त ही प्रतिपादन करना चाहते है।

(५) अष्टपाहुड—

दर्शनादि सभी पाहुडो के प्रारम्भिक पद्यो में वर्द्धमान आदि तीर्थङ्करो को नमस्कार किया गया है।[१] शील पाहुड मे शील और ज्ञान के अविरोध को बतलाते हुए लिखा है कि शील के बिना पन्चेन्द्रिय के विषय ज्ञान को नष्ट कर देते है।[२] अत. सही ज्ञान के लिए चारित्र अपेक्षित है। लिङ्गपाहुड मे केवल बाह्यलिङ्ग से धर्मप्राप्ति मानने वालो को प्रतिबोधित किया गया है।[३] इससे स्पष्ट है कि ग्रन्थका पथभ्रष्ट बाह्यलिङ्गी साधुओ को ही प्रतिबोधित करना मुख्य लक्ष्य रहा है। इस तरह इस ग्रन्थ में भी दोनो नयों का समन्वय देखा जा सकता है।

(६) द्वादशानुप्रेक्षा—

इसका प्रारम्भ सिद्धों और चौबीस तीर्थङ्करों के नमस्कार से होता है।[१] अन्तिम से पूर्ववर्ती दो गाथाओं (८९ ९०) में अनुप्रेक्षाओं का माहात्म्य बतलाकर उनके चिन्तन से मोक्ष गये पुरुषों को बारम्बार नमस्कार किया गया है। अन्तिम गाथा कुन्दकुन्दाचार्य के ग्रन्थों के मर्मज्ञ किसी अन्य विद्वान् के द्वारा जोडी गई जान पड़ती है क्योंकि वहा ज भणिय कुन्दकुन्दमुणिणाहे" वाक्य का प्रयोग किया गया है जबकि पंचास्तिकाय की अन्तिम गाथा में "मया भणिय" का प्रयोग किया गया है।[२] द्वादशानुप्रेक्षा की पूरी अन्तिम गाथा इस प्रकार है—

इदि णिच्छयववहार ज भणियं कुन्दकुन्दमुणिणाहे।
जो भावइ सुद्धमणो सो पावई परमणिव्वाण ।।९१।।

इस गाथा मे ग्रन्थकार के निश्चय-व्यवहार के समन्वय को स्पष्ट शब्दों में कहा गया है। "सुद्धमणो" शब्द से यहा एकान्त आग्रह रहित वीतराग हृदय का सकेत किया गया है।

(७) भक्ति संग्रह—

यह पूर्णतः भक्तिग्रन्थ होने से आदि से अन्त तक व्यवहारनयाश्रित है। जैसे—"तित्थयरा मे पसीयन्तु,[३] आरोग्गणाणलाह दितु समाहिं च मे बोधि[४], सिद्धासिद्धि मम दिसतु[५], दुक्खखयं दितु[६] मगलमत्थु मे णिच्च[७], णिव्वाणस्स हु लद्धो तुम्ह पसाएण[८], एयाण णमुक्कारा भवे भवे मम सुह दितु इत्यादि।"

ये कथन अपेक्षाभेद से सिद्धान्तविपरीत नही है। बाह्य रूप से देखने पर लगता है कि पूर्ण शुद्ध निश्चयनय का प्रतिपादन करने वाले आचार्य कुन्दकुन्द ईश्वरकर्तृत्ववाचक व्यवहारपरक वाक्योंका प्रयोग कैसे कर सकते है परन्तु निश्चय और व्यवहार के समन्वय के इच्छुक आचार्य के ये प्रयोग अनुपपन्न नही है। क्योंकि तटस्थ निमित्तकारणो को भक्तिवश यहां सक्रियनिमित्त कारणो के रूप में कहा गया है जो 'स्यात्' पद के प्रयोग से असगत नही है।

इस प्रकार ग्रन्थकार के सभी ग्रन्थो के आलोकन से सिद्ध होता है कि उन्हें उभयनयो का समन्वय है। अभीष्ट है जो जिनमत के अनुकूल है। इसीलिए वे शुद्ध निश्चयनय से सिद्धादि के प्रति व्यावहारिक भक्तिभाव का निषेध करते हुए भी प्रत्येक ग्रन्थ के प्रारम्भ में, कही-कही मध्य और अन्त मे भी सिद्धादि के प्रति नमस्कार रूप भक्ति को प्रदर्शित करते हैं। भक्ति सग्रह पूर्णतः भक्ति का पिटारा है। इसी प्रकार मात्र बाह्यलिग का निषेध करके भी उसका न केवल प्रतिपादन ही करते है अपितु स्वयं भी भावलिङ्ग के साथ बाह्यलिङ्ग को भी धारण करते है।

शुद्ध निश्चय नय से ससारी और मुक्त आत्माओं को नियमसार में जन्म जरादिरहित, सम्यक्त्वादि आठ गुणों से अलंकृत, अतीन्द्रिय, निर्मल विशुद्ध और सिद्धस्वभावी कहा है।[१०] परन्तु क्या अपेक्षाभेद से इतना जानने मात्र से संसारी और मुक्त सर्वथा समान हो जायेगे। ऐसा होने पर मुक्ति के लिए प्रयत्न हितोपदेशादि सब व्यर्थ हो जायेगे। किञ्च वही परद्रव्य को हेय और स्व को उपादेय कहा है।[११] क्या निश्चयनय से हेयोपादेय भाव बन सकता है? कभी नही सम्भव है। यह हेयोपादेय भाव व्यवहारनय से ही सम्भव है। अत ग्रन्थकार के किसी एक कथन को उपादेय मानना एकान्तवाद का स्वीकार करना है जो स्याद्वादसिद्धान्त से मिथ्या है। जब तक समग्र दृष्टि से चिन्तन नही करेंगे तब तक ग्रन्थकार के काल का सही मूल्याकन नही हो सकेगा। ग्रन्थकार ने किन परिस्थितियो मे किनके लिए निश्चय नय का उपदेश दिया है, यह ध्यान देने योग्य है। व्यवहार (अभूतार्थ) को सर्वथा हेय उन्होने कभी नही कहा अपितु उसे ही पकड़कर बैठ जाने अथवा उसकी ओट मे जीविका चलाने का निषेध किया है।[१२] आचार्य ने स्वयं समयसार के कर्तृकर्माधिकार के अन्त मे दोनो नयो से अतिक्रान्त समयसार है, किसी नयाश्रित नही कहकर सारभूत अपने समन्वयवादी दृष्टिकोण को स्पष्ट शब्दो मे कहा है। जैसे—

जीवे कम्म बद्ध पुट्ठ चेदि ववहारणयभणिद।
सुद्धणयस्स दु जीवे अबद्धपुट्ठ हवई कम्म ।।१४१।।
कम्म बद्धमबद्धं जीवे एव तु जाण णयपक्ख।
पक्खातिक्कतो पुण भण्णदि जो सो समयसारो ।।१४२
सम्मद्दसणणाण एद लहदित्ति णवरि ववदेस।
सव्वणयपक्खरहिदा भणिदा जो सो समयसारो ।।१४४

अर्थात् व्यवहार नय से जीव मे कर्म बद्ध स्पृष्ट है परन्तु निश्चयनय से अबद्ध स्पृष्ट है। "जीव मे कर्म बधे

हैं अथवा नही बंधे हैं" ऐसा कथन नय पक्ष है परन्तु जो इससे दूर (पक्षातिक्रान्त) है वही समयसार है। जो शुद्ध आत्मा से प्रतिबद्ध है, दोनों नयो के कथन को केवल जानता है, किसी भी नयपक्ष को ग्रहण नहीं करता है, वही पक्षातिक्रान्त है। जो सभी नयपक्षो मे ·हित है वही समयसार है। यह समयसार ही सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और (सम्यक्चारित्र) इस नाम को प्राप्त होता है।

इस तरह आचार्य कुन्दकुन्द के दर्शन मे निश्चय व्यवहार का समन्वय देखा जाता है जो जैन दर्शन के अनुकूल और युक्तिसंगत है। —काशी हिन्दू विश्वविद्यालय

सन्दर्भ-सूची

१. पंचास्तिकाय —

१. (क) प्रथम श्रुतस्कन्ध में —

इंदसदवंदियाण तिहुअणहिदमधुर विशदवक्काण।
अतातीदगुणाण णमो जिणाण जिद्भवाण ।पचा. १
समणमुहुग्गदमट्ठ चदुग्गदिनिवारण सणिव्वाण।
एसहणमिय सिरसा समयमिम सुणह वोच्छामि। पचा. २

(ख) द्वितीय श्रुतस्कन्ध मे —

अभिवंदिऊण सिरसा अपुणब्भवकारण महावीर।
तेसिं पयत्थभंग मग्ग मोक्खस्स वोच्छामि ।। पचा. १०५

२. एवपवयणसार पचत्थियसगह वियाणित्ता।
जो मुयदि रागदोसे सो गाहदि दुक्खपरिमोक्ख ।। प.१०३
मुणिऊण एतदट्ठ तदणुगमणुज्झदो णिहदमोहो।
पसमियरागद्दोसो हवदि हदपरावरो जीवो ।। पचा. १०४

३. पचा १०७, १६० ४. पंचा. १६१-१६३

५. पंचा. १६६, १६८, १७०-१७१

६. पंचा. १६६ ७. पचा. १६६ (वही)

८. मग्गप्पभावणट्ठं पवयणभत्तिप्पचोदिदेण मया।
भणिय पवयणसारं पंचत्थियसंगह सुत्त ।। पंचा. १७३

२. समयसार—

१. समयसार गाथा २

२. वंदित्तु सव्वसिद्धे धुवमचलमणोवमं गइ पत्ते।
वोच्छामि समयपाहुडमिणमो सुयकेवली भणिय ।। सम. १

३. समय० ३-४

४. तं एयत्तविहत्त दाएह अप्पणो सविहवेण।
जदि दाएज्ज पमाण चुक्किज्ज छल ण घेतव्व ।। समय. ५

५. ववहारेणुवदिस्सई णाणिस्स चरित्तदसण णाणं।
ण वि णाण ण चरित्त ण दंसणं जाणगो सुद्धो ।।समय. ७

६. जह ण वि सक्कमणज्जो अणज्जभास विणा उ गाहेउं।
तह ववहारेण विणा परमत्थुवएसणमसक्कं ।। समय. ८
तथा देखिए, वही गाथा ९-१०

७ ववहारोऽभूयत्थो भूयत्थो देसिदो उ सुद्धणओ।
भूयत्थमस्सिदो खलु सम्माइट्ठी हवई जीवो ।। समय. ११

८. सुद्धो सुद्धादेसो णायव्वो परमभावदरिसीहिं।
ववहारदेसिदापुण जे दु अपरमेट्ठिदा भावे ।। समय. १२

९. समयसार गाथा १२ (टीका)

१०. पासडीलिंगेसु वा गिहिलिंगेसु वा बहुप्पयारेसु।
कुव्वंति जे ममत्त तेहिं ण णाय समयसार ।। समय. ४१३

११. ववहारिओ पुणणओ दोण्णिवि लिंगाणि भणई मोक्खपहे
णिच्छयणओ ण इच्छइ मोक्खपहो सव्वलिंगाणि ।। ४१४

१२ तम्हा उ जो विसुद्धो चेया सो णेव गिण्हए किंचि।
णेवविमुचई किंचिवि जीवाजीवाण दव्वाण ।।समय. ४०७

१३. जो समयपाहुडमिण पठिदूण अत्थतच्चदो णाउ।
अत्थेठाही चेया सो होही उत्तम सोक्ख ।। समय. ४१५

(३) प्रवचनसार—

१. प्रवचनसार गाथा २०१

२. प्रवचनसार गाथा २५४ जयसेनाचार्य टीका

(४) नियमसार—

१. णियमेण य जं कज्जं तण्णियम णाणदसणचरित्त।
विवरीयपरिहरत्थ भणिद खलु सारमिदि वयण ।। निय. ४

२. नियम० गाथा २, ४

३ नियम० गाथा १८४, १८६ (देखें नियम० टि. ६, ७

४, नियम० गाथा ?

५. सम्मत्तणाणचरणे जो भत्ति कुणइ सावगो समणो।
तस्स दु णिव्वुदिभत्ती होदित्ति जिणहि पण्णत्त ।। नि० १३४
मोक्खगयपुरिसाण गुणभेद जाणिऊण तेसिं पि।
जो कुणदि परमभत्ति ववहारणयेण परिकहिय ।। नि० १३५

६. णियम णियमस्स फलं णि द्दिट्ठ पवयणस्स भत्तीए।
पुव्वावरविरोधी जदि अवणीय पुरयतु समयण्हा ।। १८४

७. ईसाभावेण पुणो केई णिंदति सुंदर मग्गं।
तेसिं वयण सोच्चाऽभत्ति मा कुणह जिणमग्गे ।। नि. १८५

(शेष पृ० १० पर)

ओम् अर्हम्

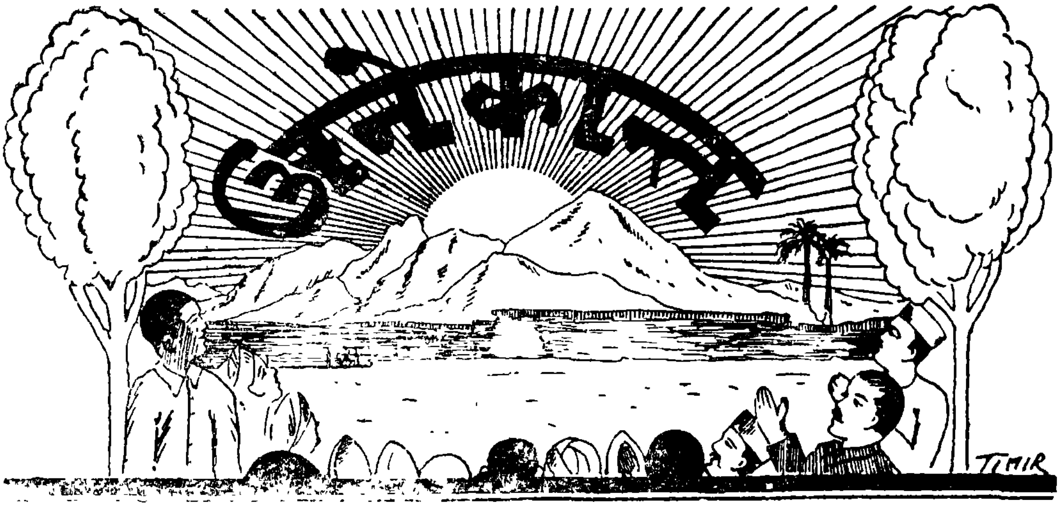

परमागमस्य बीजं निषिद्धजात्यन्धसिन्धुरविधानम् ।
सकलनयविलसितानां विरोधमथनं नमाम्यनेकान्तम् ॥

वर्ष ४१ किरण ३
वीर-सेवा मन्दिर, २१ दरियागंज, नई दिल्ली-२
वीर-निर्वाण संवत् २५१४, वि० सं० २०४५
जुलाई-सितम्बर १९८८

गुरु-स्तुति

कबधौं मिलै मोहिं श्रीगुरु मुनिवर, करिहैं भव-दधि पारा हो।
भोग उदास जोग जिन लीनों, छांड़ि परिग्रह भारा हो।
इन्द्रिय-दमन वमन मद कीनों, विषय-कषाय निवारा हो॥
कंचन-कांच बराबर जिनके, निंदक वंदक सारा हो।
दुर्धर तप तपि सम्यक् निज घर, मन वच तन कर धारा हो॥
ग्रीषम गिरि हिम सरिता तीरें, पावस तरुतर ठारा हो।
करुणा भीन, चीन त्रस थावर, ईर्यापंथ समारा हो॥
मार मार, व्रतधार शील दृढ़, मोह महामल टारा हो।
मास छमास उपास, वास वन, प्रासुक करत अहारा हो॥
आरत रौद्र लेश नहिं जिनकें, धरम शुकल चित धारा हो।
ध्यानारूढ़ गूढ़ निज आतम, शुध उपयोग विचारा हो॥
आप तरहिं औरन को तारहिं, भवजलसिंधु अपारा हो।
"दौलत" ऐसे जैन जतिन को, नित प्रति धोक हमारा हो॥

निन्नानवे के चक्कर से बचिए

'इतिहास मनीषी विद्यावारिधि' स्व० डा० ज्योतिप्रसाद जैन

अपरिग्रह का अर्थ है परिग्रह का अभाव और 'परिग्रह' उसे कहते है जो आत्मा को सर्व ओर से घेरे व बांधे रखता है—"परितो गृह्णाति आत्मानमिति-परिग्रहः।" चेतन-अचेतन, घर-जायदाद, धन-दौलत आदि अनगिनत बाह्य भौतिक पदार्थ मनुष्य को बांधे रखते है। वह अहर्निश उनके अर्जन, सग्रह, सुरक्षा की चिन्ता में तथा उनके नष्ट हो जाने या छिन जाने के भय से व्याकुल रहता है। वह उन्हे ही अपना जीवन प्राण समझता है। अतएव वे सब पदार्थ सामान्यतया परिग्रह कहलाते हैं, किन्तु वास्तव में स्वय वे पदार्थ परिग्रह नही है, वरन् उनमे जो व्यक्ति की मूर्च्छा है, ममत्वभाव है, आसक्ति है, वही परिग्रह है और इस परिग्रह का मूल कारण उसकी कामनाए, इच्छाएँ, आकाक्षाएँ, लोभ, तृष्णा या आशा है। जिसका चित्त इन आशा-तृष्णादि विकारो से ग्रस्त रहता है, उसके पास अटूट धन वैभव हो तो भी उसे सुख व शान्ति प्राप्त नही होती। इसीलिए एक शायर ने कहा है कि—

जमीयते दिल कहां हरीसों को नसीब।
निन्नानवे ही रहे कभी सौ न हुए॥

तृष्णा ग्रस्त जीवों को कभी भी चित्त की शान्ति प्राप्त नही होती। वे सदा निन्नानवे के चक्कर मे पडे रहते है, क्योकि पुरानी इच्छाओ की पूर्ति के साथ ही साथ तृष्णा की सीमा आगे-आगे बढती जाती है। अतः वह धनी होते हुए भी निर्धन है, वैभव सम्पन्न होते हुए भी रक है—स: हि दरिद्री यस्य तृष्णा विशाला। वह यह भूल जाता है कि—

दिल की तस्की भी है जिन्दगी की खुशी की दलील।
जिन्दगी सिर्फ जरोसीम का पैमाना नही॥

जीवन के सुख का प्रमाण चित्त का सन्तोष व शान्ति है, मात्र धन-दौलत उसका मापदड नही है—वह बाह्य वैभव से नही मापा जा सकता।

पुरातन जैनाचार्य कह गये है कि जो निर्ग्रन्थ होता है, भीतर-बाहर दोनों से सर्वथा निष्परिग्रह होता है, वही सच्चा चक्रवर्ती होता है—लौकिक चक्रवर्ती सम्राट का अपार वैभव भी उस महात्मा की दिव्य विभूति के समक्ष सर्वथा नगण्य है, हेय है। प्रसिद्ध दार्शनिक हेनरी डेविड थोरो की उक्ति है कि "सबसे बड़ा अमीर वह है जिसके सुख सबसे सस्ते है—आत्मा की आवश्यकताए जुटाने के लिए पैसों की आवश्यकता नही होती।" गोल्डस्मिथ कहता है कि—"हमारी प्रमुख सुविधाएं व आरामतलबियाँ ही बहुधा हमारी सर्वाधिक चिन्ता का कारण होती है और जैसे-जैसे हमारे परिग्रह में—हमारी धन सम्पत्ति मे बढोत्तरी होती जाती है हमारी चिन्ताएँ भी बढ़ती जाती है, नित्य नवीन चिन्ताए उत्पन्न होती जाती है। शायद इसीलिए किसी ने कहा है कि—"जिसने धन की सर्वप्रथम खोज की, उसी ने मनुष्य के सारे दुःख भी साथ ही साथ खोज लिए।"

अपने धर्म को, स्वरूप व स्वभाव को आत्मा और चित्त की शाति को प्राप्त करने का आधार धन-सम्पत्ति या परिग्रह नहीं है, वरन् उसके त्याग मे, उसकी आशा व तृष्णा के घटाने मे ही निहित है।

अहमक पूछता है वहा जाने की राह क्या है ?
जेब गर हल्की करे हर जानिब से रास्ता है।

जिन महानुभावो ने "परिग्रह पोट उतारकर लीनो चारित पंथ" उन्होने आत्म धर्म प्राप्त किया है। जरा यह सोचना तो शुरू कीजिए कि धनवान होने की वह कौन-सी सीमा है कि जिसपर पहुंचकर आपके और अधिक धनवान बनने की इच्छा समाप्त हो जाय ? स्वय समझ मे आ जायेगा कि इस मृगतृष्णा से पार नही पाया जा सकता।

आशैव मदिराक्षाणाम आशैव विषमञ्जरी।
आशामूलानि दुःखानि प्रभवन्ती देहिनाम्॥
येषामाशा कुतस्तेषा मनः शुद्धि शरीरिणाम्।
अतो नैराश्यमवलम्ब्य शिवीभूता मनीषिण.॥
तस्य सत्य-श्रुत-वृत्त-विवेकस्तत्त्वनिश्चय।
निर्ममत्वं च यस्याशा पिशाची निधनंगता॥

बडी भयंकर है यह धनलिप्सा! यह तृष्णा ही समस्त दुःखों की जड़ है। इस आशा पिशाचिनी के नष्ट होने पर ही सत्य, श्रुतज्ञान, चारित्र, विवेक, तत्वनिश्चय और

(शेष पृ० ३ पर)

आचार्य कुन्दकुन्द के ग्रन्थों में निश्चय-व्यवहार का समन्वय

☐ डॉ० सुदर्शनलाल जैन, वाराणसी

दिगम्बर परम्परा में आचार्य कुन्दकुन्द का स्थान सर्वोपरि है। आपने भगवान महावीर की वाणी का मन्थन करके हमे नवनीत प्रदान किया है। भगवान महावीर ने जिस वीतरागता का उपदेश दिया था उसे मात्र बाह्यलिङ्ग के रूप मे समझा जाने लगा तो आपने भगवान् महावीर दर्शन के बाह्य और आभ्यन्तर वीतराग भाव को स्पष्ट किया। आभ्यन्तर वीतरागभाव को प्रकट करना उनका प्रमुख लक्ष्य था। अतः आपने उन्ही बातो का अधिक व्याख्यान किया है। इसका यह तात्पर्य नही है कि उन्हे बाह्य वीतराग मुद्रा अभीष्ट नही थी। वस्तुतः आपने बाह्य और आभ्यन्तर वीतरागभाव के उपदेशो का व्यवहार और निश्चय उभय नयो के द्वारा सम्यक् आलोडन करके अपने जीवन मे तथा स्व-रचित ग्रन्थो मे समावेश किया है। आपके ग्रन्थो के अन्तः साक्ष्य से तथा आपकी स्वय की जीवनशैली से आपकी निश्चय-व्यवहार की यथायोग्य समन्वय दृष्टि स्पष्ट परिलक्षित होती है।

सामान्य रूप से कोई भी लेखक अपनी रचनाओ के प्रारम्भिक अशो मे अपने अनुभवों को भूमिका रूप में स्थापित करता है और अन्त में उपसहार के रूप मे उन्हे परिपुष्ट करता है। अतः उन्ही अशो को यहा इस लेख में प्रमुख रूप से माध्यम बनाकर आपकी समन्वयदृष्टि का प्रतिपादन किया गया है—

आपकी मान्य रचनायें हैं—१. पचास्तिकाय संग्रह, २. समयसार, ३. प्रवचनसार, ४. नियमसार, ५. अष्टपाहुड, ६. द्वादशानुप्रेक्षा और ७. भक्तिसग्रह। 'रयणसार' के सन्दर्भ मे विद्वानो का मतभेद अधिक होने से उसे यहा नही लिया गया है। क्रमशः उनके उक्त ग्रथों का परिचय दिया जा रहा है।

१. पंचास्तिकाय सग्रह—यह ग्रन्थ दो श्रुतस्कन्धो मे विभक्त है। दोनों श्रुतस्कन्धों का प्रारम्भ ग्रन्थकार 'जिन' स्तुतिपूर्वक करते है।[1] यह नमस्कार निश्चय ही भक्तिरूप व्यवहार नय का आश्रय लेकर किया गया है। इसके प्रथम श्रुतस्कन्ध में षड्द्रव्यो का और द्वितीय श्रुतस्कन्ध में नव पदार्थों एव मोक्षमार्ग का वर्णन है।

प्रथम श्रुतस्कन्ध का उपसंहार करते हुए लिखा है—"प्रवचन के सारभूत पचास्तिकाय सग्रह को जानकार जो रागद्वेष को छोड़ता है वह दुखों से मुक्त हो जाता है। इसके अर्थ को जानकर तदनुगमनोद्यत, विगतमोह और प्रशमित राग-द्वेष वाला जीव पूर्वापरबन्धरहित हो जाता है।[2] द्वितीय श्रुतस्कन्ध में तत्वश्रद्धानादिरूप व्यवहार मोक्षमार्ग का कथन करके[3] निश्चय मोक्षमार्ग का कथन करते हुए लिखा है—"रत्नत्रय से समाहित (तन्मय) हुआ आत्मा ही निश्चय से मोक्षमार्ग है जिसमे वह अन्य कुछ भी नही करता है और न कुछ छोड़ता ही है।[4] यह कथन निश्चय ही निर्विकल्प शुद्ध ध्यानावस्था को लक्ष्य करके कहा गया है। इसके आगे बतलाया है कि अर्हदादि की भक्ति से बहुत पुण्यलाभ एव स्वर्गादि की प्राप्ति होती है। यही अर्हदादि की भक्ति से कर्मक्षय का निषेध और निर्वाणप्राप्ति की दूरी को भी बतलाया है, भले ही वह सर्वागमधारी और सयम-तपादि से युक्त क्यों न हो।[5] यह कथन भी छठे आदि गुण स्थान वालों को लक्ष्य करके कहा गया है। यही पर यह भी कहा गया है कि मोक्षाभिलाषी पुरुष निष्परिग्रही और निर्ममत्व होकर सिद्धों मे भक्ति करता

(पृष्ठ २ का शेषांश)

निर्ममत्व या अपरिग्रह जैसे गुण आत्मा मे प्रगट होते हैं—उसके रहते वे व्यर्थ है।

अस्तु, परिग्रह मे निरासक्त रहने का अभ्यास करने, उसका परिमाण करने का तथा उक्त परिमाण की सीमा को निरन्तर घटाते जाने का अभ्यास करने से ही व्यक्ति शनैः शनैः अपरिग्रही हो जाता है, और सच्चे सुख एवं शान्ति का उपभोग करता है।

चारबाग, लखनऊ

है और उससे वह निर्वाण प्राप्त करता है।[1] यहां टीकाकारों ने 'सिद्धेषु' का अर्थ शुद्धात्म द्रव्य में विश्रान्तिरूप पारमार्थिक सिद्धभक्ति अर्थ किया है।[2] गाथा १७२ की व्याख्या में अमृतचन्द्राचार्य और सिद्धसेनाचार्य ने केवल निश्चयावलम्बी उन जीवों को लक्ष्य करके कहा है जो वस्तुत: निश्चय नय को नहीं जानते हैं :—कोई शुभभाव वाली क्रियाओं को पुण्यबन्ध का कारण मानकर अशुभ भावों मे वर्तते हुए वनस्पतियों की भांति केवल पापबंध को करते हुए भी अपने में उच्च शुद्धदशा की कल्पना करके स्वच्छन्दी और आलसी हैं—

णिच्छयमालम्बन्ता णिच्छयदो णिच्छयं अयाणंता।
णासंति चरणकरण बाहरिचरणालसा केई॥

अन्त मे इस ग्रन्थ का उपसंहार करते हुए ग्रन्थकार लिखते हैं—प्रवचन (जिन वाणी) की भक्ति से प्रेरित होकर मैंने (मोक्ष) मार्ग की प्रभावना के लिए प्रवचन का सार भूत यह पंचास्तिकाय संग्रह सूत्र (शास्त्र) कहा है।[6]

इससे स्पष्ट है कि जो व्यवहाररूप अर्हदादि की भक्ति को मात्र स्वर्ग का साधन बतलाकर और मोक्षप्राप्ति मे प्रतिबन्धक बतलाकर तुरन्त उपसंहार करते हुए जिन मार्ग प्रभावनार्थ "प्रवचनभक्ति प्रेरित" जैसे वाक्यों का कथन क्यों करेगा। नमस्कार वाक्यों मे महावीर को "अपुनर्भव का कारण" कहना व्यवहार नयाश्रित कथन है क्योंकि निश्चय से कोई किसी का कारण नहीं है। इत्यादि कथनों से सिद्ध होता है कि व्यवहार रूप बाह्य क्रियायें भी निर्वाणप्राप्ति के लिए आवश्यक हैं परन्तु वहीं तक सीमित न रह जाएं। अत: उन तपस्वियों के प्रतिबोधनार्थ निश्चय का कथन करके आचार्य ने दोनों नयों का सम्यक् समन्वय करना चाहा है। किसी एक नय को हेय और दूसरे को उपादेय कहना स्याद्वाद सिद्धान्त का और आचार्य कुन्दकुंद का उपहास है। अपेक्षा भेद से अपने-अपने स्थान पर दोनों नय सम्यक् हैं। परमदशा की प्राप्ति तो नयोपरि अवस्था है।

'दर्शनविशुद्धि' आदि भावनाएं जो तीर्थङ्कर प्रकृति बन्ध की कारण मानी जाती हैं वे व्यवहार से बन्ध की कारण भले ही हैं परन्तु तीर्थङ्कर प्रकृति बन्ध करने वाला जीव नियम से निर्वाण प्राप्ति करने वाला माना गया है। इस तरह व्यवहार और निश्चय का सम्यक् समन्वय ही निर्वाण का हेतु है, न केवल व्यवहार और न केवल निश्चय नय। यही ग्रन्थकार का अभिमत है। नय मात्र वस्तु-परिज्ञान के लिए स्वीकृत है शुद्धात्मा नयातीत है।

(२) समयसार—

यहां "जीव" पदार्थ को "समय" शब्द से कहा गया है। जब वह अपने शुद्ध स्वभाव मे स्थित होता है तब उसे "स्वसमय" कहते हैं और जब परस्वभाव (राग-द्वेषादि के कारण पुद्गल कर्मप्रदेशों) मे स्थित होता है तब उसे "परसमय" कहते हैं।[1] इस ग्रन्थ में जीव के इस स्वसमय और परसमय का ही विवेचन किया गया है।

ग्रन्थारम्भ में ग्रन्थकार ध्रुव, अचल और अनुपम गति को प्राप्त सभी सिद्धों को नमस्कार करके श्रुत केवलियों के द्वारा कथित इस समय प्राभृत को कहने का संकल्प करते हैं।[2] इसके बाद एकत्व विभक्त (सभी पर पदार्थों से भिन्न-पुद्गलकर्मबन्ध से रहित) आत्मा की कथा की दुर्लभता का कथन करते हुए[3] उसके कथन करने की प्रतिज्ञा करते है—मैं अपनी शक्ति के अनुसार उस एकत्व-विभक्त आत्मा का यदि प्रमाणरूप से दर्शन करा सकूं तो प्रमाण मानना अन्यथा (ठीक से न समझा सकने पर या ठीक न समझने पर) छलरूप ग्रहण न करना।[4]

इससे सिद्ध है कि ग्रन्थकार का मुख्य उद्देश्य इस ग्रंथ मे आत्मा के दुर्बोध शुद्धस्वरूप का ज्ञान कराना है। अत: वे व्यवहार पक्ष को गौण करके निश्चय का कथन मुख्यता से करते है। इसका यह तात्पर्य नहीं कि व्यवहार मिथ्या है। इस सन्दर्भ मे उनका यह निवेदन ध्यान देने योग्य है कि "ठीक न जान सकने पर छल रूप ग्रहण न करना।" इस तरह से निश्चय ही व्यवहार और निश्चयनय से समन्वित कर आत्मा को दर्शाना चाहते है। अन्यथा वेदान्त दर्शन के साथ जैन दर्शन का भेद करना कठिन हो जायेगा। इसीलिए ग्रन्थकार व्यवहार नय से कहते है कि ज्ञानी जीव के चारित्र, दर्शन और ज्ञान है परन्तु (निश्चय नय से) न चारित्र है, न दर्शन है और न ज्ञान है, अपितु वह शुद्ध ज्ञायकरूप है।[5] यही ग्रन्थकार व्यवहार नय की अनुपयोगिता की अशंका का समाधान करते हुए कहते है कि जैसे अनार्य (साधारण) जन को अनार्य भाषा के बिना समझाना

(वस्तु स्वरूप का ज्ञान कराना) कठिन है उसी प्रकार व्यवहार नय के बिना परमार्थ का उपदेश देना अशक्य है।[६]

इस तरह यहां स्पष्टरूप से साधारण जन को परमार्थ तक पहुंचाने मे व्यवहारनय को अनिवार्य साधन के रूप में स्वीकार किया गया है। इसके आगे व्यवहार को "अभूतार्थ" तथा शुद्धनय (निश्चयनय) को "भूतार्थ" कहते हुए भूतार्थनयाश्रयी को सम्यग्दृष्टि कहा है।[७] यहा ग्रन्थकार भ्रम निवारणार्थ पुनः कहते हैं—जो परम भाव (उत्कृष्ट दशा) में स्थित है उसके द्वारा शुद्ध तत्त्व का उपदेश देने वाला शुद्धनय जानने योग्य है और जो अपरम भाव (अनुत्कृष्ट दशा) मे स्थित है वे व्यवहारनय से उपदेश करने के योग्य है।[८] इस तरह व्यवहारनय को त्याज्य न बतलाते हुए अपेक्षा भेद से ग्रन्थकार दोनो नयों की प्रयोजनवत्ता को सिद्ध करते है। अधिकाश जीव अपरम भाव में ही स्थित है। यहा टीकाकार "अमृतचन्द्राचार्य" "उक्तं च" कहकर एक गाथा उद्धृत करते हैं—

"जइ जिणमय पवज्जह ता मा ववहारणिच्छए मुयह।
एक्केण विणा छिज्जइ तित्थं अण्णेण उणतच्चं॥"[९]

अर्थ—यदि तुम जिनमत की प्रवर्तना करना चाहते हो तो व्यवहार और निश्चय दोनो नयों को मत छोडो, क्योंकि व्यवहार नय के बिना तो तीर्थ (व्यवहार मार्ग) का नाश हो जायेगा और निश्चय नय के बिना तत्त्व (वस्तु) का नाश हो जायेगा क्योंकि जिनवचन को स्याद्वाद रूप माना गया है, एकान्तवादरूप नहीं। अतः जिनवचन सुनना, जिनविम्बदर्शन आदि भी प्रयोजनवान् है।

ग्रन्थ का उपसंहार करते हुए आचार्य ने कहा है "जो बहुत प्रकार के गृहस्थ आदि बाह्य लिङ्गो मे ममत्व करते हैं वे समयसार को नही जानते।[१०] व्यवहार नय दोनो (मुनि और गृहस्थ) लिङ्गो को इष्ट मानता है।[११] पर यहा जो अलिङ्गी को मोक्षमार्ग निश्चय नय से कहा है वह विशुद्धात्मा की दृष्टि से कहा है। जो विशुद्ध आत्मा है वह जीव-अजीव द्रव्यों मे से कुछ भी न तो ग्रहण करता है और न छोड़ता है।[१२]

इस प्रकार जो इस समयप्राभृत को पढकर अर्थ एव तत्त्व को जानकर इसके अर्थ मे स्थित होगा वह उत्तम सुख प्राप्त करेगा।[१३] यहां पडिहूड (पढकर), अत्थतच्चदो णाउं (अर्थ तत्त्व को जानकर) और अत्थे ठाही चेया (अर्थ मे स्थित आत्मा) पद चिन्तनीय हैं जो निश्चय व्यवहार के समन्वय को ही सिद्ध करते है। शुद्ध निश्चय नय तो स्वस्वरूप स्थिति है वहां कुछ करणीय नही होता, जब कि संसारी को करणीय कर्म भी जानना जरूरी है।

(२) **प्रवचनसार**—

यह ज्ञान, ज्ञेय और चारित्र इन तीन अधिकारों में विभक्त है। इसकी प्रारम्भिक पांच गाथाओ में तीर्थंकरों, सिद्धो, गणधरों, उपाध्यायों और साधुओ को नमस्कार किया गया है तथा उनके विशुद्ध दर्शन-ज्ञान प्रधान आश्रय को प्राप्त करके निर्वाण सम्प्राप्ति के साधनभूत समताभाव को प्राप्त करने की कामना की गई है। इसके बाद सराग चारित्र वीतराग चारित्र आदि का कथन किया गया है।

तृतीय चारित्राधिकार का प्रारम्भ करते हुए ग्रन्थकार सिद्धो और श्रमणो को बारम्बार नमस्कार करके दुःखनिवारक श्रमणदीक्षा लेने का उपदेश देते है।[१] इसके बाद श्रमणधर्म स्वीकार करने की प्रक्रिया आदि का वर्णन करते हुए निश्चय-व्यवहाररूप श्रमणधर्म का विस्तार से कथन करते है। प्रसङ्गवश प्रशस्तराग के सन्दर्भ में कहा है—

"रागो पसत्थभूदो वत्थुविसेसेण फलदि विवरीदं।
णाणाभूमिगदाणिह बीजाणिव सस्सकालम्हि॥२२५॥"

अर्थ जैसे एक ही बीज भूमि की विपरीतता से विपरीत फल वाला देखा जाता है वैसे ही प्रशस्तरागरूप शुभोपयोग भी पात्र की विपरीनता से विपरीत फल वाला होता है। इससे सिद्ध है कि प्रशस्त राग पात्रभेद से तीर्थंकर प्रकृति के बन्धादि के द्वारा मुक्ति का और निदानादि के बन्ध से संसारबन्ध का, दोनों का कारण हो सकता है। श्री जयसेनाचार्य ने २५४वी गाथा की व्याख्या करते हुए इसी अर्थ को स्पष्ट करते हुए लिखा है—'वैयावृत्य गृहस्थों का मुख्य धर्म है। इससे वे खोटे ध्यानों से बचते हैं तथा साधु-सगति मे निश्चय-व्यवहार मोक्ष मार्ग का ज्ञान होता है, पश्चात् परम्परया निर्वाणप्राप्ति होती है।'[२]

उपसहाररूप २७४वी गाथा मे शुद्धोपयोगी मुनि को सिद्ध कहकर नमस्कार किया गया है तथा २७५वी गाथा

में ग्रन्थ का फल बतलाते हुए लिखा है—

बुज्झदि सासणमेय सागारणगार चरियया जुत्तो ।
जो सो पवयणसारं लहुणा कालेण पप्पोदि ।।२७५।।

अर्थ—जो गृहस्थ और मुनि की चर्या से युक्त होता हुआ (अरहन्तभगवान् के) इस शासन (शास्त्र) को जानता है वह शीघ्र ही प्रवचन के सार (मोक्ष) को प्राप्त कर लेता है। यहा "सागारणगारचरियया" शब्द ध्यान देने योग्य है जिसकी व्याख्या करते हुए जयसेनाचार्य ने लिखा है—'अभ्यन्तररत्नत्रयानुष्ठानमुपादेय कृत्वा बहिरङ्गरत्नत्रयानुष्ठान सागारचर्या श्रावकाचर्या। बहिरङ्गरत्नत्रयाधारेण भ्यन्तर रत्नत्रयानुष्ठानमनगारचर्या प्रमत्तसयतादितपोधनचर्येत्यर्थः।"

इस तरह इस प्रवचनसार मे विशेष रूप से व्यवहार निश्चयरूप मुनिधर्म का प्रतिपादन करते हुए ग्रन्थकार दोनो नयों का सम्यक् समायोजन चाहते है। ज्ञान और ज्ञेय अधिकार मे भी निश्चय-व्यवहार अथवा द्रव्यार्थिक-पर्यायार्थिक दोनो नयों का समन्वय करते हुए वस्तु तत्त्व का विवेचन करते है।

(४) नियमसार—

जो अवश्यकरणीय (नियम से करने योग्य) हो उन्हें "नियम" कहते है। नियम से करने योग्य है सम्यग्ज्ञान, दर्शन और चारित्र। विपरीत ज्ञान, दर्शन और चारित्र का परिहार करने के लिए नियम शब्द के साथ "सार" पद का प्रयोग किया गया है।[१] इस तरह यह नियमसार ज्ञान, दर्शन और चारित्र स्वरूप नियम निर्वाण का कारण (मोक्षोपाय) है तथा उसका फल परम निर्वाण प्राप्ति है।[२] इसमे १६ अधिकार हैं। इस ग्रन्थ के लिखने का प्रयोजन ग्रन्थकार ने यद्यपि निज भावना बतलाया है परन्तु प्रवचन भक्ति भी इसका प्रयोजन रहा है।[३]

ग्रन्थारम्भ करते हुए ग्रन्थकार "जिन" को नमस्कार करके केवली और श्रुतकेवलियो के द्वारा कथित नियमसार को कहने का सकल्प करते है।[४] पश्चात् व्यवहार और निश्चय दोनो नयों की दृष्टि से रत्नत्रय का कथन करते है। प्रथम जीवाधिकार के अन्त मे ग्रन्थकार निश्चय-व्यवहार तथा द्रव्यार्थिक-पर्यायार्थिक दोनो प्रकार के नय विभाजना का समन्वय करते है :—

कत्ता भोत्ता आदा पोग्गलकम्मस्स होदि ववहारा।
कम्म जंभावेणादा कत्ता भोत्ता दु णिच्छयदो ।।८
दव्वत्थिएण जीवा वदिरित्ता पुव्वभणिदपज्जया।
पज्जवणयेण जीवा संजुत्ता होंति दुविहेहिं ।।६

दशम परम भक्त्यधिकार के प्रारम्भ मे ग्रन्थकार व्यवहार नय की अपेक्षा से उसकी प्रशसा में लिखते है— "जो श्रावक अथवा मुनि रत्नत्रय मे भक्ति करता है अथवा गुणभेद जानकर मोक्षगत पुरुषो मे भक्ति करता है उसे निवृत्ति-भक्ति (निर्वाण भक्ति) होती है।"[५]

अन्त मे ग्रन्थकार अपनी सरलता को बतलाते हुए हृदय के भाव को प्रकट करते है—'प्रवचन की भक्ति से कहे गये नियम और नियमफल मे यदि कुछ पूर्वापर विरोध हो तो समयज्ञ (आगमज्ञ) उस विरोध को दूर करके सम्यक् पूर्ति करें।"[६] किन्तु ईर्ष्याभाव से इस सुन्दर मार्ग की यदि कोई निन्दा करे उनके वचन सुनकर जिनमार्ग के प्रति अभक्ति न करे क्योंकि यह जिनोपदेश पूर्वापरदोष से रहित है।'[७] यहाँ पूर्वापरविरोध परिहार की बात करके ग्रन्थकार दोनों नयो का सम्यक् समन्वय करना चाहते हे। इसे सुनकर ईर्ष्या भाव उत्पन्न होने की सम्भावना को ध्यान में रखते हुए ग्रन्थकार व्यवहार नयाश्रित भक्ति को न छोड़ने की बात करते है।

इस तरह ग्रन्थकार सरल हृदय से किसी एक नय का ऐकान्तिक ग्रहण अभीष्ट न मानते हुए पूर्वापरविरोध रहित स्याद्वाद का सिद्धान्त ही प्रतिपादन करना चाहते है।

(५) अष्टपाहुड—

दर्शनादि सभी पाहुडो के प्रारम्भिक पद्यो मे वर्द्धमान आदि तीर्थङ्करो को नमस्कार किया गया है।[१] शील पाहुड मे शील और ज्ञान के अविरोध को बतलाते हुए लिखा है कि शील के बिना पन्चेन्द्रिय के विषय ज्ञान को नष्ट कर देते है।[२] अतः सही ज्ञान के लिए चारित्र अपेक्षित है। लिङ्गपाहुड मे केवल बाह्यलिङ्ग से धर्मप्राप्ति मानने वालो को प्रतिबोधित किया गया है।[३] इससे स्पष्ट है कि ग्रन्थ-का पथभ्रष्ट बाह्यलिङ्गी साधुओ को ही प्रतिबोधित करना मुख्य लक्ष्य रहा है। इस तरह इस ग्रन्थ में भी दोनों नयों का समन्वय देखा जा सकता है।

(६) द्वादशानुप्रेक्षा—

इसका प्रारम्भ सिद्धों और चौबीस तीर्थङ्करों के नमस्कार से होता है।[1] अन्तिम से पूर्ववर्ती दो गाथाओं (८९ ९०) मे अनुप्रेक्षाओं का माहात्म्य बतलाकर उनके चिन्तन से मोक्ष गये पुरुषों को बारम्बार नमस्कार किया गया है। अन्तिम गाथा कुन्दकुन्दाचार्य के ग्रन्थो के मर्मज्ञ किसी अन्य विद्वान् के द्वारा जोड़ी गई जान पड़ती है क्योंकि वहा ज भणियं कुन्दकुन्दमुणिणाहे" वाक्य का प्रयोग किया गया है जबकि पंचास्तिकाय की अन्तिम गाथा में "मया भणिय" का प्रयोग किया गया है।[2] द्वादशानुप्रेक्षा की पूरी अन्तिम गाथा इस प्रकार है—

इदि णिच्छयववहारं ज भणियं कुन्दकुन्दमुणिणाहे।
जो भावइ सुद्धमणो सो पावई परमणिव्वाण ॥९१॥

इस गाथा मे ग्रन्थकार के निश्चय-व्यवहार के समन्वय को स्पष्ट शब्दो में कहा गया है। "सुद्धमणो" शब्द से यहा एकान्त आग्रह रहित वीतराग हृदय का सकेत किया गया है।

(७) भक्ति संग्रह—

यह पूर्णतः भक्तिग्रन्थ होने से आदि से अन्त तक व्यवहारनयाश्रित है। जैसे—"तित्थयरा मे पसीयन्तु,[3] आरोग्गणाणलाहं दितु समाहिं च मे बोधि[4], सिद्धासिद्धि मम दिसतु[5], दुक्खखय दितु[6] मगलमत्थु मे णिच्च[7], णिव्वाणस्स हु लद्धो तुम्ह पसाएण[8], एयाण णमुक्कारा भवे भवे मम सुह दितु इत्यादि।"

ये कथन अपेक्षाभेद से सिद्धान्तविपरीत नही है। बाह्य रूप से देखने पर लगता है कि पूर्ण शुद्ध निश्चयनय का प्रतिपादन करने वाले आचार्य कुन्दकुन्द ईश्वरकर्तृत्व-वाचक व्यवहारपरक वाक्योंका प्रयोग कैसे कर सकते है परतु निश्चय और व्यवहार के समन्वय के इच्छुक आचार्य के ये प्रयोग अनुपपन्न नही है। क्योकि तटस्थ निमित्तकारणो को भक्तिवश यहा सक्रियनिमित्त कारणों के रूप में कहा गया है जो 'स्यात्' पद के प्रयोग से असगत नही है।

इस प्रकार ग्रन्थकार के सभी ग्रन्थों के आलोकन से सिद्ध होता है कि उन्हें उभयनयो का समन्वय है। अभीष्ट है जो जिनमत के अनुकूल है। इसीलिए वे शुद्ध निश्चयनय से सिद्धादि के प्रति व्यावहारिक भक्तिभाव का निषेध करते हुए भी प्रत्येक ग्रन्थ के प्रारम्भ में, कहीं-कहीं मध्य और अन्त में भी सिद्धादि के प्रति नमस्कार रूप भक्ति को प्रदर्शित करते हैं। भक्ति सग्रह पूर्णत: भक्ति का पिटारा है। इसी प्रकार मात्र बाह्यलिग का निषेध करके भी उसका न केवल प्रतिपादन ही करते है अपितु स्वयं भी भावलिङ्ग के साथ बाह्यलिङ्ग को भी धारण करते है।

शुद्ध निश्चय नय से ससारी और मुक्त आत्माओं को नियमसार मे जन्म जरादिरहित, सम्यक्त्वादि आठ गुणो से अलकृत, अतीन्द्रिय, निर्मल विशुद्ध और सिद्धस्वभावी कहा है।[9] परन्तु क्या अपेक्षाभेद से इतना जानने मात्र से संसारी और मुक्त सर्वथा समान हो जायेगे। ऐसा होने पर मुक्ति के लिए प्रयत्न हितोपदेशादि सब व्यर्थ हो जायेगे। किन्च वही परद्रव्य को हेय और स्व को उपादेय कहा है।[11] क्या निश्चयनय से हेयोपादेय भाव बन सकता है? कभी नही सम्भव है। यह हेयोपादेय भाव व्यवहारनय से ही सम्भव है। अत ग्रन्थकार के किसी एक कथन को उपादेय मानना एकान्तवाद का स्वीकार करना है जो स्याद्वादसिद्धान्त से मिथ्या है। जब तक समग्र दृष्टि से चिन्तन नही करेगे तब तक ग्रन्थकार के काल का सही मूल्याकन नही हो सकेगा। ग्रन्थकार ने किन परिस्थितियो मे किनके लिए निश्चय नय का उपदेश दिया है, यह ध्यान देने योग्य है। व्यवहार (अभूतार्थ) को सर्वथा हेय उन्होने कभी नही कहा अपितु उसे ही पकडकर बैठ जाने अथवा उसकी ओट मे जीविका चलाने का निषेध किया है।[12] आचार्य ने स्वयं समयसार के कर्तृकर्माधिकार के अन्त मे दोनो नयो से अतिक्रान्त समयसार है, किसी नयाश्रित नही कहकर सारभूत अपने समन्वयवादी दृष्टिकोण को स्पष्ट शब्दो मे कहा है। जैसे—

जीवे कम्म बद्ध पुट्ठ चेदि ववहारणयभणिद।
सुद्धणयस्स दु जीवे अबद्धपुट्ठ हवई कम्म ॥१४१॥
कम्म बद्धमबद्धं जीवे एव तु जाण णयपक्ख।
पक्खातिक्कतो पुण भण्णदि जो सो समयसारो ॥१४२
सम्मद्दसणणाण एद लहदित्ति णवरि ववदेस।
सव्वणयपक्खरहिदा भणिदो जो सो समयसारो ॥१४४

अर्थात् व्यवहार नय से जीव मे कर्म बद्ध स्पृष्ट है परन्तु निश्चयनय से अबद्ध स्पृष्ट है। "जीव मे कर्म बधे

हैं अथवा नही बंधे हैं" ऐसा कथन नय पक्ष है परन्तु जो इससे दूर (पक्षातिक्रान्त) है वही समयसार है। जो शुद्ध आत्मा से प्रतिबद्ध है, दोनों नयो के कथन को केवल जानता है, किसी भी नयपक्ष को ग्रहण नही करता है, वही पक्षातिक्रान्त है। जो सभी नयपक्षों मे रहित हैं वही समयसार है। यह समयसार ही सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और (सम्यक्-चारित्र) इस नाम को प्राप्त होता है।

इस तरह आचार्य कुन्दकुन्द के दर्शन मे निश्चय व्यवहार का समन्वय देखा जाता है जो जैन दर्शन के अनुकूल और युक्तिसगत है। —काशी हिन्दू विश्वविद्यालय

सन्दर्भ-सूची

१. पंचास्तिकाय —

१ (क) प्रथम श्रुतस्कन्ध मे —
इंदसदवंदियाण तिहुअणहिदमधुर विसदवक्काण।
अतातीदगुणाण णमो जिणाण जिदभवाण ।। पचा. १
समणमुहुग्गदमट्ठ चदुग्गदिनिवारण सणिव्वाण।
एसहणमिय सिरसा समयमिम सुणह वोच्छामि। पचा. २
(ख) द्वितीय श्रुतस्कन्ध मे —
अभिवदिऊण सिरसा अपुणब्भवकारण महावीरं।
तेसिं पयत्थभंग मग्ग मोक्खस्स वोच्छामि ।। पचा. १०५

२. एवपवयणसार पच त्थियसगह वियाणि ।।
जो मुयदि रागदोसे सो गाहदि दुक्खप रमोक्ख ।। प.१०३
मुणिऊण एतदट्ठ तदणुगमणुज्झदो णिहदमोहो।
पसमियरागद्दोसो हवदि हदपरावरो जीवो ।। पचा. १०४

३. पंचा. १०७, १६० ४. पंचा. १६१-१६३

५. पंचा. १६६, १६८, १७०-१७१

६. पचा. १६९ ७. पचा. १६९ (वही)

८. मग्गप्पभावणट्ठं पवयणभत्तिप्पचोदिदेण मया।
भणिय पवयणसारं पंचत्थियसंगह सुत्त ।। पंचा. १७३

२. समयसार—

१. समयसार गाथा २

२. बंदित्तु सव्वसिद्धे धुवमचलमणोवम गइ पत्ते।
वोच्छामि समयपाहुडमिणमो सुयकेवली भणिय ।। सम. १

३. समय० ३-४

४. तं एयत्तविहत्त दाएह अप्पणो सविहवेण।
जदि दाएज्ज पमाणं चुक्किज्ज छल ण घेतव्व ।। समय. ५

५. ववहारेणुवदिस्सई णाणिस्स चरित्तदसण णाणं।
ण वि णाण ण चरित्त ण दंसणं जाणगो सुद्धो ।।समय. ७

६. जह ण वि सक्कमणज्जो अणज्जभास विणा उ गाहेउ।
तह ववहारेण विणा परमत्थुवएसणमसक्कं ।। समय. ८
तथा देखिए, वही गाथा ९-१०

७ ववहारोऽभूयत्थो भूयत्थो देसिदो उ सुद्धणओ।
भूयत्थमस्सिदो खलु सम्माइट्ठी हवई जीवो ।। समय. ११

८. सुद्धो सुद्धादेसो णायव्वो परमभावदरिसीहिं।
ववहारदेसिदा पुण जे दु अपरमेट्ठिदा भावे ।। समय. १२

९. समयसार गाथा १२ (टीका)

१०. पाखडीलिंगेसु वा गिहलिंगेसु वा बहुप्पयारेसुं।
कुव्वति जे ममत्त तेहिं ण णाय समयसार ।। समय. ४१३

११. ववहारिओ पुणणओ दोण्णिवि लिंगाणि भणई मोक्खपहे
णिच्छयणओ ण इच्छइ मोक्खपहो सव्वलिंगाणि ।। ४१४

१२ तम्हा उ जो विसुद्धो चेया सो णेव गिण्हए किंचि।
णेवविमुचई किंचिवि जीवाजीवाण दव्वाण ।।समय. ४०७

१३ जो समयपाहुडमिण पठिदूण अत्थतच्चदो णाउ।
अत्थेठाही चेया सो होही उत्तम सोक्ख ।। समय. ४१५

(३) प्रवचनसार—

१. प्रवचनसार गाथा २०१

२. प्रवचनसार गाथा २५४ जयसेनाचार्य टीका

(४) नियमसार—

१. णियमेण य जं कज्जं तण्णियम णाणदसणचरित्त।
विवरीयपरिहरत्थ भणिद खलु सारमिदि वयण ।। निय. ४

२. नियम० गाथा २, ४

३ नियम० गाथा १८४, १८६ (देखे नियम० टि. ६, ७

४. नियम० गाथा ?

५. सम्मत्तणाणचरणे जो भत्ति कुणइ सावगो समणो।
तस्स दु णिव्वुदिभत्ती होदित्ति जिणेहि पण्णत्त ।। नि० १३४
मोक्खगयपुरिसाण गुणभेदं जाणिऊण तेसिं पि।
जो कुणदि परमभत्ति ववहारणयेण परिकहियं ।। नि० १३५

६. णियम णियमस्स फल णि द्दिट्ठ पवयणस्स भत्तीए।
पुव्वावरविरोधी जदि अवणीय पुरयतु समयण्हा ।। १८४

७. ईसाभावेण पुणो केई णिदति सुंदरं मग्गं।
तेसिं वयण सोच्चाऽभत्ति मा कुणह जिणमग्गे ।। नि. १८५

(शेष पृ० १० पर)

एक नया मिथ्यात्व—'अकिंचित्कर'

जिन-शासन में मिथ्यादर्शन को संसार (बंध) का मूल और सम्यग्दर्शन को मुक्ति (निवृत्ति) का मूल कहा है। सम्यग्दर्शन का निश्चयलक्षण स्वात्मानुभूति और मिथ्यादर्शन का लक्षण पर-रूपपने को स्व-रूपपने रूप अनुभूति है। कहा भी है—"शुद्धनिश्चयनयेनैक एव शुद्धात्मा प्रद्योतते प्रकाशते प्रतीयते अनुभूयत इति। या चानुभूति प्रतीति शुद्धात्मोपलब्धिः सा चैव निश्चयसम्यक्त्वमिति।"—समयसार १३ (जयसेन टीका)।

उक्त आत्मानुभूतिरूप सम्यग्दर्शन नियमतः कर्मनिर्जरा का कर्ता और परानुभूतिरूप मिथ्यादर्शन नियमतः कर्मबन्ध का कर्ता होता है। इसके अतिरिक्त बाह्यरूप में तत्त्वादि का सच्चा श्रद्धान करना या मिथ्या श्रद्धान करना जैसे सम्यग्दर्शन और मिथ्यादर्शन के बाह्य-व्यवहार लक्षणों के माध्यम तो निर्जरा या बन्ध में निमित्त मात्र हैं—कर्ता नहीं। यदि कोई व्यक्ति निश्चयलक्षणों को तिरस्कृत कर, निमित्तरूप व्यवहार लक्षणों मात्र के आधार पर यह कहे कि सम्यग्दर्शन या मिथ्यादर्शन का विषय श्रद्धा मात्र है और उनसे निर्जरा या बंध नहीं होता, तो वह लोगों को भरमाने वाला है और निमित्त को कर्ता मानने का दोषी है। जैसा कि "अकिंचित्कर" पुस्तक में किया गया है। इसमें कर्तारूप अनुभूति जैसे लक्षणों को तिरस्कृत कर—व्यवहार लक्षणों (जो निमित्त मात्र होते है) के आधार पर मिथ्यात्व को बन्ध में अकिंचित्कर सिद्ध करने की कोशिश की गई है जो सर्वथा ही मिथ्या है। क्योंकि बंध के सभी साधनों के मूल में अनुभूति ही है और अविरति कषायादि के होने में भी अनुभूति ही मूल कारण है।

"मिथ्यात्व बंध का कारण नहीं है" यह चर्चा अखबारों में बरसों से चल रही है इस विषय की "अकिंचित्कर" पुस्तक हमारी दृष्टि में अभी आई है जो जनता को भरमाने वाली और प्रकारान्तर से निवृत्ति के विरोधी कुदेव-कुदेवियों के श्रद्धालु बनने का मार्ग-प्रशस्त कराने वाली है। यतः—जब मिथ्यात्व से बन्ध नहीं होता तो इस मिथ्यात्व को क्यों छोड़ा जाय; आदि। पुस्तक के विरोध में हमें मनीषियों के लेख मिले हैं। कुछ लेख प्रकाशित कर रहे है। पाठक विचारें और इस नए मिथ्यात्व से बचें। —सम्पादक

मिथ्यात्व ही द्रव्यकर्मबन्ध का मूल कारण है

□ श्री पं० फूलचन्द्र सिद्धान्तशास्त्री, हस्तिनापुर

मिथ्यात्व को द्रव्यकर्मबन्ध का कारण नहीं कहना द्रव्यकर्मबन्ध की प्रक्रिया को नहीं समझने का फल है। इस कारण जहाँ भी द्रव्यकर्मबंध कारण कहो या आस्रव कहो इनका विवेचन किया है वहाँ आचार्य कुन्दकुन्द आदि आचार्यों ने द्रव्यकर्मबन्धके होने में मिथ्यात्व को प्रथम स्थान दिया है।

यह जीव अन्य भोगोपभोग आदि सामग्री में 'मैं' और 'मेरापन' कर युक्त होता है तो वह मिथ्यात्व के सद्भाव में ही युक्त होता है। मिथ्यात्व का अभाव होने पर संसार की मर्यादा बन जाती है। इसलिए परवस्तु में एकत्व बुद्धि करने का मूल कारण मिथ्यात्व ही है। वह संसार की जड है। उसके सद्भाव में अविरति और कषाय आदि अपना काम विशेषरूप से करती है, उसके बिना नहीं। देखो द्रव्य कर्मों का उत्कृष्ट स्थिति बन्ध और अशुभप्रकृतियो का उत्कृष्ट अनुभाग बन्ध तीव्र मिथ्यात्व के बिना केवल तीव्र कषाय से नही हो सकता। इसीलिए आचार्यों ने मूल सूत्रों की रचना मे मिथ्यात्व प्रमुख रक्खा है। मिथ्यात्व गुण-स्थान में उत्कृष्ट स्थिति (तीन आयुओं के बिना) बन्ध और अशुभप्रकृतियों का उत्कृष्ट अनुभागबन्ध मिथ्यात्व गुणस्थान में ही कहा है, अन्य गुणस्थानों में नहीं।

यह सोचना कि मिथ्यात्व अधिकरण तो है, कर्ता नही बिल्कुल वाहियात है। हमने कहीं लिखा है तो विवक्षा से ही लिखा है। खुद्दा बन्ध में एकेन्द्रिय जीव बन्धक हैं आदि सूत्रों में 'जो बन्धा' 'बंधा' आया है उसका अर्थ 'बन्धक' हीनता किया है, क्योंकि ये दोनों शब्द 'कर्ता' कारक के अर्थ में ही निष्पन्न हुए है। इसलिए बन्ध के कर्ता है ऐसा वहाँ समझना चाहिए। जैसे उपादान में सद्भूत व्यवहार-नय से छहो कारक घटित हो जाते हैं, वैसे ही अविनाभावी निमित्त कारणो में असद्भूत व्यवहारनय से छहों कारक घटित हो जाते हैं, इसमें आगम से कोई बाधा नही आती।

निमित्त दो प्रकार के होते हैं एक कर्म निमित्त और दूसरे नोकर्म निमित्त। जैसे कर्मनिमित्त मिथ्यात्व आदि नियत हैं वैसे नोकर्म निमित्त नियत नहीं होते। ये कहीं कोई निमित्त हो जाता है और कहीं कोई। मिथ्यात्व आदि का कर्मनिमित्तों मे अन्तर्भाव होता है।

यद्यपि त० सू० के छठे अध्याय में ज्ञानावरणादि के आस्रव के भेदों का विवेचन किया है पर बारीकी से देखने पर वे सब मिथ्यात्व आदि अन्तर्भूत हो जाते हैं।

प्रथम गुणस्थान में जो मिथ्यात्व, नपुंसक वेद आदि १६ प्रकृतियों का बन्ध होता है उसका मूल कारण मिथ्यात्व ही है। मिथ्यात्व के साथ अविरति, प्रमाद, कषाय और योग तो होते ही हैं, मिथ्यात्व बिना वे हों तो भी इन १६ प्रकृतियों का बन्ध अन्य से नहीं होगा, यह आगम स्वीकार करता है। पर मिथ्यात्व में बंधने वाली जो प्रकृतियाँ है उसका कारण भी मिथ्यात्व भी है, क्योंकि उनका जो कि उत्कृष्ट स्थिति बंध होता है। वह तीव्र मिथ्यात्व के सद्भाव में ही होता है तीन आयुओं को अपवाद इसलिए रख दिया है कि उनका उत्कृष्ट स्थितिबन्ध विशुद्धिवश ही होना है। फिर भी तिर्यंचायु का उत्कृष्ट स्थितिबन्ध मिथ्यात्व में ही होगा। मनुष्यायु भी उसी प्रकार प्रकृति है। देवायु का उत्कृष्ट स्थितिबन्ध सयमी के अवश्य होगा, यहां इतना विशेष जानना।

अकिंचित्कर पुस्तक में जो अनन्तानुबन्धी मे 'अनुबंध' का अथ किया है वह पुराने आचार्य और विद्वानो ने वैसा अर्थ नहीं किया। केवल हमें अकिंचित्कर पुस्तक मे ही पढ़ने को मिला। अनन्त भवों तक जिनके यथासम्भव उदय की परम्परा चलती रहे वे अनन्तानुबन्धी क्रोध, मान, माया लोर लोभ प्रकृतियाँ हैं। इनसे यह जीव अनन्त भवों तक परिभ्रमण की सामर्थ्य प्राप्त करता है। अनुबन्ध शब्द अनन्त भवों तक की संसार मे परिभ्रमण की सूचना देता है यह उसका तात्पर्य है।

अकिंचित्कर पुस्तक में अनन्तानुबन्धी की विसयोजना करने वाले का मिथ्यात्व मे आने पर एक आवलि काल तक अनन्तानुबन्धी का उदय नहीं रहता इसे गोलमाल कर दिया गया है। जबकि संक्रमावलि हो या बन्धावलि, एक आवलि काल तक उनके उदय न होने का नियम है यह षट्खण्डागम मे तो स्वीकार किया ही है, कषायप्राभृत में भी इस नियम को स्वीकार न कर अन्य प्रकृतियों मे स्वीकार किया गया है। केवल अनन्तानुबंधी के लिए इस नियम को नहीं स्वीकार किया गया है। कषायप्राभृत मे बतलाया है कि अनन्तानुबन्धी की विसंयोजना करने वाला जीव जब सासादन गुणस्थान मे आता है तो अन्य कषायों का उससे संक्रम होकर उसी समय सासादन गुण के कारण अनन्तानुबन्धी का अपकर्षण होकर उदय हो जाता है। यहाँ जो परस्पराश्रय दोष आता है उसकी अवगणना की गई है।

इस प्रकार हम देखते है कि अकिंचित्कर पुस्तक से मिथ्यात्व बन्ध के कारणों मे मुख्य होकर, उसे गौण कर दिया गया है और कषायो को आगे कर दिया गया है। जबकि कषायों की सत्ता मिथ्यात्व को स्वीकार करने पर ही बनती है, अन्यथा नहीं। विस्तृत पुस्तक सप्रमाण हम लिख रहे हैं उससे बातें स्पष्ट हो जायेगी, जिनागम क्या है वह समझ मे आ जायगा। □□

(पृ० ८ का शेषांश)

णियभावणाणिमित्तं मए कद णियमसारणामसुदं।
णच्चा जिनोवदेसं पुव्वावरदोसणिम्मुक्क॥ नियम. १८६

(५) अष्टपाहुड—
१. दर्शनपाहुड गाथा १, २ २. शीलपाहुड गाथा २
३. धम्मेण होइ लिंगं ण लिंगमेत्तेण धम्मसपत्ती।
जाणेहि भावधम्मं कि ते लिंगेण कायव्वो॥ लिंगपा. २
जो पावमोहिदमदी लिंगं घेत्तूण जिणवरिंदाण।
उवहसइ लिंगि भावं लिंगं णसेदि लिंगीण॥ लिंगपा० ३

(६) द्वादशानुप्रेक्षा (बारसणुपेक्खा)—
१. द्वादशानुप्रेक्षा गाथा १ २. पंचास्ति० गाथा १७३

(७) भक्तिसंग्रह—
३. तीथकर भक्ति ६ ४. तीर्थंकर भक्ति ७
५. ,, ८ ६. योगिभक्ति २३
७. आचार्य भक्ति १ ८. आचा० ७ ९. पंचगुरुभक्ति ७
१०. जारिसया सिद्धप्पा भवमल्लिय जीव तारिसा होंति।
जरमरणजम्ममुक्का अट्ठगुणालकिया जेण॥ नियम. ४७
असरीररा अविणासा अणिंदिया णिम्मला विसुद्धप्पा।
जह लोयग्गे सिद्धा तह जीवा ससिदी णेया॥ नियम० ४८
एदे सव्वे भावा ववहारणय पडुच्च भणिदा हु।
सव्वे सिद्धसहावा सुद्धणया संसिदी जीवा॥ नियम. ४९
११. नियमसार गाथा ५०
१२. देखें लिंगपाहुड, अष्टपाहुड टिप्पण न० ३

मिथ्यात्व का बदला रूप—'अकिंचित्कर'

□ पं० मुन्नालाल प्रभाकर, ननौरा वाले

ऐसे मिथ्यादृग ज्ञान चरण, वश भ्रमत भरत दुख जनम मरण,
तातै इनको तजिए सुजान, सुन तिन संक्षेप कहूं बखान ॥

पं० दौलतरामजी कहते हैं कि मिथ्यादर्शन (मिथ्यात्व) मिथ्याज्ञान तथा मिथ्याचारित्र के आधीन होकर यह जीव चारों गतियो मे भ्रमण करता है और जनम-मरण आदि के दुःख सहता है। इसके अतिरिक्त समन्तभद्राचार्य कहते है कि तीनो कालो तथा तीनों लोकों मे सम्यक्त्व के समान कल्याणकारी तथा मिथ्यात्व के समान अकल्याणकारी अन्य नही है। जिसका समर्थन चारो अनुयोगो के समस्त शास्त्र करते है। उस मिथ्यात्व को बंध का कारण न मानना जिनागम के प्रतिकूल होगा, जबकि मोक्ष शास्त्र को बध अधिकार में मिथ्यात्व, अविरति, प्रमाद, कषाय तथा योग ये पाँच प्रत्यय स्पष्ट रूप से बताये है जिनमे मूल बध का कारण मिथ्यात्व है। जब तक मिथ्यात्व का अभाव नही होगा ससार का अन्त नही हो सकता। इसीलिए मिथ्यात्व को आगम मे अनन्त कहा है और इसके जाने के पश्चात ससार का अन्त अवश्य होगा। अर्थात् अर्धपुद्गल परावर्तन मात्र काल रह जाता है ऐसा नियम है। इस मिथ्यात्व के अभाव के बिना बाकी चारों बध के प्रत्ययों का अभाव होना असम्भव है जैसे जड़ के सूखे बिना पत्तों को काटने से (सूखने से) वृक्ष नही सूख सकता तथा मिथ्यात्व आदि १६ प्रकृतियां प्रथम मिथ्यात्व गुणस्थान मे ही बंधती है। प्रथम गुणस्थान के अन्त समय में इनकी बंध व्युच्छित्ति हो जाती है अर्थात् आगे के गुणस्थानो मे इनका बध नहीं होता (गोमट्टसार कर्मकाण्ड बधादियत्र) तथा मिथ्यात्व को बध करने वाली मिथ्यात्व प्रकृति को न मान कर अनन्तानुबधी कषायो को मिथ्यात्व के बंध का कारण मानना आगम सम्मत नही है। क्योकि सासादन गुणस्थान में अनन्तानुबंधी का उदय ६ आवली और कम से कम एक समय रहता है। उस समय मिथ्यात्व आदि १६ प्रकृतियों का बध नहीं होता इसीलिए अनन्तानुबंधी को मिथ्यात्व के बंध का कारण मानना ठीक नही है क्योकि जिसके साथ अन्वय और व्यतिरेक दोनों होते हैं वही कारण न्याय्य तथा आगम अनुकूल है। आगम में कर्मों की १२० प्रकृतियों के बंध के कारण इस प्रकार बताये हैं—१६ प्रकृतियों के बंध का कारण मिथ्यात्व, २५ प्रकृतियों के बंध कारण अनन्तानुबंधी कषायोदय जनित अविरति है जिसका अनुबंध मिथ्यात्व का साथ देने का है तथा मिथ्यात्व अनन्त है। इसी से इसको अनन्तानुबंधी कहते है। १० प्रकृतियों के बंध का कारण अप्रत्याख्यान—वर्णी कषायोदय जनित अविरति, ४ प्रकृतियो के बंध का कारण प्रत्याख्यानवरण कषायोदयजनित अविरति ६ प्रकृतियों के बंध का कारण प्रमाद, ५८ प्रकृतियो के बंध का कारण संज्वलन कषाय तथा एक सातावेदनीय के बंध का कारण योग। इस प्रकार १२० प्रकृतियों के कारण अलग-अलग बताए हैं। बाकी २८ प्रकृतिया इनमे ही गर्भित हैं। फिर भी मिथ्यात्व जो कि इस सब कारणो का मूल है उसको अकिंचित्कर कहना तथा अनन्तानुबधी को उसके बध का कारण कहना ऐसा है जैसे कोई कहे कि दो और दो चार नहीं होते। क्योकि मोक्ष शास्त्र के आठवें अध्याय के दूसरे सूत्र में बंध के कारण न बता कर बध का लक्षण बताया है, उसके आधार पर मिथ्यात्व के बंध का कारण अनतानुबधी कषाय को मानना उचित नही बैठता क्योकि अनन्तानुबधी वह कषाय है जिसका अनुबध अनन्त मिथ्यात्व के साथ देने का है। उस कषाय को अनन्तानुबधी कषाय कहते है। बध तथा अनुबंध की परिभाषा स० सि० ८-७-११ में इस प्रकार की है—बध शब्द कारण साध्य है ऐसी विवक्षा मे मिथ्यात्व आदि पाँचों प्रत्यय बध के कारण हैं और अनुबंधः स्यात प्रवृत्तस्य अनुवर्तने=प्रवृत्त के पश्चात् अनुसरण करने वाला। इससे यह स्पष्ट

होता है कि प्रथम गुणस्थान में मिथ्यात्व के उदय के पश्चात् ही अनन्तानुबंधी का उदय आता है और अन्तराल मे मिथ्यात्व का बध होता ही है क्योकि मिथ्यात्व का उदय आ गया और उदय माना बध का कारण है और उस बध का कारण मिथ्यात्व के अतिरिक्त अन्य हो नही सकता। यदि अनन्तानुबंधी मिथ्यात्व के बंध का कारण है तो सासादन मे भी बंध होना चाहिए तथा गिरते समय मिथ्यात्व के उदय आने पर पहले गुणस्थान में अनन्तानुबंधी के अभाव मे मिथ्यात्व का बंध नहीं होना चाहिए, किन्तु बध होता है। इससे स्पष्ट है कि मिथ्यात्व के बध का कारण मिथ्यात्व ही है। हाँ, अनन्तानुबधी मिथ्यात्व का साथ देती है। साथ देने मात्र से इसको बध का कारण नही कहा जा सकता तथा अनन्तानुबधी को मिथ्यात्व के बध का कारण आगम मे कही भी नही कहा है और दो सौ बयालीस (२४२) उद्धरण जो अकिंचित्कर पुस्तक मे दिए है उनमे भी कोई ऐसी पक्ति स्पष्ट देखने मे नहीं आई है कि अनन्तानुबधी मिथ्यात्व के बध का कारण है। बध का लक्षण "कम्माणं सम्बन्धो बधो" ऐसा गोम्मटसार कर्मकाण्ड की ४३८वी गाथा मे किया है। जिसका अर्थ कर्मों के आत्मा के साथ सम्बन्ध होना बध है और जैन सिद्धान्त प्रवेशिका मे अनेक वस्तुओ के सम्बन्ध विशेष को बध कहा है तथा तत्त्वार्थ सूत्र के आठवें अध्याय के पहले सूत्र मे बध के जो पाँच कारण बतलाए है वो इस प्रकार है—१. मिथ्यात्व, २. अविरति, ३. प्रमाद, ४. कषाय तथा ५. योग। ये पाँचो कारण एक दूसरे की अपेक्षा रखते है। अर्थात् मिथ्यात्व के कारण से अविरति होती है। उस अविरति का कारण अनन्तानुबंधी, अप्रत्याख्यानावर्णी, प्रत्याख्यानावर्णी के उदय से होती है। इस अविरति के उदय से ३९ उनतालीस प्रकृतियों का बध होता है। प्रमाद के योग से छः प्रकृतियो का बंध होता है। संज्वलन कषाय से ५८ अट्ठावन प्रकृतियो का बध होता है तथा योग से एक सातावेदनीय मात्र का बंध होता है। ऐसी बध व्यवस्था तो आगम मे देखने मे आती है। हाँ, मोक्षशास्त्र के आठवे अध्याय के दूसरे सूत्र मे जो कहा है वह चारो प्रकार के बध के लक्षण की अपेक्षा कहा है। क्योकि उन कर्मबधों की चार अवस्थाएँ—१. प्रकृति, २. प्रदेश, ३. स्थिति और ४. अनुभाग हैं। इन चारों अवस्थाओं को दृष्टि में रखते हुए उमा स्वामी महाराज ने कहा है—"सकषायत्वाज्जीव: कर्मणो योग्यान् पुद्गलानादत्ते स:बन्ध:।" अर्थ—कषाय सहित जीव के द्वारा कर्म होने योग्य पुद्गल परमाणुओ का ग्रहण बंध है। वास्तव मे बध योग से ही होता है। और योग आत्मा के प्रदेशों की सकंपता को कहते है। बाकी चार प्रत्यय मिथ्यात्व, अविरति, प्रमाद और कषाय ये योग के कारण है। इसलिए पाँचों को ही बंध का कारण कहा है। इन पांचों का अभाव भी इसी क्रम से होता है, और उस अभाव के साथ-साथ बधने वाली प्रकृतियो का अभाव भी होता जाता है। संसार मे भ्रमण करने का कारण मिथ्यात्व होने पर भी मिथ्यात्व को अकिंचित्कर कहना आगम विसगत है। भले ही आचार्य महाराज ने अपने भाषण मे कहा हो लेकिन पुस्तक के छपवाने का आदेश नहीं दिया होगा। क्योकि पुस्तक के छपने से ये स्थायी विधान हो गया कि मिथ्यात्व कुछ नहीं है—'अकिंचित्कर' है। लोग पहले ही मिथ्यात्व के वशीभूत होकर पद्मावती आदि देव-देवियो से वरदान मागते है और उनसे अपने कार्यों की सिद्धि होना मानते है। तथा तीर्थ क्षेत्रो मे जाकर भी छत्र चढ़ाकर वरदान माँगते है कि यदि मेरे पुत्र हो जाये, धन की प्राप्ति हो जाये और मुकदमा जीत जाऊँ ऐसी भावनाएँ करते है तथा अन्य देवी-देवताओ की उपासना मे लगे हुए है। इस पुस्तक के पढ़ने से लाभ तो कुछ नजर नही आता, किन्तु लोगो की प्रवृत्ति मिथ्यात्व मे बढ़ जायेगी ऐसी सम्भावना नजर आती है। इसीलिए ऐसा दुष्प्रचार नही होना चाहिए।

'अकिंचित्कर पुस्तक मे पृष्ठ १६ पर लिखा है कि यदि मिथ्यात्व के स्थान पर अनन्तानुबंधी को रख देते है तो प्रथम और द्वितीय गुणस्थान का अन्तर समाप्त हो जाता। पर, ऐसा नही है क्योकि आगम में कहा है मिथ्यात्व के उदय से अदेव में देव बुद्धि, अतत्त्व मे तत्त्व बुद्धि, अधर्म में धर्म बुद्धि इत्यादि विपरीताभिनिवेश रूप जीव के परिणाम होते हैं। और अनन्तानुबधी आत्मा के सम्यक्त्व और स्वरूपाचरण चारित्र का घात करती है। जिसको सासादन गुणस्थान कहते है। उसके पश्चात्

(शेष पृ० १६ पर)

'अकिंचित्कर' पुस्तक आगम-विरुद्ध है

□ पद्मचन्द्र शास्त्री, संपादक 'अनेकान्त'

यह सच है कि हम करणानुयोग मे मूढ़ हो, और हमें कुछ आता भी नही हो। शायद इसीलिए एक सज्जन बोले—पंडित जी ! "मिथ्यात्व किंचित्कर हैं या अकिंचित्कर" इसे आप क्या जाने ? हमने कहा—आपका कहना ठीक है । भला जब करुणानुयोग के ज्ञाता भी इस विषय के प्रतिपादन मे अकिंचित्कर और विपरीत श्रद्धा मे है, तो हमारी क्या बिसात ? पर, इससे द्रव्यानुयोग को झूठा तो नही माना जा सकता—जब द्रव्य ही न होगा तब करण होगा किसमे ? मूल तो द्रव्य को विषय करने वाला द्रव्यानुयोग ही है जो द्रव्यो के गुण-स्थान आदि की पूरी-पूरी जानकारी देता है ।

"मिथ्यात्व अकिंचित्कर है" इस नई चर्चा को प्रकाश मे आए कई वर्ष हो गए । तब इसके समर्थन और विरोध मे उद्भट विद्वानो तक के कई लेख पढ़ने को मिलते रहे, पर निर्णय परक (दोनो पक्षो को स्वीकार्य) कोई लेख देखने में नही आया । बावजूद इस मतभेद के, फिर भी ७४ पेजो की इकतर्फा पुस्तक छप गई । पुस्तक का नाम है—"**अकिंचित्कर ।**"

प्रस्तुत पुस्तक 'ज्ञानोदय-प्रकाशन', जबलपुर की देन है और इसमे आज के ख्यातनामा पूज्य आचार्य विद्यासागर जी महाराज की वर्तमान मान्यता मे हुए उनके स्वय के प्रवचनो के प्रकाशन की बात है । निःसन्देह पुस्तक एक मान्य दिगबराचार्य सम्मत होने से श्रावक मुनियो के नियमित स्वाध्याय मे शास्त्र की आसन्दी पर पढ़ी जायगी—कुछ लोगो की मान्यता भी बदलेगी । कुछ लोग सोचेंगे कि शायद **यह एक प्रतिक्रिया है उस मान्यता को—जिसमें मात्र सम्यग्दर्शन प्राप्ति के लिए लोगों को प्रेरित किया गया या और चारित्र की उपेक्षा कर दी गई थी** । आचार्य महाराज ने कषायादि को दुख की जननी बताकर "मिथ्यात्व अकिंचित्कर" के बहाने सम्यग्दर्शन की महिमा को लुप्त कर दिया । यद्यपि लोगों के चारित्र में गिरावट को देखते हुए महाराज का यह कदम ठीक है । वे कहते हैं—"मिथ्यात्व हटाओ... मिथ्यात्व हटाओ" कहने मात्र से वह हटने वाला नही । हमे हटने के लिए कषायों को व उसको भी समझना होगा और उनसे बचने का भी प्रयास करना होगा ।"—अकिंचित्कर पृ० ७८ । पर, आगम की दृष्टि से "मिथ्यात्व अकिंचित्कर है ।" यह विषय हमे रास नही आया । आचार्य श्री स्वय जान और मान रहे हैं कि मिथ्यात्व को बंध में अकिंचित्कर मानने जैसी उनकी घोषणा से विपरीतता फैली है । उन्होने स्वय कहा है—

"लोग कहते है महाराज, आप आठ-दस वर्षों से निरन्तर यह चर्चा कर रहे है, इससे आपको क्या लाभ हुआ ? आपको जो भी लाभ हुआ हो सो ठीक है, लेकिन इतना अवश्य है कि लोगो मे मिथ्यात्व के विषय का दुष्प्रचार अवश्य हुआ है, ऐसी मेरी धारणा है ?"

—अकिंचित्कर, पृष्ठ ७२.

ऐसी स्थिति मे और जब विरोध मे लिखे गए लेखो का निराकरण जनता तक न पहुचा हो, पुस्तक प्रकाशको द्वारा इस विषय को शास्त्र की आसन्दी पर विराजमान हो सकने वाली पुस्तक रूप मे न गूंथकर केवल अखबारो तक ही सीमित रखना न्याय्य था । यतः—अखबार शास्त्र की गद्दी पर नही पढ़े जाते । पुस्तक से लोग भ्रमित होंगे कि प्राचीन आचार्यों के वाक्य ठीक है या वर्तमान आचार्य श्री विद्यासागर महाराज ?

दूसरी बात, मिथ्यात्व को बंध मे अकिंचित्कर मानने से पद्मावती आदि रागी देवी-देवताओं की महिमा पूजा को बढ़ावा मिलेगा । लोग कहेंगे—जब मिथ्यात्व बंध का कारण नही है तो हम क्यों इस मिथ्यात्व से रुकें ? हम तो इन्हें मात्र सांसारिक इष्ट-सिद्धि के लिए पूजते है, आदि ।

"**कम्माण संबधो बंधो**" **—कर्मका० ४३८; जीवकर्म-**

प्रदेशाऽन्योन्यसंश्लेषो बंधः"—रा० वा० १।३।१४, से स्पष्ट है कि सबंध-संश्लेष होने का नाम बंध है; वह संश्लेष आत्मप्रदेशो से कार्माण वर्गणाओ अथवा कर्मों के 'अण्णोण्णपवेसण' रूप है। और ऐसा सश्लेष जीव के प्रति प्रदेशबंध का ही है। शेष प्रकृति स्थिति और अनुभाग ये सभी तो कार्माण वर्गणाओ से सश्लिष्ट होते हैं—यानी स्थिति और अनुभाग कार्माण कर्मों मे पड़ते हैं, आत्मा या आत्मप्रदेशो मे नही। अत. कषायो की तीव्रता-मन्दता से कर्मरूप वर्गणाओ मे पड़े स्थिति और अनुभाग को—मात्र कर्म-प्रदेशा से बंधने के कारण (जीव के प्रति Direct बध नही होने पर भी) बन्ध कह दिया गया है। पर, इन्हे कर्म प्रदेशो के अभाव मे 'अण्णोण्ण पवेसण' की परिभाषा मे सीधा नही घटाया जा सकता। फलतः—प्रदेशबन्ध, जो कि मुख्य है उसे गोण कर, कार्माण वर्गणाओ मे घटित होने वाली स्थिति और अनुभाग मे हेतुभूत कषाय मात्र को जीव और कर्म सम्बन्धी जैसे (प्रदेश) बध मे मुख्य कारण नही माना जा सकता। जब भी बध होगा योगो की ही मुख्यता होगी—'जोगापयडिपदेसाः' और योग में यथास्थिति मिथ्यात्व भी कारण है। अतः हमे पूरे बंध प्रसंग मे आचार्यों के वाक्य **'मिथ्यादर्शनाविरति प्रमाद-कषाययोगाः** बन्धहेतवः', रूप मे सभी को यथायोग्य रीति से बंध मे कारण मान लेना चाहिए। 'तत्र **मिथ्यादृष्टेः** पंचापि समुदिताः बन्ध हेतव '······'तत्र च **मिथ्यादर्शना**-दिविकल्पा I प्रत्येक बन्धहेतुत्वमवगन्तव्यम्। त०रा० वा० ८।१।३१, इसी राजवार्तिक के ८।२।८ में बध के विषय मे कहा गया है—'अतो**मिथ्यादर्शना**द्यावेशात् आर्द्रीकृतस्यात्मनः सर्वतो योगविशेषात् तेषा सूक्ष्मक्षेत्रावगहिताम् अनतानंत पुद्गलानां कर्मभावयोग्यानामविभागोपश्लेषो बन्ध इत्याख्यायते।' फलतः—पांचो हेतुओं मे (यथा प्रसग) मिथ्यात्व को अकिंचित्कर नहीं माना जा सकता।

पूर्वाचार्य श्री विद्यानन्दि के मतानुसार तो (जिस कषाय को मिथ्यात्व के बंध मे कारण मान वर्तमान आचार्य विद्यासागर जी मिथ्यात्व को बध के प्रति अकिंचित्कर कह रहे हैं।) उस **कषाय में मूल कारण भी मिथ्यात्व ही है**।' विद्यानन्दि स्वामी कहते हैं—'तत्रभावबन्धः क्रोधाद्यात्मकः, तस्य हेतु**मिथ्यादर्शनम्**।······**मिथ्यादर्शन** हेतुको भावबन्धः······न चैवमेकैव हेतुक एव बन्धः, पूर्वस्मिन्-पूर्वस्मिन्नुत्तरस्योत्तरस्यबन्धहेतोः सद्भावात्······**मिथ्यादर्शन** हेतुकश्च।······न चायं भावबंधो द्रव्यबंधमन्तरेण भवति, मुक्तस्यापितत्प्रसंगात् इति द्रव्यबंधः सिद्धः। सोऽपि **मिथ्यादर्शना**विरतिप्रमादकषाय योगहेतुक एव बन्धत्वात्।' —आप्तप० कारिका २१६, यानी द्रव्य और भाव इन दोनों बंधो मे यथायोग्य रीति मे मिथ्यात्व भी कारण है।

आचार्य अकलंक देव ने प्रश्न उठाया कि जब उमास्वामी ने 'मिथ्यादर्शनादि' प्रथम सूत्र मे पाँचों को बंध में हेतु कह दिया तो दूसरे सूत्र मे कषाय को पृथक् से पुनः क्यो बंध का कारण कहा? इसके समाधान मे आचार्य स्वयं कहते हैं कि यह प्रसग स्थिति और अनुभाग बधों के कारणो को स्पष्ट करने मे है। तथाहि—

"पुनः कषायग्रहणमनुवाद इति चेत् न; कर्मविशेषाशयवाचित्वात् जठराग्निवत्।।५।।······कषायेषु सत्सुतीव्र-मन्दमध्यमकषायाशयानुरूपे स्थित्यनुभवने भवत इत्येतस्य विशेषस्य प्रतिपत्त्यर्थं बन्धहेतुविधाने कषायग्रहण निर्दिष्टं पुनरनूद्यते।' त० रा० वा० ८।२।?.

जयधवलाकार ने योग की जो परिभाषा की है उससे सभी बधो मे प्रदेशबन्ध को ही मुख्यता मिलती है और वह बध योगो द्वारा होता है—'जोगापयडिपदेसाः'। तथा योग की उत्पत्ति मे अन्य कारणो की भांति—यथावसर—मिथ्यात्वरूपी कारण को भी ग्रहण करना अनिवार्य है—योग के कारणो मे मिथ्यात्व को सर्वत्र ही छोड़ा नही जा सकता।—'जोगो णाम जीवपदेसाणं कम्मादाणणिबन्धणो परिप्फदपज्जाओ।' जयध० १२ पृ० २०२. यहाँ आदान और बन्ध मे शब्द मात्र का भेद है; क्योकि आस्रव और बन्ध दोनो के कारणों में भेद नही है। योग की सत्ता भी प्रथम से लेकर तेरहवे गुणस्थान तक रहती है। कषाय की सत्ता तो मात्र दशवे गुणस्थान तक ही है। यदि कषाय को ही बंध का मूल कारण माना जाय तो कषाय के अभाव मे बन्ध क्यों होता है? और कषाय की सत्ता मे दूसरे गुणस्थान मे भी मिथ्यात्व आदि १६ का बन्ध क्यों नही होता? विचारणीय है।

बध के कारण प्रसंग को उठाते हुए महाबन्ध के प्रारम्भिक कर्मबन्ध मीमांसा प्रसग मे जो बात उठाई गई

है उससे यह स्पष्ट होता है कि बंध के कारणों से मिथ्यात्व को सर्वथा सर्वथा अलग नही किया जा सकता । और यह तो हम पहिले ही कह चुके है कि कषाय (अनन्त नुबंधी) की उत्पत्ति का जनक मिथ्यात्व ही है—न कि मिथ्यात्वं का जनक कषाय—'तत्र भावबन्धः क्रोधाद्यात्मकः तस्य हेतुर्मिथ्यादर्शनम्······' सोऽपि (द्रव्यबन्धोऽपि) मिथ्यादर्शनाविरतिप्रमाद कषाय योग हेतुक एव बन्धत्वात् ।

—आप्त० २१६.

कर्मबंध मीमासा प्रसग में जो बात कही गई है वह इस भांति है—

"राग-द्वेषादि विकारों सहित अज्ञान बंध का कारण है। थोडा भी ज्ञान यदि वीतरागता सम्पन्न हो तो कर्म-राशि को विनष्ट करने मे समर्थ हो जाता है । परमात्म-प्रकाश टीका मे लिखा है—'वीरा वेरग्गपराथोवपि हु सिक्खऊण सिज्झंति ।························ ।।पृ० २२७।।

वैराग्य संपन्नवीर पुरुष अल्पज्ञान के द्वारा भी सिद्ध हो जाते हैं। सम्पूर्ण शास्त्रो के पढ़ने पर भी वैराग्य के बिना सिद्ध पद की प्राप्ति नही होती । समन्तभद्र अपने युक्तिवाद द्वारा इस समस्या को सुलझाते हुए कहते हैं—

'अज्ञानान्मोहिनो बन्धो न ज्ञानाद्वीतमोहतः ।
ज्ञानस्तोकाच्चमोक्षः स्यादमोहान्मोहिनोऽन्यथा ।।'

—आ० मी० ९८.

मोह विशिष्ट व्यक्ति के अज्ञान से बध होता है। मोहरहित व्यक्ति के ज्ञान से बंध नही होता है। मोह-रहित आत्मज्ञान से मोक्ष होता है । मोही के ज्ञान से बध होता है।'

यहाँ बन्ध का अन्वय व्यतिरेक ज्ञान की न्यूनाधिकता के साथ नही है । इससे ज्ञान को बन्ध या मुक्ति का कारण नहीं माना जा सकता । मोह सहित ज्ञान बन्ध का कारण है और मोहरहित ज्ञान मुक्ति का कारण है। अतः यह बात प्रमाणित होती है कि बन्ध का कारण मोहयुक्त अज्ञान है··············। यहां यह आशका सहज उत्पन्न होती है कि इस कथन की सूत्रकार उमास्वामी के इस सूत्र के साथ विरुद्धता है—'मिथ्यादर्शनाविरतिप्रमादकषाय-योगः बन्ध हेतवः ।'

इस विषय का समाधान करते हुए विद्यानन्दि स्वामी कहते हैं (अष्टसह० पृ० २६७) कि मोहविशिष्ट अज्ञान में सक्षेप से मिथ्यादर्शन आदि का संग्रह किया गया है। इष्ट अनिष्ट फल प्रदान करने में समर्थ कर्म बन्ध का हेतु कषायैकार्थसमवायी अज्ञान के अविनाभावी मिथ्यादर्शन, अविरति, प्रमाद, कषाय तथा योग को कहा गया है। मोह और अज्ञान मे मिथ्यात्व आदि का समावेश हो जाता है। दोनो आचार्यों के कथन में तात्त्विक भेद नही है, केवल प्रतिपादन शैली की भिन्नता है।"

उक्त प्रसग को अष्टसहस्री विवरणम् दशम परिच्छेद पृ० ३३५ पर इस प्रकार कहा गया है—

"नचैवं अज्ञानहेतुत्वे बन्धस्य मिथ्यादर्शनादि हेतुत्वं कथं सूत्रकारोदितं न विरुद्धयन इति चेत्, मिथ्यादर्शना-विरतिप्रमादकषाययोगानाम् कषायैकार्थसमवाय्यज्ञानाविना-भाविनामेवेष्टानिष्टफलदानसमर्थकर्मबन्धहेतुत्वसमर्थनात् मिथ्यादर्शनादीनामपि सग्रहात् सक्षेपत इति बुद्ध्यामहे । ततो मोहिन एवाज्ञाद्विशिष्टः कर्मबन्धो न वीतमोहादिति सूक्तम् ।"

पाठक देखें—जहाँ अज्ञान को बन्ध का कारण कहा, वहाँ उस अज्ञान मे मोह को ही कारण माना; और मोह वह है जो मोहित करे, भुलाए, अज्ञानी बनाए । ऐसा मोह मुख्यत. दर्शनमोह–(मिथ्यात्व) ही है। चारित्रमोह तो श्रद्धान मे बाधक न होकर मात्र चारित्र घातक है और श्रद्धान व चारित्र में महद् अन्तर है । यह पाठक सोचें कि दर्शन और चारित्र मे कौन किसका साधक है? कौन पहिले और कौन पीछे है? क्या यह ठीक है कि दर्शन के बाद के क्रम में आने वाला चारित्र, दर्शन का कारण हो यानी जो चारित्र मोहनीय की प्रकृति अनन्तानुबन्धी है, वह प्रथम प्रकृति-दर्शनमोहनीय (मिथ्यात्व) के बन्ध में कारण हो? आश्चर्य !

क्या कभी यह भी सोचा कि यदि मिथ्यादर्शन बन्ध में कारण न होगा तो उसका विरोधीभाव—सम्यग्दर्शन भी मोक्ष में कारण न होगा। और ऐसे में 'ज्ञानचारित्रेमोक्ष-मार्ग.' सूत्र रचना पड़ेगा। सम्यक् शब्द तो दर्शन का विशे-षण है, वह भी न हो सकेगा और तब सारा का सारा

दि० सिद्धान्त ही लुप्त हो जायगा। भला यह भी कैसे सम्भव है कि हम सम्यक्चारित्र मे तो सम्यग्दर्शन को अनिवार्य कारण मानें और मिथ्याचारित्र मे मिथ्यादर्शन को कारण न मानें। अनन्तानुबन्धी (जो स्वयं चारित्र-मोहनीय की प्रकृति ही है) को प्रकारान्तर से (मिथ्यात्वोत्पादक मान लेने के कारण) मिथ्याचारित्र के उत्पादन का मूल कहें ?

उक्त विषय मे स्व० प० कैलाशचन्द्र सिद्धान्त शास्त्री जैन सन्देश के अंक दिनांक २३-१२-८२ में और मान्य पं० जगम्मोहन लाल शास्त्री अंक दिनांक २९-७-८२ में प्रकाश डाल चुके है—उन पर विचार किया जाना चाहिए। हम नही चाहते कि—पूर्वाचार्य की 'तत्र भावबन्धः क्रोधाद्यात्मकः, तस्यहेतुर्मिथ्यादर्शनम्' घोषणा को अपने तर्कों की कसोटी पर झुठलाया जाय और उस सबके प्रति जनता मे भ्रम पैदा होने जैसा कोई कदम उठाया जाय।

कोई कितने भी तर्क क्यो न दे, हम आगमकी मूल घोषणा को गलत मानने को तैयार नही—'तस्यहेतुर्मिथ्यादर्शनम्।'

वीर सेवा मन्दिर, दरियागज, नई दिल्ली-२

(पृष्ठ १२ का शेषांश)

मिथ्यात्व के उदय आने पर मिथ्यात्व गुण स्थान होता है। इससे स्पष्ट होना है, दोनों का पृथक्-पृथक् कार्य है। ऐसी अवस्था मे अनन्तानुबंधी को मिथ्यात्व का उत्पादक कहना ठीक नहीं बैठता और गोम्मटसार जीवकाण्ड की २८२ गाथा में भी कहा है—सम्यक्त्व, देशचारित्र; सकलचारित्र, यथाख्यात चारित्र को घातती हैं।

सम्यक्त्व के घात होने के पश्चात् मिथ्यात्व के उदय आने पर ही मिथ्यात्व गुणस्थान होता है। कहाँ तक कहें समयसार मे भी कहा है कि जैसा वस्तु का स्वभाव कहा हुआ है वैसे स्वभाव को नही जानता हुआ अज्ञानी (मिथ्यादृष्टि) अपने शुद्ध स्वभाव से अनादि ससार से लेकर च्युत हुआ ही है। इस कारण कर्म के इस उदय मे जो राग, द्वेष, मोह (मिथ्यात्व आदिक) भाव हैं उनसे परिणमता अज्ञानी राग, द्वेष, माह आदिक भावो को करता हुआ कर्मों से बधता ही है ऐसा नियम है।

मुझे वर्तमान छद्मस्थो के तर्क वितर्क से पदार्थ निर्णय में उतना विश्वास नही जमता, जितना प्राचीन आचार्यों के वाक्यों में विश्वास है। अतः यदि किसी ग्रन्थ म ये पंक्ति स्पष्ट लिखी हो कि मिथ्यात्व के बध में अनन्तानुबंधी कषाय कारण है, तो विचार किया जा सकता है। अभी तो हमारे समक्ष पूर्व आचार्य जी श्री विद्यानन्दि की यह पंक्ति विद्यमान है—

"तत्र भाव बध. क्रोधाद्यात्मकस्तस्य हेतुर्मिथ्यादर्शनम्।"

—आप्त परीक्षा २।१

इस प्रकरण के स्पष्टीकरण में स्व० प० कैलाशचन्द्र जी ने सन् १९८२ में एक लेख लिखा था, उसके पश्चात् यह चर्चा बन्द-सी हो गयी थी। अब अकिंचित्कर नाम की पुस्तक के द्वारा पुनः इसका यह प्रचार किया जा रहा है कि मिथ्यात्व अकिंचित्कर है। अब प० कैलाशचन्द्र जी तो है नही, मुझे बड़ा आश्चर्य है कि अन्य विद्वान् क्यो मौन साधे बैठे हैं ? उनको इसका खुलकर आगमानुकूल विरोध करना चाहिए।

कैसी विडम्बना है कि एक ओर तो 'अकिंचित्कर' पुस्तक पृ० ११ पर यह स्वीकार किया गया है कि 'प्रथमगुणस्थान में मिथ्यात्व के उदय मे बँधने वाली मात्र १६ प्रकृतियाँ ही हैं' और दूसरी ओर यह कहा जा रहा है कि मिथ्यात्व से बन्ध नही होता—'कषाय से ही मिथ्यात्व का बन्ध'—पृ० ८. 'अनंतानुबन्धी मिथ्यात्व की जननी'—पृ० ३७. 'मिथ्यात्व की अकिंचित्करता'—पृ० ६२. पाठक सोचें कि क्या यह स्ववचन बाधित नही ?

जब आगम में २५ प्रकृतियों (अनतानुबन्धी ४, स्त्यानगृद्धि, निद्रानिद्रा, प्रचला-प्रचला, दुर्भग, दुस्वर, अनादेय, अप्रशस्तविहायोगति, स्त्रीवेद, नीचगोत्र, तिर्यंगति, तिर्यंग्गत्यानुपूर्वी, तिर्यगायु, उद्योत, सस्थान ४, सहनन ४) के बध का विधान अनतानुबधी कषाय की मुख्यता में है और इनमे मिथ्यात्व की गणना नही है। तब क्या अकिंचित्कर का प्रचार मिथ्यात्व को बढ़ावा देने के लिए किया जा रहा है ? क्या इससे कुदेव-देवियो के पुजापे को बढ़ावा न मिलेगा ?

जब मिथ्यात्व गुणस्थान मे चारों प्रत्ययों से बध का विधान है—'चदुपच्चइयो बंधो पढमे'—गो. कर्म. ७८७. तब मिथ्यात्व को उन प्रत्ययो से कैसे छोडा जा सकता है ?

पाठक विचारें और धोखे मे न आयें।

२/३८, अंसारी रोड, दिल्ली

क्या मिथ्यात्व बंध के प्रति 'अकिंचित्कर' है ?

☐ श्री बाबूलाल जैन कलकत्ते वाले

बहुत समय से यह विषय चल रहा है और सभी बडे-बड़े विद्वानों ने इस बारे मे अपनी जानकारी से लोगो को अवगत कराया है और ग्रन्थो के प्रमाण भी रखे है। अध्यात्म का दृष्टिकोण तो बहुत साफ है। समूचे पापों का जनक—समस्त कषायो का जनक—ससार का कारण एक मिथ्यात्व को ही बताया है।जब श्रद्धा विपरीत होती है तब जो कषाय बनती है वह अनन्तानुबंधी होती है। जब अपने स्वभाव को नही जानता और शरीरादिक मे अपनापना मानता है तब एक प्राप्त शरीर में ही अपनापना नही है परन्तु अनन्त शरीर भी प्राप्त कर सकता तो सब मे अपनापना आ जाता। जब यह मानता है कि पर वस्तु से दु:ख होता है और पर वस्तु से सुख होता है तब सामने कोई एक वस्तु है उससे ही द्वेष बुद्धि नही है परन्तु अनन्त वस्तु भी होती तो उन सबसे द्वेष बुद्धि हो जाती अथवा राग बुद्धि हो जाती। इसलिए शुक्ल लेश्या का धारी द्रव्यलिंगी मुनि के कोई कषाय देखने मे नही आ रही है परन्तु अनन्तानुबंधी बराबर चल रही है अनन्तानुबंधी का अर्थ तीव्र और मन्द से नही है परन्तु मिथ्या श्रद्धा के कारण वह अपने अभिप्राय में अनन्तों पदार्थों का स्वामित्व, अनन्त पदार्थों के प्रति राग-द्वेष बुद्धि लिए हुए चल रहा है। वह कषाय अथवा वह अभिप्राय तभी मिट सकता है जब श्रद्धा ठीक हो। इसके अलावा कषाय करने का और अनन्त पदार्थों के प्रति राग-द्वेष करने का अभिप्राय किसी भी तरह नही मिट सकता, चाहे श्रद्धा का ठीक होना और अनन्तानुबंधी का मिटना एक ही साथ हो परन्तु श्रद्धा सही हुए बिना अनन्तानुबंधी नही जा सकती। इसीलिए आचार्यों ने मिथ्यात्व को ससार का कारण और सम्यग्दर्शन को संसार के अभाव का कारण कहा है, इसीलिए मिथ्यात्व को सबसे बड़ा पाप कहा है जिसके गये बिना कोई कषाय जा ही नही सकती।

इसी बात को करणानुयोग भी साबित करता है कि दूसरे गुणस्थान मे अनन्तानुबधी कषाय है परन्तु वह मिथ्यात्व का बध करने मे अकिंचित्कर है, जबकि चौथे से जो गिरा जिसके अनन्तानुबन्धी की विसंयोजना हुई है और मिथ्यात्व का उदय आने पर नयी अनन्तानुबन्धी कषाय का बन्ध करता है जबकि संयोजना होकर अनन्तानुबन्धी अभी उदय को प्राप्त नही हुई हैं। इसका अर्थ हुआ कि अनन्तानुबन्धी तो मिथ्यात्व को बांधने मे अकिंचित्कर रही और मिथ्यात्व अनन्तानुबन्धी को बांधने मे अनिवार्य रहा। ऐसा ही सर्वार्थसिद्धि टीका में आठवे अध्याय में लिखा है—

"अनन्त संसार कारणत्वान्मिथ्यादर्शनमनन्तं तदनुबन्धिनोऽनन्तानुबन्धिन: क्रोधमानमायालोभा:।"

अर्थ—अनन्त ससार का हेतु होने से मिथ्यात्व है, सो ही अनन्त है। अर्थात् अनन्त नाम मिथ्यात्व का है, क्योंकि वह मिथ्यात्व अनन्त संसार का कारण है। जिसका (मिथ्यात्व) का सहचर-अनुचर-अनुसारणी-अनुकरण करने वाला अनन्तानुबन्धी क्रोध, मान, माया लोभ है।

यहां पर ऐसा भी नही है कि जैसे "सम्यकत्वं च सूत्र के द्वारा उन्होंने कहा कि सम्यक्दर्शन देवगति के बन्ध का कारण है, वहां पर बताया है कि सम्यक्दर्शन बन्ध का कारण नही। परन्तु सम्यकत्व के साथ रहने वाली कषाय बन्ध का कारण है उसी प्रकार ऐसा अभिप्राय आचार्यों का नही है कि मिथ्यात्व को उपचार करके बध का कारण कहा है, और बन्ध तो साथ मे रहने वाली अनन्तानुबन्धि से ही होता है। अगर यह उपचार भी माना जाये तो मात्र मिथ्यात्व के उदय रहते अनन्तानुबन्धि के उदय के बिना कोई प्रकार का बन्ध नही होना चाहिए था जो होता है। केवल मिथ्यात्व के उदय में मिथ्यात्व

(शेष पृ० २० पर)

मिथ्यात्व ही अनन्त संसार का बंधक है

□ स्व० श्री पं० कैलाशचन्द्र सिद्धान्त-शास्त्री

जैन सन्देश के १८ नवम्बर सन् १९८२ के अंक के मुख पृष्ठ पर पं० जगन्मोहन लाल जी शास्त्री का "क्या मिथ्यात्व अबन्धक है?" शीर्षक से एक स्पष्टी करण प्रकाशित हुआ है। इसी विषय के सम्बन्ध में हमें भोपाल के डा० रतनचन्द्र जी का फुलस्केप आकार के २९ पेज का एक लेख 'मिथ्यात्व स्थिति अनुभाग बन्ध का हेतु नहीं है' शीर्षक से प्राप्त हुआ है। उन्होने भी अपने लेख में पं० जगमोहन लाल जी की नैनागिर में उपस्थिति की चर्चा करते हुए उनके द्वारा आचार्य विद्यासागर जी के प्रवचनो केउद्धृत अंशों को अपने लेख में उद्धृत किया है और लिखा है कि मैंने उनसे पूछा कि जब आप उसी कथन से इस समय सहमत हैं तब पहले उसका खण्डन क्यों किया? उन्होंने उत्तर दिया—"मैंने प्रवचन पारिजात देखा नही केवल जैन सन्देश (१० जून ८२) मे प्रकाशित लेख मे मिली जानकारी के आधार पर उसका समर्थन कर दिया। उन्होंने बतलाया कि अपने लेख में उन्होने कषाय से ही स्थिति अनुभाग बन्ध का होना स्वीकार किया है। पंडित जी के इन शब्दों को उनकी सहमति से ही मैं इस लेख मे उद्धृत कर रहा हूं। इस प्रकार माननीय पं० जगमोहन-लाल जी के वचनों को समर्थन रूप मे उद्धृत कर जिन्होंने आचार्य श्री के कथन को आगम विरुद्ध सिद्ध किया है उनके इस प्रयत्न का खोखलापन स्पष्ट हो जाता है।"

डा० रतनचन्द जी ने अपने इस विस्तृत लेख मे आचार्य विद्यासागर जी के प्रवचन पारिजात मे प्रकाशित प्रवचनों का पूर्ण समर्थन करते हुए उसका विरोध करने वाले विद्वानों को आकण्ठ विषय कषायो मे डूबे हुए और जिनका मुख्य काम आगम की गहराई में जाना नहीं है अपितु सतही ज्ञान द्वारा पंडित के नाम से प्रसिद्ध होकर प्रवचनादि द्वारा पैसा कमाना है' आदि लिखा है। इस तरह के लेख जब तक लिखे जाते रहेगे यह चर्चा बन्द नही हो सकेगी। हमे इस लेख ने ही इस सम्पादकीय को लिखने के लिए प्रेरित किया है। हमने उन्हें लिख दिया है कि हम आपका लेख प्रकाशित नही करेगे। हमे मिथ्यात्व की अकिंचित्करता इष्ट नहीं है क्योकि समस्त जिनागम इससे सहमत नही है। ससार मे मिथ्यात्व का और मोक्षमार्ग में सम्यक्त्व का महत्व सर्वागम सम्मत है यदि मिथ्यात्व बन्ध मे अकिंचित्कर है तो मोक्षमार्ग मे सम्यक्त्व भी अकिंचित्कर ठहरता है तब आचार्य समन्तभद्र का यह कथन कि तीनों कालो और तीनों लोको मे सम्यक्त्व के समान कल्याणकारी और मिथ्यात्व के समान अकल्याण-कारी नही है।' जिसका समर्थन चारों अनुयोगों के शास्त्र एक मत से करते है, मिथ्या ठहरता है। एक ओर बन्ध के चार भेदों का बन्ध कषाय और योग से बतलाना और दूसरी ओर बन्ध के पांच या चार कारण बतला कर मिथ्यात्व को प्रमुख स्थान देना तथा यह लिखना कि यह समस्त भी बन्ध के कारण है और पृथक्-पृथक् भी बन्ध के कारण है क्यो ऐसा लिखने वाले समस्त प्राचीन जैनाचार्यों के विचार में वह तर्क नही आया जो आज प्रथम बार मात्र आचार्य विद्यासागर जी के विचार मे आया है? क्या वे सब आगम रचयिता आचार्य आगम की गहराई मे नही उतरे? इसका एक मात्र सम्यक् समाधान यही सम्भव है कि प्रकृति प्रदेश बन्ध तेरहवे गुणस्थान तक तथा स्थिति बन्ध अनुभागबन्ध दशवे गुणस्थान तक होते हैं तथा बन्ध के कारणों मे से कषाय उदय दसवें गुणस्थान तक और योग तेरहवें गुणस्थान तक रहते है। अतः इन दोनो को ही चार बन्धो का कारण कहा। इन्हीं मे अपने-अपने स्थान तक शेष कारण अन्तर्भूत है वे अकिंचित्कर नहीं है।

आज अनन्तानुबन्धी कषाय को महत्व दिया जा रहा है, मिथ्यात्व को नही। आगम के अभ्यासियों से यह बात

अज्ञात नहीं है कि आठ कर्मों मे मोहनीय की प्रधानता है और मोहनीय के दो भेदों मे दर्शन मोहनीय की प्रधानता है। दर्शन मोहनीय का एक ही भेद है मिथ्यात्व। अतः प्रकारान्तर से मोहनीय का समस्त महत्व मिथ्यात्व को ही प्राप्त हुआ है जब तक उसका सतत उदय विद्यमान है तब तक ससार अनन्त है। इसी से मिथ्या दर्शन या मिथ्यात्व को अनन्त कहा है, उस अनन्त मिथ्यात्व के साथ बँधने वाली कषाय इसी से अनन्तानुबन्धी कहलाती है। उसके कारण मिथ्यात्व अनन्त नही है किन्तु अनन्त मिथ्यात्व के कारण वह कषाय अनन्तानुबन्धी है। अनन्तानुबन्धी की व्याख्या मे शास्त्रकारो ने अनन्त का अर्थ मिथ्यात्व कहा है और तदनुबन्धी कषाय को अनन्तानुबन्धी कहा है। इस कषाय का विसयोजन करके जो मिथ्यात्व गुणस्थान में आता है उसके अनन्तानुबन्धी का पुनः बन्ध होता है और मिथ्यात्व स्वोदयबन्धी है।

आगम मे तीन आयुओ को छोड़कर शेष सब कर्मों की उत्कृष्ट स्थिति का बन्ध उत्कृष्ट संक्लेष से कहा है। तथा आहारक द्विक, तीर्थंकर और देवायु को छोडकर सब उत्कृष्ट स्थितियो का बन्धक मिथ्यादृष्टि को कहा है। इससे स्पष्ट है कि मिथ्यात्व भाव ही तीव्र संक्लेश का कारण होता है। इसी से मिथ्यादृष्टि को हीबन्धक कहा है। मिथ्यात्व के उदय के अभाव मे अनन्तानुबन्धी के उदय से उत्कृष्ट स्थिति बन्ध नही होता इससे मिथ्यात्व स्थिति बन्ध मे अकिंचित्कर नही है यह सिद्ध होता है। यदि उत्कृष्ट स्थिति बन्ध मे एक मात्र कषाय ही कारण होती तो अपने मे चालीस कोड़ा कोड़ी सागर की स्थिति बाँधने वाली कषाय मिथ्यात्व मे सत्तर कोड़ा कोडी सागर का स्थिति बन्ध नहीं करा सकती। यह तो मिथ्यात्व की ही देन है उसी के बल से अनन्तानुबन्धी कषाय बलवती होती है। मिथ्यात्व का उपशम होने के साथ ही उसका उपशम हो जाता है। इसी मिथ्यात्व की उपशमना के प्रकरण मे एक गाथा धवला और जयधवला मे आती है—

मिच्छत्तपच्चयो खलु बन्धो उवसामयस्स बोधव्वो।
उवसंते आसाणे तेण परं होवि भयणिज्जो॥

अर्थात्—उपशामक के मिथ्यात्व के निमित्त से बन्ध जानना चाहिए। दर्शन मोह की उपशान्त अवस्था मे और सासादन मे मिथ्यात्व निमित्तक बन्ध नहीं होता। इसके पश्चात् भजनीय है अर्थात् मिथ्यात्व गुणस्थान को प्राप्त हुए जीवों के मिथ्यात्व निमित्तक बन्ध होता है, अन्य गुणस्थानों को प्राप्त हुए जीवो के नहीं होता।

यह सब जानते हैं कि दर्शन मोहनीय और चारित्रमोहनीय के आस्रव के कारण भिन्न-भिन्न कहे है। कषाय के उदय से हुआ तीव्र परिणाम चारित्रमोह के आस्रव का कारण है जब कि केवली, श्रुत, सघ आदि का अवर्णवाद दर्शन मोह के आस्रव का कारण है। अर्थात् कषाय के उदय से हुए तीव्र परिणाम से भी मिथ्यात्व के उदय से हुआ परिणाम भयानक है। तभी तो प्रथम से स्थिति बन्ध चालीस और दूसरे से सत्तर कोड़ा कोड़ी सागर होता है। तत्त्वार्थ सूत्र के छठे अध्याय मे कर्मों के आस्रव के कारणो का वर्णन करते हुए अन्तिम सूत्र की व्याख्या म कहा है कि यह कथन अनुभाग विशेष की दृष्टि से है अर्थात् इन कारणो से उस विशेष कर्मों का विशेष अनुभाग बन्ध होता है और स्थिति बन्ध की तरह अनुभाग बन्ध भी कषाय से कहा है फिर भी इन इन कार्यों के करने से जैसे उन उन कर्मों में विशेष अनुभाग बन्ध होता है वैसे ही विशेष स्थिति बन्ध भी होता है। अतः मिथ्यात्व को स्थितिबन्ध और अनुभाग बन्ध का हेतु न मानना उचित नहीं है। यदि ऐसा होता तो मिथ्या दृष्टि को ही उत्कृष्ट स्थिति का बन्धक न कहा गया होता। अतः मिथ्यात्व को बन्ध के प्रति अकिंचित्कार कहना उचित नहीं है इससे मिथ्यात्व भाव को प्रोत्साहन मिलता है और सम्यक्त्व की विराधना होती है।

हम देखते है कि आज चारित्र धारण पर तो जोर दिया जाता है किन्तु सम्यग्दृष्टि बनने की चर्चा भी नहीं की जाती है मानों जैन कुल मे जन्म लेने से ही सम्यक्त्व प्राप्त हो जाता है जब कि आगम चारित्र धारण करने से पहले सम्यक्त्व प्राप्त करने पर ही जोर देता है। क्योकि सम्यक्त्व विहीन चारित्र, चारित्र नहीं है और न चारित्र धारण कर लेने से ही सम्यक्त्व हो जाता है, दोनो की प्रक्रिया ही भिन्न है। आगम तो चारित्र भ्रष्ट को भ्रष्ट नही कहता, श्रद्धान भ्रष्ट को ही भ्रष्ट कहता है। आज जो चारित्र धारियो की विसंगतियाँ सुनने मे आती हैं उनका मूल कारण सम्यक्त्व का अभाव ही है। सम्यग्दृष्टी

चारित्र धारण कर किसी प्रकार की लोकैषणा के चक्कर में नहीं पड़ सकता; क्योंकि उसकी दृष्टि मे संसार शरीर और भोगों का यथार्थ स्वरूप खचित होता है। अत: कषायभाव से मिथ्यात्वभाव भयानक है।

प० टोडरमल जी ने अपने मोक्ष मार्ग प्रकाशक मे लिखा है :—

"मोह के उदय से मिथ्यात्व क्रोधादिक भाव होते हैं उन सबका नाम सामान्यत: कषाय है। उससे उन कर्म प्रकृतियो की स्थिति बँधती है।" पडित जी के इस कथन से भी इस कषाय भाव मे मिथ्यात्व सम्मिलित है। अत: मिथ्यात्व से भी स्थितिबन्ध अनुभाग बन्ध होते हैं, ऐसा मानने मे किसी को आपत्ति नही होना चाहिए। इससे कोई हानि नहीं होना चाहिए। इससे कोई हानि नही है। न आगम में ही बाधा आती है और न मिथ्यात्व और सम्यक्त्व का महत्व समाप्त होता है। ये दोनो ही संसार और मोक्ष के द्वार हैं। आचार्य समन्तभद्र ने अपने स्वयम्भू स्तोत्र में मोह राजा को ही शत्रु और कषायो को उसकी सेना कहा है। —(जैन सदेश से साभार)

एक चिन्तन

एक महाशय श्री मन्दिर जी में मिले, उन्होने कहा—कि आपने एक पुस्तक आचार्य श्री विद्यासागर जी की 'अकिंचित्कर' पढ़ी। मैंने कहा—नही। उन महाशय ने एक प्रति मेरे पास भिजा दी। वैसे समय कम था परन्तु उस व्यक्ति की इस पुस्तक के प्रति विशेष उत्कण्ठा एवम् आचार्य श्री के प्रति मेरी निष्ठा ने विशेष जागृति उत्पन्न कर दी, मैंने पुस्तक पढ़ना शुरू किया और आद्योपान्त पढ़ा। उसमें एक बात सामने आई कि पुस्तक आचार्य श्री के शिष्यों से सम्पादित की गई है। सो आचार्य श्री अपने ज्ञान-ध्यान-रत त्यागीवृन्द के वास्ते कहे तब तो यथार्थ हो सकता है क्योकि व्रती सम्यक्त्व युक्त होता है—मिथ्यात्व रहित होता है। उनके लिए मिथ्यात्व अकिंचित्कर हो सकता है। परन्तु हम जैसे साधारण अल्पज्ञ अव्रतियों के लिए यह अकिंचित्कर का उपदेश तथ्य नही हो सकता। अब पुस्तकाकार का उद्देश्य इस कथनी को जन जन तक पहुचाने का है। जब कि उपदेश पात्र के अनुसार देना चाहिए। पर, यह पुस्तक हमारे जैसे अपात्र के हाथ मे आ गई है और हम मिथ्यात्व को अकिंचित्कर मानकर कही कुदेव, कुगुरु, कुशास्त्र की सेवा मे पड़कर अपना बचा हुआ पाक्षिक धर्म भी नष्ट न कर दे—इसलिए इसका स्पष्टीकरण दिया है। विचार करे।

—'**चिन्तक**'

(पृ० १७ का शेषांश)

का ही बन्ध नहीं होता, परन्तु अनन्तानुबन्धी का भी बन्ध होता है। इसलिए यह उपचार भी सम्भव नही है।

सम्यक्दर्शन को धर्म का मूल कहा है इसी प्रकार मिथ्यादर्शन संसार का मूल है। मिथ्यादर्शन गये बिना अनन्तानुबन्धी नही जा सकती और अनन्तानुबन्धी गये बिना बाकी की कषाय नही जा सकती। इसलिए मिथ्यादर्शन संसार का मूल है। उसके गये बिना ज्ञान सम्यक्ज्ञान नहीं हो सकता, चारित्र सम्यक्चारित्र नहीं हो सकता। इसलिए मोक्षमार्गी को मिथ्यात्व के नाश का पुरुषार्थ सबसे पहले करना चाहिए। मिथ्यात्व के नाश का पुरुषार्थ किया जाता है उसके नाश होने पर अनन्तानुबन्धी अपने आप चली जाती है। इसीलिए समन्तभद्रस्वामी ने लिखा है कि मोही (मिथ्यात्व सहित) मुनि से निर्मोही (मिथ्यात्व रहित) ग्रहस्थ श्रेय है। मोही मुनि ने मिथ्यात्व का अभाव नही किया, इसलिए कषाय के नाश का उसका समस्त पुरुषार्थ निरर्थक चला गया। अनन्तानुबन्धि को नही मेट सका जबकि निर्मोही ग्रहस्थ ने सम्यक प्राप्ति का पुरुषार्थ किया। जिससे अनन्तानुबन्धि अपने आप चली गयी। सम्यक्दर्शन होने के बाद कषाय मेटने का पुरुषार्थ चालू होता है इसीलिए सम्यक्दर्शन को धर्म का मूल कहा है और मिथ्यात्व ससार का मूल कहा है क्योकि इसके रहते कषाय का अभाव नही हो सकता।

मिथ्यात्व अकिंचित्कर नहीं

□ डा० सुदर्शनलाल जैन, वाराणसी

अकिंचित्कर पुस्तक का सामान्य रूप से अवलोकन किया। चिन्तन भले ही गम्भीर और प्रमाणयुक्त हो परन्तु जिन तर्कों के आधार पर मिथ्यात्व को अकिंचित्कर सिद्ध किया गया है, वस्तुस्थिति वैसी नही है। अकिंचित्कर शब्द का अर्थ होता है "अन्यथासिद्ध", प्रयोजन हीन, वेकार। जब हम विचार करते है तो मिथ्यात्व अकिंचित्कर सिद्ध नही होता है।

मिथ्यात्व को यदि हम अकिंचित्कर कहेगे तो फिर हमे मुक्ति के साधनभूत (मिथ्यात्वाभावरूप) सम्यक्त्व (सम्यग्दर्शन) को भी अकिंचित्कर कहना होगा। क्योंकि जैसे मिथ्यात्व केवल तत्त्वश्रद्धान को रोकने मात्र से अकिंचित्कर है वैसे ही सम्यक्त्व मात्र तत्त्वश्रद्धान कराने वाला होगा। अत: जैसे मिथ्यात्व हटाओ, मिथ्यात्व हटाओ' से कुछ नही वनने वाला है वैसे ही सम्यक्त्व लाओ सम्यक्त्व लाओ' से भी कुछ बनने वाला नही है। यदि सम्यग्दर्शन मुक्ति का कारण माना जाएगा तो मिथ्यात्व को संसार का कारण माना जायेगा।

यह ठीक है कि कषाये बध मे प्रमुख भूमिका निभाती हैं, परन्तु इस बात का यह तात्पर्य नही है कि मिथ्यात्व केवल अधिकरण है और अकिंचित्कर है। वस्तुत: अधिकरण तो जीव है और मिथ्यात्व प्रतिबन्धक।

योग जब आस्रव और वन्ध का कारण हो सकता है, तो मिथ्यात्व को भी कारण मानना होगा। मिथ्यात्व वस्तुत: अज्ञानरूप है जिसे अन्य दर्शनो मे माया, अविद्या आदि शब्दो से कहा गया है। जब तक यह विद्यमान रहता है तब तक सद्दृष्टि प्राप्त नही होती है और सद्दृष्टि प्राप्ति के बिना सद्ज्ञान सद्चरित्र नही बनते। अत: मिथ्यात्व को यदि थोड़ी देर के लिए अबधक मान भी लिया जाये तो वह अकिंचित्कर सिद्ध नही होता, क्योंकि वह ऐसा प्रतिबन्धक तत्त्व है जो सद्दृष्टि नही होने देता। सद्दृष्टि मे रुकावट पैदा करने वाले को मात्र अधिकरण कैसे कहा जा सकता है? यह तो वह जबरदस्त तत्त्व है जो अनन्त संसार का कारण है। इसके न रहने पर ही कषायें प्रमुख रूप से ससार के प्रति कारण होती है। यह ठीक है कि मिथ्यात्व के रहने पर कषाये रहती हैं और मिथ्यात्व के न रहने पर कषाये भजनीय है।

विचार करे कि एकेन्द्रियादि जीवो के क्या हमारे जैसी प्रकट कषाये पाई जाती है, परन्तु उसके मिथ्यात्व के कारण वन्ध होता है। मेरे कहने का तात्पर्य यह नही है कि मिथ्यात्व ही सब कुछ है, कषाये कुछ नही। कषायों से स्थिति और अनुभाग बध मे विशेषता आती है परन्तु जब तक मिथ्यात्व छूटेगा नही तब तक "हिंसादि स बधन और अहिंसादि से मुक्ति होती है" यह ज्ञान कैसे होगा? जब तक यह सद्दृष्टि नही आयेगा कोई कषायो को कैसे जीतेगा? इसीलिए साम्परायिक आस्रव के भेदो मे मिथ्यात्व को भी गिनाया गया है। मिथ्यात्व के गृहीत और अगृहीत भेद करके गृहीत के ४ भेद किए है---एकांत विपरीत, सशय, वनयिक और अज्ञान।

अत: मेरा विनम्र निवेदन है कि केवल शब्दजाल के द्वारा जैन सिद्धात की अन्यथा व्याख्या न की जाए। आगमो मे जो दो तरह की बाते मिलती है उन्हें ऐकान्तिक न बनाया जाये अपितु दृष्टिभेद को ध्यान मे रखते हुए कथन शैली का भेद माना जाए। किसी तत्त्व को केवल युक्ति के आधार पर सिद्ध नहीं किया जा सकता है, उसमे विवेक जरूरी है। इसके साथ ही यह भी जरूरी है कि हमारा वचन हितकारी हो। वह वर्गभेद आदि को उत्पन्न करने वाला न हो। हमारी हमेशा अनेकान्त दृष्टि होनी चाहिए, आगमो के विपरीत कथनो का अपेक्षाभेद से युक्तिसगत समाधान करना चाहिए। तथ्य को प्रकट करने के लिए हमे पूर्वाग्रही भी नही बनना चाहिए।

मिथ्यात्व को सर्वथा अकिंचित्कर करने का सम्पूर्ण दर्शन पर कितना व्यापक प्रभाव पड़ेगा यह चिन्तनीय है। यदि मिथ्यात्व को अकिंचित्कर न कहकर मात्र कषायो को बन्ध के प्रति प्रमुखता दी जाती तो अच्छा था। मिथ्यात्व कषाय नही है इसलिए उसे चारित्र मोहनीय मे नहीं गिनाया गया परन्तु वह चारित्र मे प्रवृत्ति को रोकने वाली दर्शनमोहनीय का परिणाम है।

(शेष पृ० ३२ पर)

गतांक से आगे

दसवीं शताब्दी के अपभ्रंश काव्यों में दार्शनिक समीक्षा

□ श्री जिनेन्द्र कुमार जैन, शोध-छात्र

अपभ्रंश कवियो ने बौध-दर्शन के शून्यवाद की भी समीक्षा की है। जो न सत् हो, न असत् हो, और न सदासत् से भिन्न हो, वह शून्यवाद कहलाता है। अत: शून्य एक अनिर्वचनीय तत्व है, जिसका केवल ज्ञान ही है।[1] सर्वशून्यता की कल्पना के अनुसार जगत मे कुछ भी वास्तविक नही है, अत: यदि सभी जगह बौद्ध शून्य का ही विधान करते है तो उनके द्वारा इन्द्रियो का दमन, वस्त्रो का धारण करना, व्रत-पालन, रात्रि-पूर्व भोजन करना एव सिर;मुण्डन आदि से क्या प्रयोजन।[2] अत: बौद्धो का शून्यवाद भी सार्थक प्रतीत होता।

सांख्य दर्शन की समीक्षा :—

साख्य दर्शन के प्रणेता कपिल मुनि माने जाते है। ईसा पूर्व द्वितीय शताब्दी मे ईश्वर कृष्ण के द्वारा 'साख्यकारिका' नामक ग्रन्थ लिखा गया था। जो आधुनिक काल मे साख्य दर्शन का प्रामाणिक ग्रन्थ माना जाता है। बाद के आचार्यों ने भी भारतीय दर्शनों पर टीका-टिप्पणिया की है।

साख्य दर्शन की मान्यतानुसार इस सृष्टि का निर्माण पुरुष (आत्मा—जीव) और प्रकृति (जड़ पदार्थ) के परस्पर सहयोग से हुआ है। साख्य दर्शन प्रकृति को जड़, सक्रिय. एक तथा त्रिगुणात्मक (सत्व, रज व तम गुणों से युक्त) एव पुरुष को चेतन, निष्क्रिय, अनेक एव त्रिगुणातीत मानता है। निष्क्रिय पुरुष तथा जड़ प्रकृति अकेले सृष्टि का निर्माण नही कर सकते। इन दोनो के परस्पर सहयोग व सयोग से ही सृष्टि का निर्माण सभव है। सांख्यदर्शन के उक्त मत पर आपत्ति करते हुए महाकवि पुष्पदन्त कहते है कि—"क्रिया रहित निर्मल व शुद्ध पुरुष, प्रकृति के बन्धन मे कैसे पड़ जाता है? क्रिया के बिना मन, वचन व काय क्या स्वरूप होगा। बिना क्रिया के जीव (पुरुष) पाप से कैसे बधेगा? और कैसे मुक्त होगा?[3] सोमदेव सूरि ने भी उक्त बात का समर्थन करते हुए कहा है कि—जो (प्रकृति) जड़रूप है वह सक्रिय एव जो (आत्मा) चेतन है वह निष्क्रिय कैसे हो सकता है।[4] यदि प्रकृति सक्रिय और पुरुष निष्क्रिय है तो वह (पुरुष) भोक्ता कैसे हो सकता है। आत्मा वद्ध व निर्गुण होने के कारण शरीर के साथ सभोग (सम्बन्ध) रखने वाला कैसे हो सकता है।[5]

सांख्य दर्शन जीव को नित्य मानता है। पुरुष (आत्मा) द्रव्य है। गुणो व पर्यायों के समूह को द्रव्य कहा जाया है।[6] चूंकि पर्याये अनित्य है, बदलती रहती है, अत: द्रव्य अनित्य भी है। ऐसी दशा मे पुरुष को मात्र नित्य नही कहा जा सकता।[7] साख्य दर्शन मे सृष्टि-विकास में २५ तत्व मानता है। जिसे स्पष्ट करते हुए पुष्पदन्त कहते है :—

भूयई पच पचिगुणइं पचिदियइ पंच तमत्तउ।
मणुहंकार बुद्धि पसरू कहि पयईए पुरिसु सजुत्तउ।[8]

"पाँच भूत, पाच गुण, पाँच इन्द्रिया, पाच तमन्नाए, मन, अहकार और बुद्धि के प्रसार मे पुरुष प्रकृति से परस्पर विरोधी गुणो के होने पर भी कैसे सयोग कर बैठा।" ११वी शताब्दी के पूर्वार्ध मे वीरकवि कृत 'जम्बूसामिचरिउ' नामक ग्रन्थ मे साख्य दर्शन के सत्कार्यवाद (कारण-कार्यवाद)की समीक्षा करते हुए कहा गया है कि—

कज्जहो कारणु नवर सलक्खणु मिउपिंडो त्व घडहो अविलक्खणु।[9]

"किसी भी कार्य का कारण केवल स्वजातीय लक्षण वाला होता है। जिस प्रकार घट रूप कार्य का कारण उससे (द्रव्यत.) अविलक्षण मृत्पिड ही होता है।" अत: आपके सिद्धान्तानुसार अचेतन पृथ्वी आदि भतो से अचेतन शरीरादि के समान ज्ञान भी अचेतन ही होना चाहिए। परन्तु ऐसी वास्तविकता नही है, क्योंकि ज्ञान एक चेतन तत्व है और ज्ञप्ति—जानना यह चेतन की ही क्रिया है।

अन्य मतों व दर्शनों की समीक्षा :—

उपर्युक्त दार्शनिक मतो के अतिरिक्त अपभ्रंश कवियो ने न्याय, वैशेषिक, शैव दर्शन की भी समीक्षा की है। तथा समाज में व्याप्त कुछ मिथ्या धारणाओं एवं अन्धविश्वासो पर भी चर्चा की है। न्याय एव वैशेषिक दर्शन की चर्चा कवि ने अवतारवाद की आलोचना करते हुए इस प्रकार की है—"जिस प्रकार उबले हुए जौ के दाने पुन:

कच्चे जौ में परिवर्तित नहीं हो सकते, घी से पुनः दूध नहीं बन सकता, उसी प्रकार सिद्धत्व को प्राप्त जीव पुनः देह कैसे धारण कर सकता है? अक्षपाद (न्याय दर्शन के प्रणेता कणाद) मुनियों ने शिवरूपी गगनारविंद (आकाश कुसुम—असम्भव वस्तु) को कैसे मान लिया? और उसका वर्णन किया।[10]

अन्य देवताओं को मिथ्या मानने वाले शैव मतवादी आकाश को शिव मानते हैं। ये शैव्य अनुयायी कौलाचार का अनुशरण करते हुए अपनी साधना के लिए मद्य, मांस, मत्स्य, मुद्रा तथा मैथुन आदि का प्रयोग करते है।[11] इन क्रियाओं को धर्म के प्रतिकूल कहा जाता है।

शिवपूजन मे बेलपत्री का प्रयोग किया जाता है' अतः बेलपत्री तोडकर शिव को समर्पित (चढाना) करना, धार्मिक कार्य माना जाता है। किन्तु अपभ्रंश कवि कहता है :—

पत्तिय तोडहि तडतडह णाइ पइट्ठा उट्टु।
एवण जाणहि मोहिया को तोडइको तुट्टु।[12]

"मनुष्य पत्तों को तोड़ता है किन्तु यह नहीं सोचता कि जिसे मैं तोड़ रहा हूं उसमें भी वही आत्मा है जो मनुष्यों में होती है। इसलिए ऐसे कार्य अनुचित व धर्म-विपरीत ही है।"[13]

गाय और बैलों को मारा जाता है, ताड़ा जाता है: फिर भी गौवंश मात्र को देव कहा जाता है। पुरोहितों द्वारा याज्ञिको हिंसा (यज्ञ मे पशु-बलिकरण) की जाती है। एव मृगो को मारकर मृगचर्म धारण करना पवित्र समझा जाता है।[14] इसी प्रकार पुष्पदन्त ने जसहरचरिउ[15] मे "चण्डमारी देवी के सामने समस्त प्राणी—युगलों की बलि देने से आकाशगामिनी विद्या सिद्ध होती है।" इसका जो वर्णन किया है वह भी अन्धविश्वास एवं रूढिवादी परम्परा पर आधारित है। चूंकि इस प्रकार की रूढ़िवादी एव पारम्परिक मान्यताओ से जीव हिंसा तो होती ही है किन्तु लोग इसके पक्ष को ही ध्यान मे रखते है।

इस तरह उपर्युक्त विवेचन मे १०वी शताब्दी के अपभ्रंश कवियों एव आचार्यों ने अपने समय की समस्त धार्मिक, दार्शनिक मान्यताओं का पूर्व पक्ष रोपकर फिर उसकी समीक्षा प्रस्तुत की है। इस युग के न केवल अपभ्रंश जैन कवियों ने बल्कि सस्कृत एवं प्राकृत भाषा के कवियों एवं आचार्यों ने भी इस प्रकार की सामग्री को अपने काव्य-ग्रन्थों में स्थान दिया है। अतः उस सामग्री की समीक्षा अलग शोध-प्रबन्ध मे की जा सकेगी।

सन्दर्भ-सूची

१. णायकुमारचरिउ—९।५।८।९

२. सर्व दर्शन संग्रह—(माध्वाचार्य कृत) पृ० ६३-६४

३. सुण्णु असेसु वि जइ कहिउ तोकि तहो पंचिंदिय वंडणु।
चीवरणिवसणु वयधरणु सतहडी भोयणु सिरमुण्डणु।
—णायकुमारचरिउ—९।५।१२।१३

४. किरियावज्जिउ णिम्मलुद्धउ संखपुरिसु कि पयइए बद्धउ।
बिणु किरियए कहिं तणुमणवयणइ विणु किरियए कहिं बहुभवगहणइं।
बिणु किरियए कहिं बज्झइ पावें, मुच्चकि हो एण पलावें॥
—णायकुमारचरिउ—९।५।६।११

५. यसस्तिलकचम्पू (दीपिका)—६।१२।४०७

६. वही—णा।८६-८७।१५८

७. तत्वार्थ सूत्र—५।३७ ५. चन्द्रप्रभचरितं—२।७५।५०

८. णायकुमार चरिउ—९।१०।१२-१३

९. जम्बूसामिचरिउ—१०।४।४

१०. सित्थु जाइ कि जनणालत्तहो घड कि पुणु वि जाइ दुट्ठत्त हो।
सिद्धु भमइ कि भवसंसाए गहियविमुक्क कलेवर भारए।
अक्खवायकणयरमुणिभणिड सिवगयणारविंदु कि वण्णिउ। —णायकुमार चरिउ—९।७।१-३

११. (क) णायकुमार चरिउ—९।६।३
(ख) महापुराण—७९।७

१२. पाहुड दोहा (मुनिराम सिंह कृत)—सम्पादक डा० हीरालाल जैन, गोपाल अम्बारास चवेर १९३३, गाथा १५८

३. णायकुमार चरिउ—९।९।१-३,५

धवला पु० ६ का शुद्धिपत्रक

शुद्धिपत्रकार सि० शि० स्व० रतनचन्द मुख्तार (सहारनपुर) एवं
जवाहर लाल जैन—(भीण्डर) उदयपुर

पृष्ठ	पंक्ति	अशुद्ध	शुद्ध
३	१४	पढता	पड़ता
६	२१	जिनका	जिनेन्द्र का
१४	८	सविस्ससोवचए	× × × [पुनरुक्तित्वात् शोधितम्]
१४	२३	कर्म मे रहित व अपने विस्रसोपचय से सहित	व कर्म से रहित
२५	२	पण्णुवीस	पणवीसं
२८	७	वग्गणसुत्तादो।	वग्गणसुत्तादो।[1]
२८	२८	× × ×	धवला पु० १३पृष्ठ २८६
३०	१	तदियदव्ववियप्प-	पुव्वदव्ववियप्प-
३०	२	तदियभावम्हि	पुव्वभावम्हि
३०	१४	तृतीय द्रव्य विकल्प को	पूर्व के द्रव्य विकल्प को
३०	१५	तृतीय भाव विकल्प को	पूर्व के भाव विकल्प को [तृतीयद्रव्यभावविकल्पास्तु २६ इत्यस्मिन् पृष्ठाके वर्णिताः]
७७	१६	महानता को	महत्ता को
८१	१२	दो सौ पचास	दो सौ पचावन
८२	२६	बि णियमेणं	वि णियमेणं
९८	१७	उत्पन्न होता है।	उत्पन्न होती है।
९८	१६	मनलब्धि	मनोलब्धि [इसी तरह सर्वत्र मनलब्धि की जगह मनोलब्धि करना]
१०७	२८	सरीर	शरीर
१३२	१६	पांच दिन	पांच वर्ष
१४९	३३	ध० अ० प० ११६८	ध० अ० प० ११६८; धवल पु० १३ पृ. २३५
१५०	१८	ध० अ० प० ११६८	ध. अ. प. ११६८; धवल पु. १३ पृ. २३५-३६
१५२	२५	ध० अ० प० ११६९	ध. अ. प. ११६९; धवल पु. १३ पृ. २३९
२१३	१७	परस्पर एक दूसरे रूप होने से	परस्पर भिन्न-भिन्न रूप होने से
२५३	१५	छह अतीत	छठी अतीत
२७५	११	वर्गमूल	मूल
२८४	२२	व प्रत्येक शरीर पर्याप्त	व प्रत्येक शरीर; ये पर्याप्त
२८४	११-१२	अकसाय— संजद-	अकसाय---मणपज्जवणाणिकेवलणाणि— संजद-
२८४	१३	सुद्धिसंजदेसु	सुद्धिसजद—केवलदसणीसु

पृष्ठ	पंक्ति	अशुद्ध	शुद्ध
२८४	२८	अकषायी, संयत	अकषायी, मनः पर्ययज्ञानी, केवलज्ञानी, संयत
२८४	२६	शुद्धिसयतों मे	शुद्धिसंयत तथा केवलज्ञानियों मे
२८६	८	केवलणाणि-जहाक्खाद-	केवलणाणि-सजद-जहाक्खाद—
२८६	२३	केवलज्ञानी, यथाख्यात	केवलज्ञानी, संयत, यथाख्यात
२८६	११	वाउकाइय-बादरपुढविकाइय-	वाउकाइया, तेसिं चेव सुहुमा पज्जत्तापज्जत्ता, बादरपुढविकाइय-
२८६	२७	कायिक, बादर पृथिविकायिक,	कायिक और उन्ही के सूक्ष्म तथा पर्याप्त व अपर्याप्त, बादर पृथिविकायिक,
२८७	४	संखेज्जदिभागे,	असंखेज्जदिभागे,
२८७	१६	संख्यातवें भाग में	असंख्यातवें भाग में
२९८	१३	कदि-णोकदि-अवत्तव्वसंचिदा	कदिसंचिदा
२९८	३१	कृति, नोकृति व अवक्तव्य संचित	कृति-संचित [पृ० २८१ पर "शेष मार्गणाओं में कृतिसंचित हैं"; कह कर औदारिक मिश्रकाययोगी को भी कृतिसंचित ही बताया है ।]
२९९	८	णोकदि-अवत्तव्व	××× } कारणमुपरि प्रोक्तमेव
२९९	२३	नोकृति व अवक्तव्य	××× } कारणमुपरि प्रोक्तमेव
३०६	१७	शंका—भुज्यमान	शंका—मनुष्य व तिर्यंचों द्वारा भुज्यमान
३११	१	एइंदिय-बि-ति-चदु-पंचिंदिएसु	एइंदिएसु
३११	१३	एकेन्द्रिय, द्वीन्द्रिय, त्रीन्द्रिय, चतुरिन्द्रिय और पंचेन्द्रियो मे कृति संचित	एकेन्द्रियों में कृति आदि संचित
३१३	३	[सागरोवमसदपुधत्तं]	×××
३१३	१४	स्त्री व पुरुषवेदियों का	×××
३१३	१५	तथा नपुंसकवेदियो का सागरोपम पृथक्त्व काल	××× देखो पृ. ३०५ का शंका-समाधान
३२७	२७	देवनारकी के मूल शरीर की	मनुष्य व तिर्यंच के उत्तर शरीर की
३४२	२८	जघ	जघन्य
३५४	१७-१८	दुगुणी विशेष अधिक है ।	विशेष अधिक [यानी कुछ अधिक] दुगुणी है ।
३६३	४	सखेज्जा । परिहारसुद्धिसजद-	संखेज्जा । एव सामाइयछेदोवट्ठावणसुद्धिसजदाणं; णवरि तेजाकम्मइय-परिसादणकदी णत्थि परिहारसुद्धिसंजद-
३६३	१८	संख्यात है । परिहार	संख्यात हैं । इसी प्रकार सामायिक व छेदोपस्थापनाशुद्धिसंयतों के कहना चाहिए । किन्तु उनके तैजस-कार्मण शरीरो की परिशातनकृति नहीं होती । परिहार-

पृष्ठ	पंक्ति	अशुद्ध	शुद्ध
३७१	२४	योनिमत् तिर्यञ्चों	तिर्यञ्चयोनियों [इसी तरह सर्वत्र संशोधन करना चाहिए]
३७४	६	असंखेज्जदि-	संखेज्जदि-
३७४	२७	असंख्यातवां	संख्यातवां
३७५	१	एवं वेउव्विय-	एवं [ओरालिय-] वेउव्विय-
३७५	१३	इसी प्रकार वैक्रियिक	इसी प्रकार औदारिक व वैक्रियिक
३७६	८	वेउव्वियपरिसादणकदीए	वेउव्वियसंघादण-परिसादणकदीणं
३७६	२७	वैक्रियिकशरीर की परिशातन कृति	वैक्रियिकशरीर की संघातन व परिशातन कृति
३८७	२८	का उत्कर्ष से	का एक जीव की अपेक्षा उत्कर्ष से
३८७	२६	असंख्यात	असंख्यात
३७७	१४	सघादन	संघातन
३८६	१५	व अन्तर्मुहूर्त	व तीन समय कम अन्तमुहूर्त
३६०	४	तेजा-कम्यइय-	तेजा-कम्मइय सघादणपरिसादणकदीए णाणा-जीव पडुच्च सव्वद्धा। एगजीवं पडुच्च जहण्णेण खुद्दाभवग्गहणं, उक्कस्सेण कम्मट्ठिदी। एवं तेसिं पज्जत्ताण; णवरि ओरालिय सघादण-परिसादणकदीए एगजीव पडुच्च जहण्णेण अंतोमुहुत्तं तिसमऊण।
३६७	७	वेउव्विय परिसादण-	ओरालियपरिसादणकदी वेउव्वियपरिसादण—
३६३	२१	काल है। वैक्रियिकशरीर की	काल है। औदारिक शरीर की परिशातन कृति तथा वैक्रियिकशरीर की
४००	१६	मनयोगियो	मनोयोगियों
४२१	१	जहण्णेण अंतोमुहुत्तं, उक्कस्सेण पुव्वकोडी देसूणा।	जहण्णेण तिण्णि समया।
४२१	१३-१४	अन्तर्मुहूर्त और उत्कर्ष से कुछ कम पूर्वकोटि काल प्रमाण होता है।	तीन समय है। [केवलिसमुद्घातापेक्षया त्रि-समयप्रमितः कालो भवति]
४२१	३०	परिशातन कृति का नाना	परिशातन कृति का तथा तैजसकार्मणशरीर की संघातनपरिशातन कृति नाना
४२१	११-१२	वेउव्वियपरिसादणकदीए णाणेगजीवं	वेउव्वियपरिसादणकदीए तेजाकम्मइय-संघादण-परिसादणकदीए णाणेगजीवं
४०२	६	—परिसादणकदि वेउव्वियतिण्णिपदा	—वेउव्वियतिण्णिपदा
४०२	२६	औदारिकशरीर की परिशातनकृति	औदारिकशरीर और
४०७	२	संघादणपरिसादणकदीए	परिसादणकदीए
४०७	१४-१५	संघातन-परिशातन कृति	परिशातन कृति
४११	४	तेजाकम्मइयसघादणपरिसादण-कदी ओघं।	तेजाकम्मइयसंघादणपरिसादणपरिसादणकदी-णं ओघ भंगो।

पृष्ठ	पंक्ति	अशुद्ध	शुद्ध
४११	१७	संघातनपरिशातन कृति के	संघातनपरिशातन व परिशातन कृति के
४२४	४-५	एगसमओ, उक्कस्सेण	एगसमओ, उक्कस्सेण ओघं। वेउव्वियसघादण-कदीए णाणाजीवं पडुच्च ओघं एगजीवं पडुच्च जहण्णेण एगसमओ, उक्कस्सेण
४२४	२८	और उत्कर्ष से	और उत्कृष्ट से ओघ के समान है। वैक्रियिक-शरीर की संघातनकृति का नाना जीवों की अपेक्षा अन्तर ओघ के समान है तथा एक जीव की अपेक्षा जघन्य से एक समय और उत्कर्ष से
४२४	३	जहण्णणे	जहण्णेण
४२४	७-८	तेजाकम्मइयसंघादणपरिसादणकदी	तेजाकम्मइयसंघादणपरिसादणपरिसादणकदी-ण ओघं।
४२४	२२	संघातनपरिशातन कृति के	सघातन-परिशातन व परिशातनकृति के
४३२	२९	अपर्याप्त; सब	अपर्याप्त, बादरवायुकायिक अपर्याप्त, सब
४३३	१	काइयअपज्जत्त-	काइय-वाउकाइय-अपज्जत्त-
४३९	९	—परिसादणमेत्तेण।[२]	—मेत्तेण।[२]
४३९	२७	सघातन और परिशातन कृति युक्त	संघातनकृतियुक्त
४४१	२	सखेज्जगुणा। तेजा-	सखेज्जगुणा। संघादण-परिसादणकदी सखे-ज्जगुणा। तेजा
४४१	१३	संख्यातगुणे हैं। उनसे	संख्यातगुणे है। उनसे उसी की सघातनपरि-सघातनपरिशातनकृतियुक्त जीव संख्यातगुणे है।
४४२	६	बादरवाउकाइय पज्जत्ताण	बादरवाउकाइयाण तेसिं पज्जत्ताणं च
४४२	२०	वायुकायिक पर्याप्त	वायुकायिक और उन सबके पर्याप्त
४४३	२	असखेज्जगुणा। ओरालिय-	असखेज्जगुणा। ओरालियपरिसादणकदी विसे-साहिया। वेउव्वियसघादणपरिसादणकदी असंखेज्जगुणा। ओरालिय-
४४३	१४	असंख्यातगुणे हैं। उनसे	असख्यातगुणे हैं। उनसे औदारिकशरीर की परिशातन कृतियुक्त जीव विशेषाधिक हैं। उनसे वैक्रियिक शरीर की संघातन परिशातन-कृतियुक्त जीव असंख्यातगुणे है। उनसे
४१०	२	विसमऊणं	तिसमऊणं
४१०	१३	दो समय कम	तीन समय कम
४१०	१४	" "	" "
४२७	८	चदुसमयाहिया	समयाहिया
४२७	२४	उत्कर्ष से चार समय अधिक एक पूर्व कोटी	उत्कर्ष से समयाधिक एक पूर्व कोटी

जयधवला पु० ७ का अंश शुद्धिपत्र

पृष्ठ	पंक्ति	अशुद्ध	शुद्ध
२४२	१५	अयोग्य	योग्य
२४८	२७	कर्मपरकाणुओं	कर्मपरमाणुओं
२६५	२९-३०	उससे आगे अर्थात् पहले जो एक समय अधिक आबाधा से हीन कर्मस्थिति और इस स्थिति के जो कर्म परमाणु कहे है उनसे आगे	उससे आगे, अर्थात् जिनकी एक समय अधिक आबाधा से हीन कर्म-स्थिति व्यतीत हुई है ऐसे इस निरुद्ध स्थिति के जो कर्मपरमाणु कहे हैं उनसे आगे
२६६	६	आवाहा। एदिस्से	आबाहा, एदिस्से [देखो :—ऐसा ही सूत्र पृ० २७० पर द्वितीय चूर्णि सूत्र]
२६६	२६-२७	विवक्षित स्थिति में एक समय कम आवली से न्यून आबाधाप्रमाण अवस्तुविकल्प होते हैं। इस प्रकार इस स्थिति के विकल्प समाप्त हुए।	एक समय कम आवली से न्यून आबाधा प्रमाण इस विवक्षित स्थिति के विकल्प समाप्त हुए।
२६६	२९-३२	विशेषार्थ—विवक्षित स्थिति दो समय कम ... ... आवाधा प्रमाण अवस्तुविकल्प बताए हैं।	विशेषार्थ—यह उपसहार सूत्र है। विवक्षित स्थिति एक समय कम आवली से न्यून आबाधा की अंतिम स्थिति है, अतः इसमे, जिन कर्म-परमाणुओ की स्थिति उदय से लेकर एक आवली से न्यून आबाधा काल तक शेष रही है वे कर्म परमाणु नही पाए जाते। इसी से इस विवक्षित स्थिति मे एक आवली से न्यून आवाधा-प्रमाण अवस्तु विकल्प बतलाये है। जिनकी स्थिति एक समय कम आवली से न्यून आबाधा प्रमाण या इससे अधिक स्थिति शेष रही है वे सब परमाणु इस निरुद्ध स्थिति मे पाए जाते है। इस प्रकार अवस्तु विकल्पो व वस्तुविकल्पो का कथन हो जाने पर इस निरुद्ध स्थिति सम्बन्धी समस्त विकल्पो का कथन समाप्त हो जाता है।
२६८	२५	है व	है वे
२६९	२७	तीन समय अधिक	दो समय कम
२७२	३४	आबाधा से आगे की	आबाधा से लेकर आगे की

धवल पु० १ का अंश शुद्धि पत्र

पृष्ठ	पंक्ति	अशुद्ध	शुद्ध
३०५	१२	असख्यातवें भाग प्रमाण	असंख्यातवें भाग आयाम वाले
३०५	१२-१३	संख्यात आवली प्रमाण	संख्यात आवली आयाम वाले
२०४	१०	न चैते सर्वेषु सम्भवन्ति,	न चैते सर्वेषु सम्भवन्ति, दशनवपूर्वधराणामपि क्षपक—

[नोट—प्रथम संस्करणस्थपाठं द्रष्ट्वा, सर्वसंस्करणेष्वनुवाद च द्रष्ट्वा इदं चरमं संशोधनं कृतम्।]

मूल-अगम की रक्षा करें

जैन आगमों की मूल गाथाओं में शुद्धिकरण के नाम पर जो मनमाने बदलाव किए जा रहे हैं। इस विषय को लेकर वीर सेवा मन्दिर की कार्यकारिणी ने निश्चय किया है कि जैन आगमों की मूल गाथाओं के बदलाव को रोकने के लिए समाज में जागृति लाई जाए।

कुन्द कुन्द भारती, नई दिल्ली से प्रकाशित समयसार, नियमसार और रयणसार ग्रन्थों के सम्पादक/प्रकाशक ने शुद्धिकरण के नाम पर-व्याकरण के बंडन से मुक्त प्राचीन और व्यापक हमारे आचार्यों की आर्ष भाषा को परवर्ती व्याकरण में बांधकर भाषा को संकुचित तो किया ही है, शुद्ध शब्द रूपों को भी शुद्ध करने का उपक्रम किया गया है। जैसे– पुग्गल का पोंग्गल, लोए का लोगे, होई का होदि, हवइ का हवदि आदि—यदि होइ और लोए जैसे शब्द रूपों को गलत मान लिया गया तो भविष्य में मंत्र महात्म्य और मूलमन्त्र णमोकार भी बदल जाएगे—"हवदि मंगलं और लोगे सव्वसहूणं हो जाएंगे। वीर सेवा मन्दिर चाहता है कि संपादनों में किसी एक प्रति को आदर्श मानकर तदनुरूप पूरा ग्रन्थ छपाया जाय और अन्य उपलब्ध या स्वेच्छित विकल्पों को टिप्पणों में आवश्यक रूप में दिया जाए जैसी कि संपादन की प्राचीन परिपाटी है और विद्वन्मंडल- सम्मत है।

उक्त प्रसंग को लेकर वीर सेवा मंदिर की ओर से
त्यागियों एवं विद्वानों के अभिमत आमंत्रित किए गए थे।
प्राप्त अभिमत समाज की जानकारी हेतु नीचे दिए जा रहे है।

—'···मूल जैन प्राकृत ग्रन्थों को बदलना कथमपि उचित नही है।'

—१०८ पूज्य आचार्य शिरोमणि श्री अजित सागर जी महाराज

'···मूल मे सुधार भूलकर नही करना चाहिए अन्यथा सुधरते-२ पूरा ही नष्ट हो जाएगा।'···

—१०५ आर्यिका विशुद्ध मति जी

—···यदि कदाचित् कोई पाठ बिल्कुल ही अशुद्ध प्रतीत होता है तो भी उसे जहां की तहां न सुधार कर कोस्टक में शुद्ध प्रतीत होने वाला पाठ रख देना चाहिए।···

···आजकल जो मूलग्रंथों मे सशोधन, परिवर्तन या परिवर्धन की बुरी परपरा चल पड़ी है उसकी मुझे भी चिन्ता है।···

—१०५ आर्यिका श्री ज्ञानमती माता जी

—ग्रन्थों के सम्पादन और अनुवाद का मुझे विशाल अनुभव है। नियम यह है कि जिस ग्रथ का सम्पादन किया जाता है उसकी जितनी सम्भव हो उतनी प्राचीन प्रतियाँ प्राप्त की जाती है। उनमें से अध्ययन करके एक प्रति को आदर्श प्रति बनाया जाता है। दूसरी प्रतियों मे यदि कोई पाठ भेद मिलते है तो उन्हें पाद टिप्पण में दिया जाता है।···

—पं० फूलचन्द जी सिद्धान्त शास्त्री

—पूर्वाचार्यों के वचनों में, शब्दो में सुधार करने पर परम्परा के बिगड़ने का अन्देशा है। कोई भी सुधार यदि व्याकरण से भिन्न प्रतियों के आधार पर करना उचित मानें तो उसे टिप्पण मे सकारण उल्लेख ही करना चाहिए न कि मूल के स्थान पर।···

—पं० जगन्मोहन लाल शास्त्री

—संशोधन करने का निर्णय प्रतियों के पाठ मिलान पर नियमित होना चाहिए न कि सम्पादक की स्वेच्छा पर।···

—पं० बालचन्द्र सिद्धान्त शास्त्री

हमारा कहना तो यही है कि श्रावकों द्वारा जयकारे, चित्र प्रकाशन, वितरण और स्वार्थ-पूरक आशीर्वाद प्राप्ति की प्रथाएँ समाप्त की जाएँ—तभी धर्म स्थिर रह सकता है। अखबारों, कैसिटों आदि के माध्यम से उनके प्रवचनों के प्रचार को भी रोका जाय। क्या ? जिनवाणी वाक्य, धर्म-प्रचार के लिए कम है जो व्यक्ति को बढ़ावा दे पूर्वाचार्यों और जिनवाणी को पीछे धकेला जाय। जरा सोचिए। हमारी दृष्टि से धर्मान्ध तो सही मार्ग पर ना ही आ सकेंगे। यदि आप उन्हे मना सकें तो धर्म का सौभाग्य ही होगा और आपको भी धर्मलाभ !

२ क्या मूलमंत्र बदल सकेगा ?

हमने मूल आगम-भाषा के शब्दों मे उलट-फेर न करने की बात उठाई तो प्रबुद्ध वर्ग ने स्वागत कर समर्थन दिया—सम्मतियाँ भी आयीं। बावजूद इसके हमारे कानो तक यह शब्द भी आए कि—शब्दरूप बदलने से अर्थ में तो कोई अन्तर नही पड़ा। उदाहरण के लिए 'लोए' या 'होइ' के जो अर्थ है वे ही अर्थ 'लोगे' या 'होदि' के हैं और आप स्वयं ही मानते है कि अर्थ-भेद नही है—नमक, लवण, सेन्धव भी तो एकार्थवाची है—कुछ भी कहो। सभी से कार्य-सिद्धि है।

बात सुनकर हमें ऐसी बचकानी दलील पर हंसी जैसी आ गई। हमने सोचा—यदि अर्थ न बदलने से ही सब ठीक रहता है तब तो कोई 'णमो अरहंताणं' मंत्र को 'अस्सलामालेकुं अरहंता' या 'गुडमोर्निंग टू अरहंताज भी बोल सकेगा—वह भी मूलमंत्र हो जायेगा। क्या कोई ऐसा स्वीकार करेगा—जपेगा या लिखकर मंदिरों में टाँगेगा या इन्हें मूलबीज मंत्र मानकर ताम्र यन्त्रादि में अंकित करायेगा ? कि ये पद णमोकार मूलमंत्र का है। क्योंकि इनके अर्थ मे कहीं भेद नही है।

पर, हमने जो दिशा-निर्देश दिया है वह अर्थभेद को लेकर नही दिया—भाषा की व्यापकता कायम रखने और अन्य की रचना मे हस्तक्षेप न करने देने के भाव में दिया है। ताकि भविष्य में कोई किसी रचना को बदलने जैसी अनधिकार चेष्टा न कर सके। क्योंकि यह तो सरासर पर-वस्तु को स्व के कब्जे मे करके उसके रूप को बदल देने जैसा है ताकि दावेदार उसकी शिनाख्त ही न कर सके और वह सबूत देने मे भी महरूम हो जाय।

हाँ, यदि कदाचित् कोई व्यक्ति किसी की रचना में अशुद्धि या अशुद्धिकाभिलाप मानता हो तो सर्वोत्तम औचित्य यही है कि वह लोक-प्रचलित रीतिवत्—किसी एक प्रति को आदर्श मानकर पूरा-पूरा छपाए और अन्य प्रतियों के पाठ टिप्पण मे दे। जैसा कि विद्वानों का मत है। दूसरा तरीका है—वह पूर्व प्रकाशनो को मलिन न कर स्वय उस भाषा मे अपनी कोई स्वतन्त्र ग्रन्थ-रचना करे। क्या ठीक है ? जरा सोचिए ?

—सम्पादक

(पृ० २१ का शेषांश)

यदि मिथ्यात्व को अकिंचित्कर कहेंगे तो उसके पहले योग को अकिंचित्कर कहना पड़ेगा, क्योंकि केवल योग ही संसार नहीं होता; यदि कषाये न हो।

कुगुरु, कुदेव आदि की पूजा को जो मिथ्यात्व कहा जाता है उसके पीछे यही कारण है कि कुगुरु, कुदेव आदि ने हिंसादि मे धर्म माना है। जो अहिंसादि में धर्म मानता है वह कुगुरु कुदेव नहीं है जिसकी हम पूजा एव सत्सगति करेंगे वैसे ही हमारे विचार बनेंगे। अत: मिथ्यात्व ससार का निमित्त कारण बन जाता है, क्योंकि इसके बाद कषायें जन्म लेती हैं। हमारा पूज्य वही है जो मोक्षमार्ग का नेता सर्वज्ञ और कर्मपर्वतो का भेत्ता है, वह जो भी हो। विचार करने पर जिनेन्द्र ही ऐसे देव हैं, अत: उनकी आराधना से सम्यक्त्व की प्राप्ति होती है और कषायादि पर बिजय, अतः मिथ्यात्व को अकिंचित्कर कहना हमारी भूल होगी।

मिथ्यात्व अकिंचित्कर नहीं है

□ श्री पं० रतन लाल कटारिया, केकड़ी

मिथ्यात्व को अकिंचित्कर मानने वाले कषाय को ही बन्धकर्त्ता और मनुष्य का अहितकारी मानते हैं किन्तु यह मूलतः गलत है :—

१. जैनेंद्र सिद्धान्त कोश द्वितीय भाग पृ० ३३ पर लिखा है—"कषाय=मिथ्यात्व सबसे बड़ी कषाय है इससे आत्मा के स्वरूप का घात होता है। मिथ्यात्व से बढ़ कर कोई पाप नही।"

२. मोक्षमार्ग प्रकाशक पृष्ठ २७ (सोनगढ़ प्रकाशन)—'तथा मोह के उदय से मिथ्यात्व क्रोधादिक भाव होते हैं उन सब का नाम सामान्यतः कषाय है।"

३. जयधवला भाग ४ पृ० २४—शका–असद्रूप अनन्तानुबन्धी चतुष्क की मिथ्यात्व में उत्पत्ति कैसे हो जाती है? समाधान—क्योंकि मिथ्यात्व के उदय से कार्माण वर्गणा स्कधों के अनन्तानुबन्धी चतुष्क रूप से परिणमन करने मे कोई विरोध नहीं आता है।

४. गोम्मटसार कर्मकाण्ड भाग १ (ज्ञानपीठ प्रकाशन) प्रस्तावना पृ० १५—किन्तु पहले गुणस्थान में १६ प्रकृतियों की बंध व्युच्छित्ति होती है ये १६ प्रकृतियां केवल पहले गुणस्थान में ही बंधती हैं। आगे मिथ्यात्व का उदय न होने से नही बंधती है। अत: उनके बन्ध का मुख्य कारण मिथ्यात्व ही है अत: मिथ्यात्व को बन्ध का कारण कहा है। फिर भी दूसरे गुणस्थान मे मिथ्यात्व का उदय न होने मे अनन्तानुबन्धी का उदय होते हुए भी उक्त १६ प्रकृतियों का बन्ध नही होता। अत: उनके बन्ध का प्रमुख कारण मिथ्यात्व ही है। अत: कषाय और योग के साथ मिथ्यात्व को भी बध का कारण माना गया है।

५. पहले गुणस्थान का नाम "मिथ्यात्व" रखा गया है "अनन्तानुबन्धी" नही। इससे भी मिथ्यात्व की प्रमुखता सिद्ध होती है। मोहनीय के २ भेद भी इसी दृष्टि मे किये हैं और प्रथम स्थान मिथ्यात्व (दर्शनमोहनीय) को ही दिया है।

६. मिथ्यात्व, ससार (भवबधन) का प्राण है, अन्य सब कषाय कर्म तो उसके शरीर मात्र है। जैसे बिना प्राणो के शरीर मुर्दा है उसी तरह बिना मिथ्यात्व के ससार की स्थिति नही। अतः इसी का नाम अनत-संसार है। कषायें तो इसके पीछे है इसी से उनका नाम अनन्त (ससार) अनु (पश्चात्) बंधी (बंधनेवाली)=अन्तानुबंधी है। मिथ्यात्व, ससार रूपी वृक्ष की जड है। जिस तरह बिना जड के वृक्ष स्थिर नही रह सकता उसी तरह बिना मिथ्यात्व के ससार (कषायवृक्ष) स्थिर नही रह सकता। ससार रूपी वृक्ष की शाखा पत्र काटने से वृक्ष नष्ट नही हो सकता फिर उग आता है जब तक कि मिथ्यात्व=जड नहीं काट दी जाती। अत: मिथ्यात्व अकिंचित्कर नही है। अनर्थों का बीज तो वही है उससे आंखें मूंदने की बात करना ससारचक्र मे गहरे निमग्न होना है।

७. मिथ्यात्व को अकिंचित्कर कहना सम्यक्त्व को भी अकिंचित्कर ही कहना है। सम्यक्त्व का लोप करना है। यह जैनधर्म की खास विशेषता को खत्म करना है। ससार के जितने भी धर्म है सब रागद्वेष कामक्रोधादि कषायो को जीतने की तो अवश्य बाते करते हैं किन्तु मिथ्यात्व को किसी ने छुआ ही नही इसी से वे मोक्षमार्ग को प्राप्त नहीं कर सके, संसार में ही भटकते रहे। यह कला यह अद्भुत विधि–जन से जिन बनने, आत्मा से परमात्मा बनने का मार्ग एकमात्र जैनधर्म ने ही आविष्कृत किया है और वह एकमात्र सम्यक्त्व (मिथ्यात्वनाश) के बल पर ही उद्भूत हुआ है। आज उसी का लोप करना जैनधर्म का ही लोप करना है इसे कोई जैनी ही न समझे तो इससे बढ़-कर और क्या परिताप का विषय हो सकता है। विचारें !

८. अनन्तानुबंधी का विसंयोजक जब वापिस प्रथम मिथ्यात्व गुणस्थान मे आता है तो एक आवली काल तक तो अनन्तानुबन्धी चतुष्क का अनुदय रहता है। "अकिंचित्कर" पुस्तक मे इस अनुदय का अर्थ ईषद् उदय किया है जो सभी जैन सिद्धात शास्त्रो से विरुद्ध है किसी मे भी ऐसा कहीं नहीं लिखा है सर्वथा सब जगह उदय का अभाव ही बताया है। इस एक बात से ही अकिंचित्करता का कागज का महल ढह जाता है॥

Regd. with the Registrar of Newspaper at R. No. 10591/62

वीर-सेवा-मन्दिर के उपयोगी प्रकाशन

जैनग्रन्थ-प्रशस्ति संग्रह, भाग १ : संस्कृत और प्राकृत के १७१ अप्रकाशित ग्रन्थों की प्रशस्तियों का मंगलाचरण सहित अपूर्व संग्रह, उपयोगी ११ परिशिष्टों और पं० परमानन्द शास्त्री की इतिहास-विषयक साहित्य-परिचयात्मक प्रस्तावना से अलंकृत, सजिल्द । ६-००

जैनग्रन्थ-प्रशस्ति संग्रह, भाग २ : अपभ्रंश के १२२ अप्रकाशित ग्रन्थों की प्रशस्तियों का महत्त्वपूर्ण संग्रह। पचपन ग्रन्थकारों के ऐतिहासिक ग्रंथ-परिचय और परिशिष्टों सहित। सं. पं. परमानन्द शास्त्री। सजिल्द। १५-००

समाधितन्त्र और इष्टोपदेश : अध्यात्मकृति, पं० परमानन्द शास्त्री की हिन्दी टीका सहित ५-५०

श्रवणबेलगोल और दक्षिण के अन्य जैन तीर्थ : श्री राजकृष्ण जैन ३-००

जैन साहित्य और इतिहास पर विशद प्रकाश : पृष्ठ संख्या ७४, सजिल्द। ७-००

कसायपाहुडसुत्त : मूल ग्रन्थ की रचना आज से दो हजार वर्ष पूर्व श्री गुणधराचार्य ने की, जिस पर श्री यतिवृषभाचार्य ने पन्द्रह सौ वर्ष पूर्व छह हजार श्लोक प्रमाण चूर्णिसूत्र लिखे। सम्पादक पं हीरालालजी सिद्धान्त-शास्त्री। उपयोगी परिशिष्टों और हिन्दी अनुवाद के साथ बड़े साइज के १००० से भी अधिक पृष्ठों में। पुष्ट कागज और कपड़े की पक्की जिल्द। २५-००

ध्यानशतक (ध्यानस्तव सहित) : संपादक प० बालचन्द्र सिद्धान्त-शास्त्री १२-००

श्रावक धर्म संहिता : श्री दरयावसिंह सोधिया ५-००

जैन लक्षणावली (तीन भागों में) : स० प० बालचन्द्र सिद्धान्त शास्त्री प्रत्येक भाग ४०-००

जिन शासन के कुछ विचारणीय प्रसंग : श्री पद्मचन्द्र शास्त्री, सात विषयों पर शास्त्रीय तर्कपूर्ण विवेचन २-००

मूल जैन संस्कृति अपरिग्रह : श्री पद्मचन्द्र शास्त्री २-००

Jaina Bibliography : Shri Chhotelal Jain, (An universal Encyclopaedia of Jain-References.) In two Vol. (P. 1942) Per set 600-00

सम्पादन परामर्शदाता : श्री लक्ष्मीचन्द्र जैन, सम्पादक : श्री पद्मचन्द्र शास्त्री

प्रकाशक—बाबूलाल जैन वक्ता, वीरसेवामन्दिर के लिए मुद्रित, गीता प्रिंटिंग एजेन्सी, डी०-१०५, न्यूसीलमपुर, दिल्ली-५

BOOK-POST

वीर सेवा मन्दिर का त्रैमासिक

अनेकान्त

(पत्र-प्रवर्तक : आचार्य जुगलकिशोर मुख्तार 'युगवीर')

वर्ष ४१ : कि० ४ अक्टूबर-दिसम्बर १९८८

इस अंक में—

क्रम	विषय	पृ०
१.	परमात्मा-स्तवन	१
२.	संघे शक्ति कलौयुगे —स्व० डा० ज्योतिप्रसाद जैन	२
३.	हिन्दी के विकास में जैन कवियों का योगदान —डॉ० कस्तूरचन्द कासलीवाल	५
४.	आवली काल तक अनन्तानुबन्धी —श्री जवाहरलाल जैन शास्त्री	८
५.	भाषा बदलाव का क्या मूल्य चुकाना पड़ेगा ? —श्री पद्मचन्द्र शास्त्री, दिल्ली	१३
६.	आचार्य अमितगति : व्यक्तित्व और कृतित्व —कु० सुषमा जैन सागर	१६
७.	प्राप्त कुछ प्रश्नो के उत्तर —श्री जवाहरलाल मोतीलाल भीण्डर	१९
८.	व्रत : स्वरूप और माहात्म्य —लेखक क्षुल्लकमणि श्री शीतल सागर महाराज	२१
९.	जैन ग्रन्थों मे विज्ञान —श्री प्रकाशचन्द्र जैन प्रिंसिपल	२६
१०.	जरा सोचिए : —सम्पादक	३१
११.	आप सादर आमन्त्रित हैं !	आवरण पृ० २

प्रकाशक :

वीर सेवा मन्दिर, २१ दरियागंज, नई दिल्ली-२

आप सादर आमन्त्रित हैं !

हमारे सम्पादक होने के नाते लोग अक्सर हमसे पूछ बैठते है—'अनेकान्त' के ग्राहक कितनी सख्या मे है, इसका वितरण कितना है और कैसे चल रहा है ? कभी-कभी सन्देश भी मिल जाते है कि अनेकान्त वास्तव मे सत्य तथा जैन धर्म के रूप का प्रतिबिम्ब है; आदि ।

हम लिख दें कि हम ग्राहक संख्या का माप मनोयोग पूर्वक पढने वालो से करते है; पैसा बटोरने के लिए ग्राहक सख्या बढाने से नही । हम बता दे कि हम प्रशसा से डरते है । हाँ, आशीर्वाद और सदभावनाये ग्रहण करना हमारा धर्म अवश्य है । हमारी धारणा है कि प्रायः ऐसे प्रश्न आर्थिक दृष्टि को ही लेकर किये जाते है - जिनकी आर्थिक दृष्टि हो वे ही करते है—वे हानि लाभ का हिसाब भी पैसे से आँकते है । पर, हमे विश्वास है कि ऐसे कोई व्यक्ति, पत्रिका या सस्था घाटे मे नही होते जिनके उद्देश्यो की पूर्ति मे कार्य कर्त्ताओ का सक्रिय बल मिलता हो । सो—धर्म के प्रभाव से प्रबुद्ध-हमसफर कार्यकर्ताओ, लेखको और पाठकों के सहयोग से 'अनेकान्त' आगम रक्षा व सही आचार-विचार निर्देश देने मे सफल चल रहा है । लोग दिशा-निर्देश पा रहे है—वे इसे मिल बैठकर और एक दूसरे से माँगकर भी चाव से पढते है । ऐसे मे लाभ ही लाभ है ।

हाँ, जहाँ स्थिति ऐसी हो कि धर्म-संस्था और उसके कार्यकलापों को आर्थिक व्यापार बना लिया जाता हो, आचार्यों की रचनाओ की छपाई पर गहरे कमीशनो की माँग हो, पराई धार्मिक कृतियो को फ्री वितरण या लागत मूल्य मे बेचने के बजाय मँहगे मूल्यो मे बेचा जाता हो, जहाँ पूजा-प्रतिष्ठा आदि मे बोलिया बोलकर प्रभूत द्रव्य-सचय का उपक्रम हो वहाँ **'घाटा न हो मुनाफा हो'** जैसे प्रश्न उभरते है । यहाँ तो सस्था की कमेटी ने **इस महर्घता में भी अनेकान्त का वार्षिक शुल्क आज भी वही छह रुपया रखा है जो इकतालिस वर्ष पूर्व था**— जबकि सभी पत्र-पत्रिकायें मूल्य बढ़ा चुकी है ।

शास्त्रो मे पैसे को परिग्रह कहा है । यदि मान आ जाय तो पैसा मनमानी कराता है, वह विद्वानो और त्यागियो तक को अपने गीत गवाने को मजबूर करता है—जैसा हो रहा है । धर्म की तो अपनी मर्यादा है, वह मर्यादा मे रहेगा । जब कि मर्यादा मे रहना पैसे के वश की बात नही । मर्यादा मे तो निर्द्वन्द-विद्वान्, नियमबद्ध श्रावक, छोटे-बड़े त्यागी और सच्चे महाव्रती ही रहने में समर्थ है और उन्हें आवश्यकतापूर्ति मे उपकरणो की कमी नही रहती ।

हाँ, ये तो अज्ञानी लोगो की तृष्णा ही है—प्रभूत द्रव्य समेटने और उसे गाजे-बाजे, वृहत् पण्डाल व मच-निर्माण और दिखावटी सम्मेलन व अटपटे-सेमीनारो आदि मे बहाकर वाहवाही लूटने की । जब कि धर्म आगम-रक्षा और आचार-विचार सुधार पर बल देता है और 'अनेकान्त' कई मौकों पर ऐसे पोषणो मे सफल रहता रहा है, और लेखको से भी तथ्यपूर्ण लेख मिलते रहे है । हम सब के अतीव आभारी हैं ।

जब कभी हम सद्भावना में अधिक खरा लिख जाते है और खरी बात बुरी लग जाती होगी । सो पाठक हमारी सद्भावना का ख्याल कर हमे क्षमा करे । यह अक वर्षान्त का है । आगामी वर्ष के लिए आप सादर आमंत्रित हैं—पठन-पाठन मे सहयोग के लिए । धन्यवाद !

—सम्पादक

ओम् अर्हम्

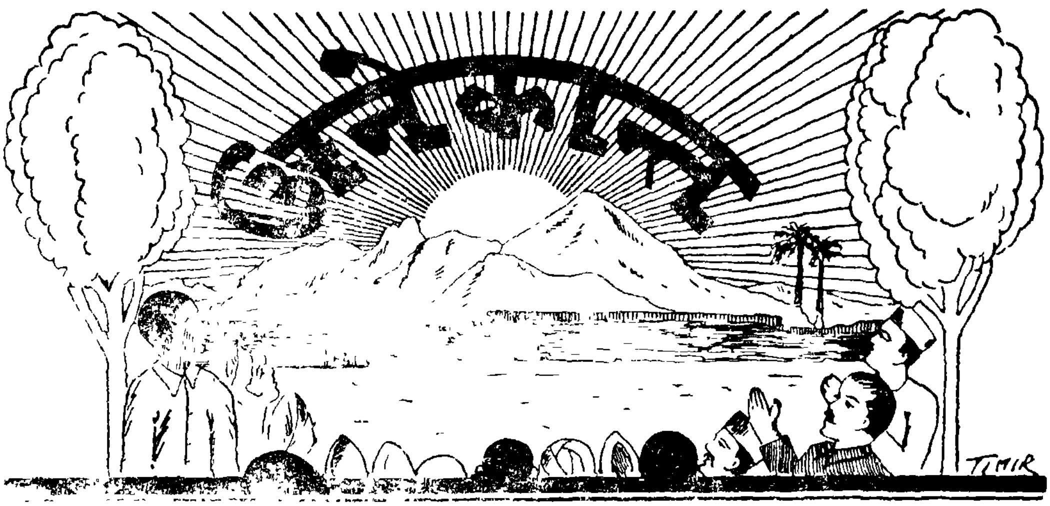

परमागमस्य बीजं निषिद्धजात्यन्धसिन्धुरविधानम् ।
सकलनयविलसितानां विरोधमथनं नमाम्यनेकान्तम् ।।

वर्ष ४१ किरण ४ | वीर-सेवा मन्दिर, २१ दरियागंज, नई दिल्ली-२ | वीर-निर्वाण सवत् २५१५, वि० स० २०४५ | अक्टूबर-दिसम्बर १९८८

परमात्मा—स्तवन

चिदानंदैक सद्भावं परमात्मानमव्ययम् ।
प्रणमामि सदा शान्तं शान्तये सर्वकर्मणाम् ।।१।।
खादिपंचकनिर्मुक्तं कर्माष्टक विवर्जितम् ।
चिदात्मकं परं ज्योतिर्वन्दे देवेन्द्र पूजितम् ।।२।।
यदव्यक्तमबोधानां व्यक्तं सद्बोधचक्षुषाम् ।
सारं यत्सर्ववस्तूनां नमस्तस्मै चिदात्मने ।।३।।

—मुनि श्री पद्मनंद्याचार्य

अर्थ—जिस परमात्मा के चेतनस्वरूप अनुपम आनन्द का सद्भाव है तथा जो अविनश्वर एवं शांत है उसके लिए मै (पद्मनन्दी मुनि) अपने समस्त कर्मो को शांत करने के लिए सदा नमस्कार करता हूं ।।१।। जो आकाश आदि पाच (आकाश, वायु, अग्नि, जल और पृथ्वी) द्रव्यो से अर्थात् शरीर से तथा ज्ञानावरणादि आठ कर्मो से भी रहित हो चुकी है और देवों के इन्द्रों से पूजित है ऐसी उस चैतन्यरूप उत्कृष्ट ज्योति को मैं नमस्कार करता हू । जो चेतन आत्मा अज्ञानी प्राणियों के लिए अस्पष्ट तथा सम्यग्ज्ञानियों के लिए स्पष्ट है और समस्त वस्तुओं में श्रेष्ठ है उस चेतन आत्मा के लिए नमस्कार हो ।

भावार्थ—उक्त पद्यों में आचार्य ने शुद्ध चैतन्य परमात्मा को नमस्कार किया है, जो ज्ञान शरीरी है, द्रव्य कर्म, नोकर्म और भावकर्म आदि से रहित है । अविनश्वर अनिर्वचनीय आनंद से युक्त है । समस्त कर्मो से रहित, इन्द्रादि देवों द्वारा पूज्य है । वह उत्कृष्ट ज्योतिरूप परमात्मा सदा वन्दनीय है ।।

संघे शक्ति कलौयुगे

□ स्व० डा० ज्योति प्रसाद जैन, लखनऊ

ससार के समस्त स्त्री-पुरुष "मनुष्य जाति" नामक नामकर्म के उदय के कारण एकजातीय या सजातीय होते हुए भी श्रीमद् कुन्दकुन्दाचार्य की प्रसिद्ध उक्ति "नाना-जीवा, नाना कम्मा, नानाविह हवेई लद्धि" के अनुसार वे अनेक है, और उनमे परस्पर अन्तर होते है—उनके अपने-अपने कर्म, कर्मोदय और कर्मफल भिन्न-भिन्न होते है। उनकी लब्धिया या उपलब्धियाँ भी तदनुसार विविध और विभिन्न होती है। ये कर्मजनित, प्रकृतिजन्य, स्वभावजन्य, जन्मजात संस्कारजन्य, शिक्षा-दीक्षा-जन्य, परिवेश-वातावरण-देशकालादि जन्य अन्तर एक व्यक्ति को दूसरे व्यक्ति से भिन्न बना देते हैं। कोई रूपवान है, कोई कुरूप, कोई बलवान है कोई निर्बल, कोई पूर्णाङ्ग है कोई विकलाङ्ग, कोई निरोगी है कोई रोगी, कोई बुद्धिमान, मेधावी-प्रतिभा सम्पन्न है तो कोई अल्पमति—जड मूर्ख है, किसी की क्षमता-योग्यता अधिक है तो किसी की अल्प है, कोई भद्रप्रकृति सज्जन है तो कोई अभद्र-दुर्जन-दुष्ट स्वभाव का है। व्यक्ति-व्यक्ति के बीच वैयक्तिक रुचियों, जीविकोपार्जन के लिए अपनाये गये व्यवसाय, आर्थिक स्थिति एव पद प्रतिष्ठा, देश-काल भाषा आदि के भी भेद होते है। धार्मिक विश्वासो, धर्माचरण की प्रवृत्ति, क्षमता एव प्रकारों तथा जीवन के "लौकिक एव पारमार्थिक" लक्ष्यो के भी अन्तर हो सकते है। मनुष्य जाति के नाना प्राणियो मे प्राय: सर्वत्र एव सभी कालो मे सहज ही पाए जाने वाले ये भेद या अन्तर उसकी जीवतता, प्राणवत्ता एव सक्रिय प्रगतिशीलता के ही द्योतक हैं। उनके सबके रहते भी मनुष्यमात्र समान है, एक है, मानवतारूपी एक सूत्र मे परस्पर बधे है। इस अनेकता मे एकता, भेद मे अभेद, विविधता मे समानता के बल पर ही वे सद्भाव, सहयोग एव सहअस्तित्वपूर्वक समष्टि के लिए हितकर सामूहिक उद्देश्यों की प्राप्ति मे स्वशक्त्यानुसार प्रयत्नवान होते है और मनुष्य का सामाजिक प्राणी होना चरितार्थ करते हुए प्रगति पथ पर अग्रसर होते है।

परन्तु, यदि वे वैयक्तिक या निहित स्वार्थों, सत्ता लोलुपता, विषय लोलुपता, धन-परिग्रह या मान-प्रतिष्ठा की लिप्सा, पूर्वबद्ध धारणाओ, हठधर्मों, अधविश्वासो, अज्ञान आदि के वशीभूत होकर भेद मे अभेदता या अनेक मे एकता के मौलिक तत्त्व को विस्मृत कर देते है, अपनी-अपनी ढपली अपना-अपना राग अलापने लगते है, अपने से भिन्न विचार रखने वालो की भावनाओ की ओर से आँख मूद लेते है, उनकी उपेक्षा, अवहेलना, तिरस्कार, भर्त्सना, निन्दा आदि मे ही लगे रहते हैं या उनका शोषण उत्पीडन आदि करने लगते है, तो प्रगति अवरुद्ध हो जाती है, और सामाजिक, राष्ट्रीय तथा मानवीय अवनति एव पतन के द्वार खुल जाते है। उनकी दलबन्दियो एव गुटबन्दियो के प्रताप से उनकी विकृति राजनीति एव अर्थनीति धर्म एव मानवीयता जैसे निर्मल तथा सर्व-हितोपकारी क्षेत्रो पर भी हावी हो जाते है—कभी-कभी तो द्वेषपूर्ण दोषारोपण, कुत्सित लाछनो, अपशब्दो, जाति या धर्म से बहिष्कार की धमकिया आदि हिंसक वैर-विरोध एव आतकवादी उपायो का आश्रय लेकर उक्त पवित्र क्षेत्रो को भी विकृत एव निरर्थक बना डालती है।

भारतीय इतिहास के मध्यकाल (लगभग १०००-१८०० ई०) मे अनेक बाह्य एव आन्तरिक कारणों से भारतीय समाज मे ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य, शूद्र सभी वर्ण-व्यवस्था तो जन्मतः रूढ़ हुई ही, प्रत्येक वर्ण मे अनगिनत जातियाँ-उपजातियाँ-अवान्तरजातियाँ तथा प्राय: प्रत्येक धर्म परम्परा मे अनेक सम्प्रदाय-उपसम्प्रदाय, पथ-उपपंथ आदि भेद-प्रभेद भी उदित होते, विकसित होते और रूढ़ होते चले गये। प्रत्येक व्यक्ति के लिए अपनी छोटी-सी जाति-उपजाति विशेष, अपना छोटा-सा पंथ-उपपथ विशेष,

अपना ही दल, गुट या वर्ग विशेष सर्वोपरि होता चला गया। इस विघटनकारी अभिशाप ने धार्मिक, सामाजिक एवं राष्ट्रीय संगठन की कमर तोड दी है और उसके टुकड़े-टुकड़े करके धर्म-संस्कृति, समाज एवं राष्ट्र के शरीर को जर्जर कर दिया है। क्या साधु-संत एवं धर्माचार्य, क्या चिंतक, विचारक एवं साहित्यकार, क्या सामाजिक नेता एवं राजनेता, सब ही प्रत्यक्ष या परोक्ष रूप से इस विघटनकारी प्रवृत्ति को प्रोत्साहन देते दीख पड़ते है। नैतिकता प्रधान मानवीय मूल्यों मे अनास्था का ही यह दुष्परिणाम है—अब तो आस्था मे ही किसी की आस्था नही रह गई है।

तीर्थंकर-युग, चौथे काल या पुराण काल की बात छोड भी दे, तो गत साधिक अढाई सहस्र वर्षो के शुद्ध इतिहास काल मे भी भारतवर्ष मे ऐसे अनेक अत्यधिक काल-क्षेत्र व्यापी स्वर्णिम युग आए है, जब लोकमानस ने मानवीय मूल्यो मे सुदृढ आस्थापूर्वक स्वयं को ऐसी विघटनकारी प्रवृत्तियो से बचाये रखा, और भेद मे अभेद या अनेकता मे एकता की सुष्ठु साधना करके सर्वतोमुखी उत्कर्ष सम्पादित किया है तथा सम्यक् पुरुषार्थ द्वारा ऐहिक एवं पारमार्थिक स्वपर कल्याण का साधन किया है। परंतु भेद में अभेद या अनेकता मे एकता की इस भावना के पनपने मे आज सबसे बड़ा बाधक कारण वर्तमान मे प्रचलित जातिवाद एवं जाति-उपजाति प्रथा है। तारीफ यह कि इस जाति प्रथा के वर्तमान रूप को अनादि-निधन घोषित किया जाता है। और सज्जातित्व के आवरण मे सजातीत्व का नारा बुलन्द किया जाता है।

श्रमण परम्परा के अन्तिम तीर्थंकर भगवान महावीर (छठी शती ई० पू०) के उदय के बहुत पूर्व भारत मे नवोदित वैदिक-ब्राह्मण परम्परा ने कार्य विभाजन की सुविधा की दृष्टि से समाज मे चतुर्वर्ण व्यवस्था प्रचलित कर दी थी, किन्तु वह कर्मतः एवं परिवर्तनीय रही जन्मतः और अपरिवर्तनीय नही। श्रमण परम्परा ने भी उसे उसी दृष्टि से और उसी रूप मे स्वीकार कर लिया, यद्यपि वह श्रमण निर्ग्रन्थ संस्कृति की अभेदपरक आत्मा के पूर्णतया अनुकूल नही थी। यह व्यवस्था उसी रूप मे भारतीय समाज मे मौर्यकाल के प्रायः अन्त से (लगभग २०० ई० पू०) पर्यन्त चलती रही। स्वयं वैदिक परम्परा मे औपनिषादिक आत्म-विद्या के प्रचारक तथा नवोदित शिवोपासक भी याज्ञिक हिंसा, वैदिक कर्मकाण्ड और वर्णादिक के आधार पर सामाजिक भेद-भाव के विरोधी थी, अतः उनमे भी वर्ण-व्यवस्था श्रमणो जैसे सीमित रूप मे ही अंगीकृत रही। किन्तु मौर्योत्तर काल मे, एक ओर तो उत्तर भारत की केन्द्रीय (मगध-मालवा) राज्यसत्ता ब्राह्मणकुलोत्पन्न शुग एवं कण्व नरेशो के हाथ मे आ गई, जिन्होंने जोर-शोर से ब्राह्मणधर्म पुनरुद्धार का बीड़ा उठाया और श्रमणो पर भरसक अत्याचार किये। परिणामस्वरूप बौद्ध समुदाय की तो अपार क्षति हुई ही, जैन संघ भी उत्तर भारत मे पर्याप्त निर्बल हो गया—भद्रबाहु श्रुतकेवली की परम्परा के मुनि तो ४थी शती ई० पू० के मध्य में लगभग ही बहुत बडी संख्या मे दक्षिण के कर्णाटक आदि देशो की ओर बिहार कर गये थे, स्थूलिभद्र की परम्परा के अवशिष्ट साधु भी मालवा तथा वहाँ से भी गुजरात-सौराष्ट्र की ओर चले गए। दूसरी ओर, ईरानी, यूनानी पह्लव, शक, मुरुण्ड, कुषाण आदि विदेशी जातियां उत्तरी सीमान्तों की ओर से प्रविष्ट होकर इस देश मे यत्र-तत्र बसने और अपनी राज्य सत्तायें स्थापित करने लगी थी। हूण, अरब, तुर्क, मगोली आदि के रूप मे यह सिलसिला ?वी शती तक चलता रहा। बीच मे गुप्त युग लगभग (३२०-५५० ई०) मे भारतीय राज्यसत्ता प्रबल भी हो उठी, तो वह भागवत धर्मानुयायी रही। पुराणग्रन्थ, स्मृति शास्त्र आदि रचे गये और जनता ब्राह्मणवाद, वर्णाश्रम, जातिपांति के बंधनो मे जकडती चली गयी। गुप्तोत्तर काल, विशेषकर राजपूत युग मे, यह प्रक्रिया और अधिक बलवती होती गयी और मध्य-युगीन मुस्लिम शासन काल मे तो ये बंधन अपनी चरमावस्था को पहुच गए।

परन्तु, दक्षिण भारत के अधिकांश भाग मे क्योंकि मूलसंघी निर्ग्रन्थ जैन धर्म का ही मुख्यतया वर्चस्व एवं प्राधान्य रहा, वहाँ का सामाजिक संगठन लगभग १५०० वर्ष पर्यन्त प्रायः वैसा ही रहता रहा जैसा कि मौर्यकाल तक उत्तर भारत मे रहा था, अर्थात् चतुर्वर्ण तो शनैः शनैः

स्वीकृत हो गए, किन्तु कर्मतः तथा परिवर्तनीय बने रहे। समाज की एकसूत्रता एवं स्वस्थता भग नही हुई। १२वी शती मे रामानुजाचार्य के वैष्णव सम्प्रदाय के, तदनन्तर वीरशैव (लिंगायत) मत के द्रुतवेग से बढते प्रचार-प्रसार, जैन राज्य सत्ताओ तथा बहुभाग जिनधर्मी ब्राह्मण-क्षत्रिय, वैश्यों के शनैः शनैः मत परिवर्तन, मुसलमानों के प्रवेश आदि अनेक कारणों से वह सामाजिक सगठन चरमरा गया और ब्राह्मणवाद जनमानस पर बेतरह छाता चला गया। अतएव दक्षिण मे भी उत्तर भारत जैसी जातियाँ-उपजातियाँ उत्पन्न होने लगी। साथ ही अवशिष्ट उच्च-वर्गीय जैनों को वर्णबाह्य घोषित करके उन्हे "पचम" सज्ञा दे दी गई—अर्थात् वे चतुर्थो (शूद्रों) मे भी हीन समझे जाने लगे। "चतुर्थ" जो पहले से ही अपेक्षाकृत पिछड़ा हुआ एवं निम्न वर्ग था और जिसमे कृषक, श्रमिक, विभिन्न कर्मकर समूह थे, उसके शेतवाल, कासार, बोगार आदि का बहुभाग पीछे तक जैन बना रहा। ये तथाकथित छोटे लोग सदैव से अधिक धर्मप्राण रहते आए है, एका-एकी किसी जोर-जबरदस्ती या प्रलोभन के कारण वे स्वधर्म परिवर्तन प्रायः नही करते। अतएव इधर गत दो-तीन सौ वर्षों मे दक्षिण भारत मे जो जैन बच रहे वे चतुर्थ और पचम ही कहलाने लगे। देखादेखी उनमे भी कई जातियाँ-उपजातियाँ विकसित हो गयी। किन्तु यद्यपि हीन भावना, निर्धनता, अशिक्षा आदि के कारण वे धार्मिक एव सास्कृतिक पुनर्जागरण करने योग्य नही रहे, तथापि उस भूभाग मे जैनधर्म एव सस्कृति के सरक्षक तथा प्रतिनिधि वे ही बने रहे और आज भी बने है। वर्तमान शती के दिगम्बर जैन मुनियो, आर्यिकाओं आदि मे से भी अधिकाश उन्ही जातियो मे उत्पन्न हुए है। मध्य एव मध्यान्तर कालो मे दक्षिण भारत मे जो अनेक सुधारक एव निर्गुणी या भक्त संत हुए वे भी अधिकतर इन्ही वर्गों में उत्पन्न हुए थे। दूसरे, इन चतुर्थ एवं पचमों मे, जो जैन बने रहे और जिनमे कितने ही मूलतः ब्राह्मण, क्षत्रिय या वैश्य कुलोत्पन्न भी हैं, परस्पर रोटी-बेटी व्यवहार भी चलता रहा। दक्षिण भारत मे उस काल मे ब्राह्मण परम्परा के बड़े-बड़े दिग्गज आचार्य भले ही हुए, देश का राजनैतिक, आर्थिक, सांस्कृतिक एव नैतिक पतन और सैकड़ो वर्षों की विदेशी-विधर्मी मुसलमानो, फिरंगियों आदि की गुलामी का कारण मुख्यतया वह संकीर्ण असहिष्णु ब्राह्मणवाद ही रहा जिसकी जड मे जाति-उपजाति वाद का भेद या कूटपरक भूत ही सर्वाधिक सक्रिय रहा। आज भी स्वतन्त्र सर्वतन्त्र भारतीय राष्ट्र की भावनात्मक एकसूत्रता मे वही जातिवाद सबसे बड़ी बाधा है। राज-नैतिक सम्प्रदायवाद या सियासी फिरकापरस्ती का रूप लेकर तथा साथ मे आतंकवाद का हथियार अपनाकर तो विघटनकारी तत्त्व भयंकर एव विध्वंसक हो उठे है, अपने छोटे से स्तर पर जैन समाज भी उसी रोग से ग्रस्त होता जा रहा है। देश की जनसख्या का मात्र एक प्रतिशत होते हुए भी वह इतने सम्प्रदायो-उपसम्प्रदायो, पन्थो-उपपन्थो, गुरुडमो मे तथा इतनी जातियो-उपजातियो, अवान्तर-जातियो, अल्लो-थोकों आदि मे बँटता हुआ टुकड़े-टुकड़े होकर रह गया है। अत. ऐसा तत्त्वहीन होता जाता है कि उसके स्वय के तथा उसके धर्म एव सस्कृति के अस्तित्व को ही भयानक खतरा उत्पन्न हो गया है। आवश्यकता है कि प्रबुद्ध समाज नेता समय की गति को पहिचाने और विघटनकारी प्रकृतियो से समाज की जीवन रक्षा करें। स्मरण रहे कि "सघे शक्ति कलौयुगे" इस विषम कलिकाल मे शक्ति का मूल सगठन ही है। शायद इसीलिए भविष्य दृष्टा भगवान महावीर ने श्रीसंघ अर्थात् मुनि-आर्यिका, श्रावक-श्राविका, रूपी चतुर्विध संघ की स्थापना, सगठन, व्यवस्था एव सरक्षण को प्राथमिकता दी थी। उन सर्वहितकर जगद्गुरू भगवान की जन्म-जयन्ती, तप या ज्ञानकल्याणक, शासन जयन्ती या निर्वाणोत्सव, किसी भी उपलक्ष्य से हम उनका गुणगान करें। हमे उनकी इस अमूल्य देन को विस्मृत नही करना चाहिए और उनके श्रीसघ को विकृतियो से बचाये रख कर सरक्षित एवं सतेज बनाये रखने का सकल्प सदैव दोहराते रहना चाहिए—इसमे हम सबका कल्याण निहित है।

(श्री रमाकान्त जैन के सौजन्य से)

हिन्दी के विकास में जैन कवियों का योगदान

डा० कस्तूर चन्द कासलीवाल, जयपुर

हिन्दी हमारी राष्ट्रभाषा है। सारे देश मे इसे सम्माननीय स्थान प्राप्त है। लेकिन राष्ट्रभाषा का स्थान प्राप्त करने के लिए इसे विगत ८०० वर्षों मे अनवरत संघर्ष करना पडा है। इस सघर्ष मे जैन सन्तो, भट्टारकों एव कवियो का सबसे अधिक योगदान रहा। सस्कृत के पर्याप्त प्रचार युग मे भी जैन कवियों ने पहिले अपभ्रंश के रूप मे और फिर पुरानी हिन्दी के रूप में छोटी बडी पचासो रचनाये निबद्ध करके अपनी हिन्दी सेवा का ज्वलत उदाहरण प्रस्तुत किया। महापडित राहुल साकृत्यायन ने जब महाकवि स्वयम्भू को हिन्दी का आदि कवि घोषित किया और उनके द्वारा निबद्ध "पउमचरिउ" को हिन्दी का प्रथम महाकाव्य बतलाया तो हिन्दी का इतिहास और भी अतीत मे चला गया। स्वयम्भू के पश्चात् पुष्पदन्त, वीर, धनपाल, नयनन्दि, श्रुतकीर्ति एव रइधू जैसे पचासों अपभ्रंश कवियो ने हिन्दी विकास का मार्ग प्रशस्त किया जिसके सहारे हिन्दी भाषा का विकास तेजी से सम्पन्न हो सका।

हिन्दी के प्रारम्भिक युग के यदि २-४ रासा ग्रन्थो को निकाल दिया जावे तो शेष सभी रास संज्ञक रचनाये जैन कवियो द्वारा निबद्ध मिलेगी। इन कवियो ने सामान्य पाठको की अभिरुचि जाग्रत करने के लिए तथा हिन्दी के पठन-पाठन को लोकप्रिय बनाने के लिए कितने ही रास संज्ञक रचनाये निबद्ध की जिनमे भरतेश्वर बाहुबलि रास (११८४ ए. डी.) चन्दनबाला रास (१२५७ ए.डी.) स्थूलिभद्र रास (१२०६ एडी) नेमिनाथ रास (१२१३ एडी) गोत्तम स्वामी रास (१३५५ एडी) के नाम उल्लेखनीय हैं। रासा कृतियों के साथ-साथ जैन कवि काव्य कृतियो लिखने की ओर प्रवृत्त हुए। इस दृष्टि से जिणदत्त चरित नामक काव्य ग्रन्थ उल्लेखनीय है। कविवर राजसिंह ने इसे १२९७ एडी मे निबद्ध किया। ७५३ पद्यो मे निबद्ध यह अपभ्रंश एव हिन्दी के विकास काल का काव्य है जब अपभ्रंश शनैः शनैः हिन्दी का रूप ले रही थी।[1]

जैन कवि काव्य की किसी एक विधा से बधे नही रहे किन्तु उन्होने सभी काव्य रूपो को अपनी कृतियो से पल्लवित किया। राजस्थान के जैन ग्रन्थागारों मे सग्रहीत ग्रन्थो को देखते हुए हमारे सामने अनेक नाम सामने आये है जैसे स्तोत्र, पाठ, सग्रह, कथा, रासो, रास, पूजा, मंगल, जयमाल, प्रश्नोत्तरी, मत्र, अष्टक, सार, समुच्चय, वर्णन, सुभाषित, चौपाई, शुभ मालिका, निसाणी, जकडी, ब्याहलो, बधावा, विनती, पत्री, आरती, बोल, चरचा, विचार, बात, गीत, लीला, चरित्र, छद, छप्पय, भावना, विनोद, कल्प, नाटक, प्रशस्ति, धमाल, चोढालिया, चौमासिया, बारामासा, बटोई, बेलि, हिंडोलणा, चूनड़ी, सज्झाय, बाराखड़ी, भक्ति, वदना, पच्चीसी, बत्तीसी, पचासा, लावनी, सतसई, सामायिक, सहस्रनाम, नामावली, गुरूबावली, स्तवन, सबोधन, मोडलो, फागु, आदि।[2] इन विविध साहित्य रूपो को जैन कवियो ने खूब पल्लवित किया है जिनकी बहुमूल्य सामग्री जैन ग्रन्थागारो मे सुरक्षित है।

१४वी शताब्दी के प्रारम्भ मे कविवर सधारू हुए जिन्होने प्रद्युम्न चरित जैसे सुन्दर काव्य को सन् १३५४ मे निबद्ध किया। विद्वानो ने सधारू के प्रद्युम्न चरित को ब्रजभाषा का प्रथम महाकाव्य माना है और उसे मौलिक कृति बतलाई है। सधारू कवि उत्तर प्रदेश के एरच्छ नगर के निवासी थे। कवि ने अपना निम्न प्रकार परिचय दिया है :—

अगरवाल की मेरी जात, पुर अगरोए मुहि उतपात।
सुघणु जणणी गुणवइ उर धरिउ,
साधरू महाराज धरह अवतरिउ।
एरछ नगर बसते जानि, सुणउ चरित मइ रचिउ पुराण॥

१५वी शताब्दी मे भट्टारको का स्वर्ण युग प्रारम्भ हुआ। गुजरात एव उत्तर भारत के इन भट्टारकों ने हिन्दी को सबसे अधिक प्रश्रय दिया। स्वय उन्होंने एव अपने शिष्यो द्वारा हिन्दी मे सैकडो रचनाये लिखवाकर हिन्दी भाषा के भण्डार को खूब पल्लवित किया। भट्टारक सकलकीर्ति के प्रमुख शिष्य ब्रह्म जिनदास ने ७० से भी अधिक काव्य कृतियो को निबद्ध करके हिन्दी जगत मे एक नया कीर्तिमान प्रस्तुत किया। उन्होने अकेले ने विविध विषयक लगभग ५० रास सज्ञक काव्यो का सृजन किया। लोक भाषा मे तुलसी से पूर्व राम रास सन् १४५१ मे की, रचनाकर ब्रह्म जिनदास ने हिन्दी मे राम काव्य परम्परा का सूत्रपात किया। यही नही रूपक काव्य परम्परा मे परमहस रास जैसी विशिष्ट रचना निबद्ध करके अध्यात्म रस की धारा बहायी।

१६वी शताब्दी मे बीसो जैन कवि हुए जिन्होने पचासो रचनाओं द्वारा हिन्दी साहित्य के भण्डार को खूब समृद्ध किया। इस शताब्दि में होने वाले कवियो मे बूचराज, छोहल, ठक्कुरसी चतुरूमल, आचार्य सोमकीर्ति, ब्रह्म यशोधर, भट्टारक शुभचन्द्र, भट्टारक ज्ञानभूषण के नाम उल्लेखनीय है। कविवर बूचराज की अब तक ८ रचनाये एव ११ गीत उपलब्ध हो चुकी है। बूचराज[५] घुमक्कड कवि थे तथा राजस्थान, हरियाणा, पजाब एव उत्तर प्रदेश मे बराबर घूमते रहते थे। इन्होने रूपक काव्यों को छन्दोबद्ध करने मे सबसे अधिक रुचि ली और सुयणजुझ, संतोषजयतिलकु, चेतन पुद्गल धमाल जैसी महत्वपूर्ण कृतियो को छन्दोबद्ध करने मे सफलता प्राप्त की। छोहल कवि की पञ्चसहेली गीत एव बावनी बहुत ही लोकप्रिय रचनाए रही है। भाषा एवं शैली दोनो ही दृष्टियो से दोनो ही रचनाए उत्कृष्ट कृतिया मानी जाती है। प्रोफेसर कृष्ण नारायण प्रसाद "मागध" के शब्दो मे बावनी मे वर्णित नीति एव उपदेश के विषय हे तो प्राचीन पर, प्रस्तुतीकरण की मौलिकता प्रतिपादन की विशदता एव दृष्टान्त चयन की सूक्ष्मता सर्वत्र विद्यमान है।[६] इसी तरह पंच सहेली गीत मे शृगार रस का बहुत ही सूक्ष्म तथा मार्मिक वर्णन हुआ है। वियोग शृगार मे विरहिणी नायिकाओ के अनुभवों का चित्रण उन्ही के शब्दो मे इतना सवेग एव अनुभूतिपरक है कि कोई भी सहृदय विरह की इस दशकारी वेदना से व्याकुल हुए बिना नही रहता।[७]

कविवर ठक्कुरसी राजस्थान के ढूढाहड क्षेत्र के कवि थे। उन्हें काव्य रचना मे अभिरुचि स्वय अपने पिता घेल्ह से प्राप्त हुई थी। उन्होने १५ कृतियो को छन्दबद्ध करने का यशस्वी कार्य किया। पचमगति वेलि इनकी सबसे लोकप्रिय रचना मानी जाती है जिसकी सैकड़ो पाण्डुलिपिया राजस्थान के जैन ग्रन्थागारो मे सग्रहीत है। इसी तरह कवि की "कृपण छन्द" में तत्कालीन समाज का बहुत मार्मिक वर्णन हुआ है। इन्ही के छोटे भाई घनपाल थे जिन्होने ऐतिहासिक गीतो की रचना की थी। आमेर के सावला बाबा (नेमिनाथ स्वामी) पर उन्होने बहुत सुन्दर गीत लिखा है।

इसी शताब्दि मे होने वाले आचार्य सोमकीर्ति ने यशोधररास एव अन्य ६ रचनाये निबद्ध करने का गौरव प्राप्त किया। सोमकीर्ति, ज्ञानभूषण एव शुभचन्द्र अपने समय के प्रभावक सन्त थे। इनकी हिन्दी कृतियो की रचना मे अभिरुचि निस्सन्देह इस भाषा के प्रति जन रुचि की प्रतीक मानी जानी चाहिए।

१७वी एव १८वी शताब्दि हिन्दी का स्वर्ण काल रहा जिसमे पचासो कवि हुए जिन्होने हिन्दी साहित्य के भडार को अत्यधिक समृद्ध बना दिया। इन शताब्दियो मे भक्ति एव अध्यात्म की दोनो धारायें खूब बढ़ी। चारो ओर हिन्दी मे काव्य रचनायें होने लगी। इस शताब्दि के प्रतिनिधि कवियो मे ब्रह्म रायमल्ल, रूपचन्द, भ० रत्नकीर्ति, कुमुद-चन्द, आनन्दधन, ब्रह्म गुलाल बाई अजीतमति, परिमल्ल, धनपाल, देवेन्द्र, सभाचन्द, भूधरदास आदि के नाम उल्ले-खनीय है। ब्रह्म रायमल्ल घुमक्कड कवि थे इसलिए जहां भी ये जाते, अपनी काव्य रचना से उस ग्राम/नगर के निवासियो को उपकृत करते रहते थे। ब्रह्म रायमल्ल की रचनायें अत्यधिक सीधी सादी भाषा में निबद्ध है जिन्हें गाकर पढ़ा जा सकता है। इनकी अब तक पन्द्रह रच-नायें उपलब्ध हो चुकी है जो सवत १६१५ से लेकर सवत १६३६ तक की रची हुई है। कवि की भविष्यदत्त चौपई

सबसे लोकप्रिय रचना मानी जाती है जिसकी सैकड़ों की संख्या में पाण्डुलिपिया उपलब्ध होती हैं बनारसीदास १७वीं शताब्दी के सबसे अधिक लोकप्रिय एव सशक्त कवि माने जाते है। उनका समयसार नाटक, बनारसी विलास एवं अर्धकथानक हिन्दी की बेजोड़ रचनायें है। समयसार नाटक मे जीव. अजीव, आस्रव, बंध, सवर, निर्जरा और मोक्ष सात तत्त्व अभिनय करते है। इनमे जीव नायक है तथा अजीव प्रतिनायक है। आत्मा ने स्वभाव और विभाव को नाटक के ढग पर बतलाने के कारण इसको नाटक समयसार कहा गया है। बनारसीविलास मे कवि की ५० रचनाओ का सग्रह किया गया है। आगरा के दीवान जगजीवन ने कवि की बिखरी रचनाओ का उनकी मृत्यु के पश्चात् सवत १७०१ चैत्र सुदी २ को एक ही स्थल पर सकलन कर दिया था और उसी सकलन का नाम बनारसी विलास रखा गया था। अर्ध कथानक हिन्दी जगत का प्रथम आत्म चरित है जिसमे कवि न अपने जीवन के ५५ वर्षों की जीवन घटनाओ का बड़े ही सुन्दर ढग से छन्दोबद्ध किया है। इसमे कवि की सत्यप्रियता, स्पष्टवादिता, निरभिमानता और स्वाभिकता का जबरदस्त पुट विद्यमान है। कथानक की भाषा अत्यधिक सरल है।

कविवर रूपचन्द बनारसीदास के समकालीन थे। दोनो ही आध्यात्मी थे तथा परस्पर मे आध्यात्म चर्चा किया करते थे। उनका दोहा शतक, गीत परमार्थी अध्यात्म से ओतप्रोत है। दृष्टान्तो के द्वारा उन्होंने अध्यात्म तत्त्व को बहुत अच्छी तरह समझाया है[१०]। भट्टारक रत्नकीर्ति एव कुमुदचन्द्र दोनो ही गुरू शिष्य थे दोनो ही भट्टारक थे तथा अपने समय के प्रभावक भट्टारक थे। रत्नकीर्ति की अब तक ४४ कृतिया उपलब्ध हो चुकी है जिनमें अधिकाश रचनाये नेमि राजुल से सम्बन्धित है। उन्होंने अपने गीतो मे राजुल के मनोगत भावो का एव उसके विरही जीवन का सजीव चित्र उपस्थित किया है। इसी तरह कुमुदचन्द्र की अब तक २८ रचनाये उपलब्ध हो चुकी है जिनमे गीत सज्ञक रचनाये अधिक है।

१७वी शताब्दि की महिला कवयित्री बाई अजीतमति[११] की खोज अभी कुछ ही समय पूर्व हो सकी है। वह सागवाड़ा (राजस्थान) की रहने वाली थी। उसके द्वारा निबद्ध आध्यात्मिक छन्द, षट् पद, भक्ति परक पद, हिन्दी की अच्छी रचनाये है। इसी समय आगरा में परिमल्ल कवि हुए जिन्होने श्रीपाल चरित के रूप मे हिन्दी की एक सशक्त रचना भेंट की।

१८वी शताब्दि मे होने वाले अनेक कवियो मे मुनि सभाचंद हेमराज, बुलाकीदास, बनारसीचन्द, भूधरदास, द्यानतराय हिन्दी जगत के जगमगाते नक्षत्र है। सभाचन्द के हिन्दी पद्मपुराण की लेखक को अभी ३ वर्ष पूर्व ही खोज करने मे सफलता मिली है। प्रस्तुत पुराण हिन्दी भाषा का प्रथम पद्मपुराण है जो साढ़े छः हजार से अधिक पद्यो मे निर्मित जैन राम काव्य है। भाषा सरल किन्तु लालित्य पूर्ण है। हेमराज नाम के चार कवि एक ही समय मे हुए जिनमे पाडे हेमराज, हेमराज गोदिका ये दोनो सबसे प्रसिद्ध थे। कविवर बुलाकीदास, बुलाकीचन्द दोनो आगरा निवासी थे। बुलाकीदास का पाण्डवपुराण हिन्दी की एक सशक्त कृति है, जिसका रचना काल सवत १७५४ है। इसी तरह बुलाखीचन्द का वचनकोष अपने ढग की एक अनूठी कृति है।

१९वी शताब्दि मे पद्य के स्थान पर गद्य लेखक अधिक सख्या मे हुए। तथा आगरा का स्थान जयपुर ने ले लिया। सांगानेर, आमेर एव जयपुर जैन लेखको के केन्द्र बन गये। हिन्दी गद्य लेखको मे प० दीपचन्द कासलीवाल, प० दोलतराम कासलीवाल, प० टोडरमल, प० जयचन्द छाबडा, ऋषभदास निगोत्या, केशरी सिंह आदि के नाम विशेषत: उल्लेखनीय है। ये सब ढुढारी भाषा के विद्वान थे और इनकी रचनाओ ने उस समय जबरदस्त लोकप्रियता प्राप्त की थी।

वर्तमान शताब्दि मे शताधिक जैन विद्वान एव सन्त हिन्दी लेखन मे लगे हुए है तथा उपन्यास, कथा, कहानी काव्य रचना के साथ-साथ ग्रन्थो का समालोचनात्मक व अध्ययन प्रस्तुत कर रहे है। हिन्दी पत्र-पत्रिकाओं के माध्यम से हिन्दी प्रचार प्रसार मे सहायक बन हुए है। जैन सन्तो मे आचार्य तुलसी, आचार्य विद्यानन्द, आचार्य विद्यासागर, नथमलजी, मुनि नगराज आदि के नाम

(शेष पृ० १२ पर)

आवली काल तक अनन्तानुबन्धी

□ श्री जवाहरलाल जैन शास्त्री, भीण्डर

(i) आचार्य नेमिचन्द्र सिद्धान्त चक्रवर्ती लिखते हैं :

अणसजोदिदसम्मे मिच्छ पत्ते ण आवलि त्ति अण ।

[गो० क० गा० ४७८]

अर्थ—अनन्तनुबन्धी का विसंयोजन करने वाले क्षयोपशम सम्यग्दृष्टि के मिथ्यात्व-कर्मोदय से मिथ्यात्व गुणस्थान को प्राप्त होने पर आवली मात्र काल तक अनन्तानुबन्धी कषाय का उदय नही होता ।

[स्व० प० मनोहरलाल सि० शा०]

(ii) इसी प्रकृत गाथार्ध के अर्थ को सिद्धान्त शिरोमणि स्व० ब्र० रतनचन्द मुख्तार लिखते है —अनन्तानुबधी कषाय का जिसके विसयोजन हो गया है ऐसे वेदक या उपशम सम्यग्दृष्टि के मिथ्यात्व कर्म के उदय से मिथ्यात्व गुणस्थान होता है । उसके बन्धावली या अचलावली काल पर्यन्त अनन्तानुबन्धी का उदय नही होता ।

[गो० क० पृ० ४८८ पूज्य आ० आदिमती जी]

(iii) भगवद् वीरसेनस्वामी धवल पु० ८ पृ० २५ मे लिखते है – मिच्छाइट्ठिसु जहण्णेण दस पच्चया । पचसु मिच्छत्तेसु एक्को । एक्केण इदिएण एक्क ाय विराहेदि त्ति दोण्णि असजमपच्चया । अणताणुबधिचउक्क विसजोइय मिच्छत्त गयस्स आवलियमेत्तकालमणंताणुबधिचउक्कस्सुदयाभावादो । बारसमु कषायेसु तिण्णि कसायपच्चया । तिसु वेदेसु एक्को । हस्स रदि-अरदि-सोग दोसु जुगलेसु एक्कदर जुगल । दससु जोगेसु एक्को जोगो । एवमेद सव्वे वि जहण्णेण दस पच्चया ।

अर्थ—पाच मिथ्यात्वो मे से एक १ । एक इन्द्रिय से जघन्य से एक काय की विराधना करता है । २ । इस तरह दो असयम प्रत्यय । अनन्तानुबन्धिचतुष्टय का विसयोजन करके मिथ्यात्व को प्राप्त हुए जीव के आवली मात्र काल तक अनन्तानुबंधी कषाय ४ का उदय नही रहने से बारह कषायो मे से ३ कषाय प्रत्यय ३ । तीन वेदों मे से एक १ । हास्य-रति व अरति-शोक; इन दो युगलों मे से एक युगल २ । दस योगो में से एक योग १ । कुल १+२+३+१+२++१=१० प्रत्यय । इस प्रकार ये सब मिल कर मिथ्यात्व गुणस्थान में एक समय मे दस बन्ध के प्रत्यय अर्थात् कारण होते हैं ।

(iv) ज्ञानपीठ से प्रकाशित पचसंग्रह के सप्ततिका प्रकरण मे गा० ३६ में पृ० ३२५ पर लिखा है—

द्वाविंशतिबन्धके मिथ्यदृष्टिजीवे उत्कृष्टतो दशमोहप्रकृत्युदया १० ···द्वाविंशतिबन्धकेऽनन्तनुबन्ध्युदयरहिते मिथ्यादृष्टौ २२, नयप्रकृत्युदयाः ।

अर्थ—बाईस प्रकृति का बन्ध करने वाले मिथ्यादृष्टि के सभी सम्भव प्रकृतियो का उदय हो तो १० प्रकृतिक उदयस्थान होगा । यदि विसयोजन के हो जाने से अनतानुबन्धी का उदय नही है तो ९ प्रकृतिक उदय स्थान भी सम्भव है ।

(v) प्राचीन पचसग्रह [ज्ञानपीठ], सप्ततिका, गा० ३०५, पृ० ४३८-३९ पर लिखा है—

आवलियमित्तकाल मिच्छत्त दसणाहिसपत्तो ।
मोहम्मि य अणहीणो, पढमे पुण णवोदओ होज्ज ।।

टीका—अनन्तानुबन्धि विसयोजित वेदक सम्यग्दृष्टो मिथ्यात्वकर्मोदयात् मिथ्यात्वगुणस्थान प्राप्ते आवलिमात्र कालं अनन्तानुबन्ध्युदयो नास्ति । अतो अनन्तानुबन्धिरहितो नवप्रकृतीनामुदयो ९ मिथ्यादृष्टौ प्रथमे गुणस्थाने भवेत् ।

अर्थ—अनन्तानुबन्धी की विसयोजना युक्त सम्यग्दृष्टि जीव यदि मिथ्यात्व कर्म के उदय से मिथ्यात्व गुणस्थान को प्राप्त हो जावे, तो एक आवली काल तक उसके अनन्तानुबन्धी कषाय का उदय सम्भव नही है । अतएव मिथ्यात्व गुणस्थान में नौ प्रकृतिक उदयस्थान भी होता

है। [अनुवाद पं० हीरालाल सि० शास्त्री सा०]

(vi) उसी ग्रन्थ मे सप्ततिका गा० ३२९ में कहा है—

मिच्छाइट्ठिस्सोदयभंगा अट्ठेव होंति जिण भणिया ॥

अर्थ—मिथ्यादृष्टि के अनन्तानुबन्धी के उदय सहित १० आदि ४ स्थान [१०, ९, ८, ७] और अनन्तानुबन्धी के उदय रहित वाले ४ स्थान [९, ८, ७, ६]; इस प्रकार ८ उदयस्थान जिनेन्द्र भगवान ने कहे है।

(vii) जयधवल पु० १० पृ० ११६-१७ पर जिनसेनस्वामी लिखते हैं कि—

अणंताणुबंधिणो विसजोइय इगिवीसपवेसय भावेणावट्ठिदस्स उवसमसम्माइट्ठिस्स मिच्छत्त-वेदयसम्मत्त-सम्मामिच्छत्तसासणसम्मत्ताणमण्णदरगुणपडिवत्तिपढमसमए पयदट्ठाण-सभवणियमदसणादो।

अर्थ—अनन्तानुबन्धी की विसंयोजना कर इक्कीस प्रकृतियो के प्रवेशक भाव से अवस्थित उपशम सम्यग्दृष्टि जीव के मिथ्यात्व वेदकसम्यक्त्व, सम्यग्मिथ्यात्व और सासादन सम्यक्त्व; इनमें से किसी एक गुणस्थान को प्राप्त होने के प्रथम समय मे प्रकृत स्थान के सम्भव होने का नियम देखा जाता है।

विशेषार्थ—जिस उपशम सम्यग्दृष्टि ने अनन्तानुबन्धी कषाय की विसंयोजना की है वह जब मिथ्यात्व प्रकृति के अपकर्षण द्वारा उदीरणा करके मिथ्यात्व भाव का अनुभव करता है तब उसके प्रथम समय मे अनन्तानुबन्धी ४ का बन्ध भी होता है और अप्रत्याख्यानावरणादि रूप द्रव्य को अनन्तानुबन्धी रूप से संक्रान्त कर उसका उदयावली से बाहर निक्षेप भी करता है। किन्तु उस समय अनन्तानुबन्धी ४ का उदयावली मे प्रवेश नही होता, इसलिए ऐसा मिथ्यादृष्टि जीव प्रथम समय मे २२ प्रकृतियो का ही उदयावली में प्रवेशक (प्रवेश कराने वाला) होता है। अर्थात् विसयोजक के मिथ्यात्वी होने पर उस जीव के प्रथम समय में तो अनन्तानुबन्धी की उदीरणा तो अति दूर रहो, उसका उदय भी दूर रहो; अरे! उस समय मे तो उस अनन्तानुबन्धी-चतुष्क के द्रव्य का एक परिमाणु भी उदयावली मे प्रवेश ही नही करता। फिर उस समय उसका उदय कैसे बनेगा? यह स्थिति प्रथम समय की है उदीयमान प्रथम निषेक से लेकर एक आवली (उदयावली) पर्यन्त के निषेकों की लड़ी में अनन्तानुबन्धी का एक परमाणु भी नही है। आवलीकाल के बीत जाने पर उदय-उदीरणा सम्भव है। क्योकि उस समय, प्रथम समयवर्ती मिथ्यात्वी के जो उदयावली से ऊपर द्वितीयावली का प्रथम अनन्तनुबन्धी-निषेक था वह आवली काल बाद उदय-समय [उदय-क्षण] को प्राप्त होता है। उसी समय अनन्तानुबन्धी के उदय का प्रथम समय होने से उसी समय उदयावली-बाह्य स्थित इस अनन्तानुबन्धी की उदीरणा भी प्रारम्भ होती है।

(i) इन सब प्रमाणो से निम्न बातें फलित होती हैं—

(A) यह सर्वाचार्य सम्मत बात है कि विसयोजक के मिथ्यात्व मे जाने पर उसके बन्धावली काल तक अनन्तानुबन्धी का उदय नही रहता। न तो तत्काल बद्ध अनन्तानुबन्धी का ही प्रथमादि समयों में उदय सम्भव है, और न उतने काल तक अनन्तानुबन्धी रूप परिणत द्रव्य का भी उदय सम्भव है। अर्थात् उस एक आवली काल अनन्तानुबन्धी ४ के एक परमाणु का भी उदय पूर्णतः असम्भव है।

(B) यदि यह कहा जाय कि एक आवली काल तक उदीरणा ही असम्भव है, उदय असम्भव नही। तो इसके उत्तर मे विनीत निवेदन है विसयोजक के मिथ्यात्व मे आने पर प्रथम आवली काल में अनन्तानुबन्धी का उदय नही होता [धवल पु० १५ पृ० २८९ पं० ४-५, धवल १५ पृ० ८१ से ९७ आदि] तथा उदीरणा भी नही होती। [जयधवल पु० १० पृ० ५४, धवल पु० १५ पृ० ७५ आदि]।

फिर एक बात और :

इकतालीस प्रकृतियो [दो वेदनीय, मनुष्यगति, पंचेन्द्रिय जाति, सुभग, त्रस, बादर, पर्याप्त, आदेय, यशःकीर्ति, तीर्थंकर, उच्चगोत्र, ५ ज्ञानावरण, ४ दर्शनावरण, ५ अन्तराय, ४ आयु, ५ निद्रा, मिथ्यात्व, सम्यक्त्व, तीनों वेद, सज्वलन लोभ]के ही उदय व उदीरणा के स्वामित्व में भेद है। इन ४१ के सिवाय शेष बची १०७ प्रकृतियो

के उदय के स्वामियो से उदीरणा के स्वामियो में अश भर भी भेद नहीं है।

प्रमाण—पंचसंग्रह [ज्ञानपीठ] पृ०५१६–५२२ प्रकरण ५। ७३—७५, गोम्मटसार क० २७८—८१; कर्मस्तव ३६–४३, संस्कृत पचसंग्रह ३। ५६ से ६०; सर्वार्थसिद्धि [ज्ञानपीठ] पृ० ३४६—४७, राजवार्तिक भाग २ पृ० ७६३–६४ तथा घवला जी पु० १५ पृ० ५४ से ६१ आदि।

अत: इस सर्वागम सम्मत बात से यह काच के माफिक स्पष्ट है कि अनन्तानुबन्धी का जब-जब उदय होता है तब-तब नियम से उदीरणा भी उसकी होती है। यह निष्कर्ष ध्रुव सत्य है। क्योकि अनन्तानुवन्धी, ४१ अपवाद प्रकृतियों मे परिगणित नही है।

पारिशेष न्याय से प्रथम आवली काल तक उदय व उदीरणा दोनो नही बनते है।

(C) आवली काल तक ऐसे मिथ्यात्वी के अनन्तानुबन्धी का बन्ध मिथ्यात्व-निमित्तक [मिथ्यात्व-हेतुक] ही होता है। प्रपञ्चतः ऐसा समझना चाहिए कि मिथ्यात्व, कषाय व योग [कषाय मे अविरति व प्रमाद गर्भित है] हेतुक बन्ध उस आवली काल मे होता है। जबकि सासादन गुणस्थान मे ६ आवली काल तक अनन्तानुबन्धी उदित रह कर भी वहाँ एक समय के लिए भी वह मिथ्यात्व को नही बाँध सकती।

सारत: जहा मिथ्यात्व रूप आधार है वहा अनन्तानुबन्धी का बंध निश्चित होता है। पर जहां (सासादन) में अनन्तानुबन्धी है वहा पर मिथ्यात्व के बन्ध का नियम नही बनाया जा सकता।

यदि इतनी सब कथनी भी ध्यान मे नही रख कर पुनरपि तर्क किया जाय कि अनन्तानुबन्धी विसंयोजित करने वाले के मिथ्यात्व मे आने पर अनन्तानुवन्धी का उदय, यानी उसका अनुभाग-उदय सबसे जघन्य होता है। अतएव उसे अनुदय तुल्य होने से 'अनुदय' कहा जाता है। तो इसका उत्तर यह है कि :—

(i) प्रथम तो आगम मे उक्त प्रथम आवलिकालवर्ती मिथ्यात्वी के अनन्तानुबन्धी के प्रकृति, स्थिति, अनुभाग व प्रदेश का पूर्णत. अनुदय ही कहा है। इसलिए उक्त तर्क ठीक नही है।

(ii) दूसरा यह भी निवेदन है कि जयधवल पु० ५ पृ० १८२ पर जो अनन्तानुबन्धी के जघन्य अनुभाग के स्वामित्व का कथन किया है वह मात्र अनुभाग सत्त्व के स्वामियो का कथन है, अनुभाग उदय के स्वामियो का कथन नही है। इसके लिए हम मूल आगम ही लिखते है। यथा :—अणताणुबधीण जहण्णयमणुभागसतकम्म कस्स ? सुगम। पढमसमयसजुतस्स। सुहुमेइंदिएसे जहण्णसामित्त किण्ण दिण्ण ? ण, पढमसमयसंजुतस्स पचग्गाणुबध पेक्खिदूण सुहुमणिगोदजहण्णाणुभागसत—कम्मस्स अणतगुणत्तादो। (ज० ध० ५।१६६—६७)।

अर्थ—"अनन्तानुबन्धी" ४ का जघन्य अनुभाग सत्कर्म किसके होता है ? यह सूत्र सुगम है। प्रथमसमयवर्ती संयुक्त के होता है।

शंका—सूक्ष्म एकेन्द्रियो मे जघन्य अनुभाग सत्त्व का स्वामिपना क्यों नही दिया ?

समाधान—नही, क्योकि प्रथम समय मे अनन्तानुबधी से सयुक्त हुए जीव के जो नवीन अनुभाग बन्ध होता है उसे देखते हुए सूक्ष्म निगोद जीव का जघन्य अनुभागसत्त्व अनन्तगुणा है।"

नोट—अत्यन्त स्पष्ट है कि यहा उदय का प्रकरण नही है, मात्र सत्त्व का प्रकरण है। फिर उसे उदय मे घटाना कहां का न्याय है ?

["यहा सत्व का प्रकरण है।" देखे जयधवल पु० ५ के पृ. १६३ व १६७-६८ के विशेषार्थ]।

(iii) तीसरी मुख्य व ध्यातव्य बात यह है कि यदि अनुभाग की जघन्य उदयरूप अवस्था को यदि अनुदय माना एवं कहा जाता तो :—"ससार मे मिथ्यात्व का जघन्य अनुभाग सत्त्व (सत्कर्म) सूक्ष्मनिगोद अपर्याप्त के ही होता है।" —ऐसा कहा गया है।'

दर्शनमोह की क्षपणा के लिए उद्यत वेदकसम्यक्त्वी के योग्य काल मे जो तत्प्रायोग्य अल्पतम अनुभाग होता है, उसे भी आगम में जघन्यता नही बताई। अपितु सूक्ष्मनिगोद अपर्याप्त के ही मिथ्यात्व का सर्वजघन्य अनुभाग-

सत्त्व का स्वामित्व बताया। तो क्या जघन्य अनुभाग सत्त्व होने मात्र से किसी भी कर्म सिद्धान्त के ग्रन्थ मे उक्त सूक्ष्म-निगोद-अपर्याप्त को अमिथ्यात्वी कहा है क्या? नहीं। तो फिर आगमकार जघन्य अनुभाग युक्त अनन्तानुबन्धी के सत्त्व के स्वामी जीव के यदि जघन्य भी उदय होता तो अवश्य ही उसे जघन्य उदय वाला कहते; "अनुदय" वाला नही। हम अन्य उदाहरण से और भी स्पष्ट करते है :—

जयधवला पु. ५ पृ. १५, ३० तथा पृ. २५६ तथा गो. क. गाथा १७० के अनुसार लोभ का जघन्य अनुभाग सत्त्व दसवे गुणस्थान के चरम समय मे होता है तथा इसी समय लोभ का जघन्य अनुभाग उदय है। इस समय स्थिति सत्ता एक समय प्रमाण ही है तब यहां एक स्थिति मे स्थित जो अनुभाग है वह 'जघन्य उदय' व्यपदेश को प्राप्त है। अर्थात् चरमसमयी सूक्ष्मसाम्परायिक क्षपक के लोभ का जघन्य अनुभागोदय है [धवला पु. १५।२६६, १८४ आदि]। फिर ऐसी जघन्य कषायानुभाग के उदय को भी अनुदय नही कहा। सब कर्म शास्त्रों मे उदय ही कहा है तथा प्रत्यय मे भी गिनाया है [देखे धवल ८।२७] इसे दसम गुणस्थान मे अप्रत्यय नही कहा। दसवे गुणस्थान के अनन्त समय में सज्वलन लोभ का उदय समस्त सिद्धान्त शास्त्रों मे कहा है। कही भी ऐसा नही कहा कि दसवे गुणस्थान के अन्तिम समय मे लोभ का अनुदय है। यदि उस समय लोभ का अनुदय माना जाय तो चरमसमयवर्ती सूक्ष्मसाम्पराय के परिणाम तथा उपशान्त कषाय वीतरागछद्मस्थ अथवा केवली के परिणाम समान मानने पड़ेगे। अथवा यो कहे कि चरमसमयवर्ती सूक्ष्मसाम्पराय, सूक्ष्मसाम्पराय ही नही कहला कर क्षीणकषाय अथवा उपशान्तकषाय कहलायगा, जो कि किसी को भी इष्ट नही है। अत: यद्यपि दसवें गुणस्थान के चरम समय मे संज्वलन लोभ का जघन्य अनुभाग उदय है तथापि दिगम्बर कर्म ग्रन्थों में उस चरम समय मे उदय ही कहा है, अनुदय नही कहा है तथा चरम समय तक सज्वलन लोभ रूप कषायप्रत्यय सब शास्त्रो में गिना है। कहीं भी दसवें गुणस्थान में कषाय प्रत्यय को कम नही किया। दसवें गुणस्थान मे यदि चरम समय मे जघन्य अनुभाग उदय के कारण उसका अनुदय कहते या मानते तो चरम समय की अपेक्षा वहा एक मात्र योग प्रत्यय ही रहता। इस तरह दसवे गुणस्थान में उत्कृष्टतः दो प्रत्यय [सज्वलन लोभ व योग। दसम गुणस्थान के प्रथमादि द्विचरम समय तक की अपेक्षा] तथा जघन्यः [सूक्ष्मसाम्पराय के चरम समय की अपेक्षा] एक प्रत्यय [मात्र योग रूप]; ऐसे दो स्थान [१;२ प्रत्यय रूप] बन जाते। परन्तु कर्म शास्त्रो मे दसम गुणस्थान मे सर्वत्र जघन्यादि भेद बिना दो प्रत्ययों का एक ही स्थान बताया है [देखे गो. क. पृ. ७२१ आर्यिका आदिमती जी स० रतनचन्द मुख्तार; धवल पु. ८ पृ. २७ अभिनव सस्करण, प्राकृत पंचसग्रह। शतक। गाथा २०३ व टीका पृ. १६७। सस्कृत पचसग्रह ४।६८-६६ आदि]।

इसी से अत्यन्त स्पष्ट सिद्ध है कि सूक्ष्मसाम्पराय के चरम समय में सर्व जघन्य स० लोभ का अनुभाग उदय भी "उदय" कहा व माना गया है, सर्वत्र। फिर सज्वलन लोभ के जघन्य अनुभाग सत्त्व से जिसका जघन्य अनुभाग सत्त्व अनन्तगुणा है ऐसी अनन्तानुबन्धी कषाय के अनुभाग उदय को अनुदय कैसे कहा जा सकता है?

वास्तव मे तो उस मिथ्यात्वी के प्रथम आवली में अनन्तानुबन्धी का पूर्णतः अनुदय है इसलिए अनुदय कहा है। यदि ईषद् अनुभाग उदय की अपेक्षा "अनुदय" कहा है, ऐसा तर्क दिया जाय तो वह निष्टीक [गतिरहित तथा निराधार अनागम-विहित] होगा, क्योकि अनन्तानुबन्धी के जघन्य अनुभाग सत्त्व से भी अनन्तगुणोहीन अनुभागसत्त्व वाले संज्वलन लोभ के उदय को भी चरमसमयी सूक्ष्मसाम्पराय मे "उदय" ही कहा। फिर इस अनन्तानुबन्धी का यदि वास्तव मे प्रथम आवलिवर्ती मिथ्यात्वी के उदय होता तो निश्चित ही उदय कहते। क्योकि इस ईषद् अनुभाग सत्व से अनन्तगुणे हीन अनुभाग के सत्त्व व उदय को भी आचार्यों ने स्पष्टत: उदय कहा; अनुदय नही कहा। कहा भी है—सव्वमदाणुभागं लोभसजलणस्स अणुभागसतकम्मं ……………अणंताणुबंधिमाणजहण्णाणुभागो अणंतगुणो ………[जयधवल पु. ५ पृ. २५६-२६४]।

अर्थ—सज्वलन लोभ का जघन्य अनुभागसत्त्व [जो कि सूक्ष्मसाम्पराय चरमसमयवर्ती के होता है सबसे मन्द

अनुभाग वाला है।…………उससे अनन्तानुबन्धी ४ कषायों का जघन्य अनुभाग सत्त्व [जो कि प्रथम समय सयुक्त मिथ्यात्वी के सत्त्व मे प्राप्त होता है] अनन्तगुणा है।

[यतिवृषभाचार्य कृत चूर्णिसूत्र]

इस प्रकार चरमसमयी सूक्ष्मसाम्पराय के उदय को स्पष्टतः उदय कहने वाले आचार्य, इससे अनन्तगुणे अनुभाग-अविभाग प्रतिच्छेदो युक्त अनुभाग [यानी अनन्तानुबन्धी के जघन्य अनुभाग] । रूप उदय को आचार्य कैसे उदय नही कहेगे ? अपितु अवश्य कहेगे। परन्तु प्रथम-आवली-कालवर्ती संयुक्त मिथ्यात्वी के अनन्तानुबन्धी उदित है ही नही, इसीलिए आचार्यश्री ने अनुदय कहा है। और तो क्या कहे, कर्म शास्त्र मे किसी भी मोह प्रकृति के जघन्य अनुभाग उदय को उदय ही कहा गया है; अनुभाग की जघन्यता के कारण अनुदय नही। करणानुयोग मे स्पष्टतः सूक्ष्म विवेचन होना अत्यन्त स्वाभाविक है। प्रथमानुयोग या चरणानुयोग अथवा द्रव्यानुयोग से भी सूक्ष्म विषयों को यह स्पष्ट खोलता है। (मोक्षमार्ग प्रकाशक आठवां अधिकार पृ. ४१९-२०) सस्ती ग्रन्थमाला कमेटी धर्मपुरा, दिल्ली।

सारतः—"विसयोजक के सीधे मिथ्यात्व मे आने पर आवली काल तक अनन्तानुबन्धी का कथमपि, त्रिकाल भी, क्वचित् भी, कथचित् भी, किंचित् भी उदय सम्भव नही। तथा दूसरी बात यह कि अनन्तानुबन्धी के उदय व उदीरणा सदा साथ-साथ ही होते है।"

धवल, जयधवल आदि सकल ग्रन्थ इस निर्णय के साक्षी है। **(प्रेषक—रतनलाल कटारिया, केकड़ी)**

(पृष्ठ ७ का शेषांश)

उल्लेखनीय है। उपन्यास लेखक वीरेन्द्र कुमार जैन का तीर्थंकर महावीर २०वी शताब्दि का उत्कृष्ट गद्य काव्य है। दार्शनिक कृतियो मे डा० दरबारीलाल कोठिया का जैन दर्शन परिशीलन एव पं० कैलाशचन्द शास्त्री का जैन न्याय ख्याति प्राप्त रचनाये हैं।

□□

सन्दर्भ-सूची

१. जिणदत्त चरित-राजसिंह विरचित, सम्पादन—डा० माताप्रसाद गुप्त एवं डा० कस्तुरचन्द कासलीवाल साहित्य शोध विभाग जयपुर की से प्रकाशित।

२. राजस्थान के जैन शास्त्र भण्डारो की ग्रथ सूची चतुर्थ भाग प्रस्तावना—डा० वासुदेवशरण अग्रवाल। साहित्य शोध विभाग जयपुर द्वारा प्रकाशित।

३. प्रद्युम्न चरित—संपादक विरचित—सवादक प० चैनसुखदास एव डा० कस्तूरचन्द कासलीवाल। प्रकाशक—साहित्य शोध विभाग, जयपुर।

४. महाकवि ब्रह्म जिनदास—व्यक्ति एव कृतित्व—ले० डा. प्रेमचन्द राव प्रकाशन—श्री महावीर अकादमी जयपुर।

५. कविबर बूचराज एव उनके समकालीन कवि—सपादन डा. कस्तूरचंद कासलीवाल प्रकाशक—श्री महावीर ग्रन्थ अकादमी जयपुर।

६. मरू भारती पिलानी वर्ष १५ अंक-पृष्ठ—९।

७. सूरपूर्व ब्रजभाषा और उसका साहित्य—पृ० ३०७।

८. आचार्य सोमकीर्ति एवं ब्रह्म यशोधर—सपादक डा० कस्तूरचद कासलीवाल प्रकाशक—श्री महावीर ग्रथ अकादमी जयपुर।

९. महाकवि ब्रह्म रायमल्ल एवं भट्टारक त्रिभुवन कीर्ति—सपादक डा. कस्तुरचद कासलीवाल, प्रकाशक श्री महावीर ग्रन्थ अकादमी जयपुर।

१०. भट्टारक रत्नकीर्ति एव कुमुदचन्द, संपादक—डा० कस्तूरचन्द कासलीवाल, प्रकाशक—श्री महावीर ग्रन्थ अकादमी जयपुर।

११. बाई अजीतमति एवं उनके समकालीन कवि, सपादक डा. कस्तूरचद कासलीवाल, प्रकाशक—श्री महावीर ग्रन्थ अकादमी जयपुर।

भाषा बदलाव का क्या मूल्य चुकाना पड़ेगा ?

□ पद्मचन्द्र शास्त्री, संपादक 'अनेकान्त'

ऐतिहासिक दृष्टि से भाषा-शास्त्रियों ने प्राकृत भाषाओं के विकास काल को ईसापूर्व प्रथम शताब्दी (जो कुन्दकुन्द का काल है) को स्थिर किया है। उक्त काल मे त् और थ् मे परिवर्तन होते होते प्रथम तो वे (क्रमशः) द् और ध् हुए, फिर क्रमशः द् का लोप हो गया और ध् के स्थान मे ह् का प्रयोग होने लगा—ऐसी स्वीकृति समयसार (कुदकुद भारती) सम्पादक द्वारा लिखित प्राक्कथन (मुन्नुडि) मे है और उन्होने समयसार मे थ् के ध् और ह् मे परिवर्तित दोनों रूपो के मिलने की पुष्टि भी गाथा ६८ और २३६ के द्वारा की है। पर, वे द् के लोप की स्वीकृति के बाद उसके लोप की पुष्टि मे उदाहरण देने से चूक गए। जब कि समयसार तथा प्राकृत के दि० आगमों मे द् लोप और अलोप दोनो भांति के शब्दो (रूपो) की बहुलता है) फलतः—उन्होने होदि से होइ रूप में परिवर्तित (द् के लोप जैसे) रूपो का कोई उदाहरण प्रस्तुत नही किया। शायद इसमे कारण यही हो कि उन्हें भाषा-विकास काल मे द् का लोप स्वीकार करने पर भी "दस्तस्य शौरसेन्यामखावचोऽस्तोः" जैसे शौरसेनी के नियम में बँधे—द् के अस्तित्व रूप मोह को छोड़ना श्रेयस्कर न जँचा हो क्योंकि वे शौरसेनी और जैन शौरसेनी को एक मान बैठे है। फलतः उन्हें इस बात का भी ध्यान न आया कि वे (डा० ए. एन. उपाध्ये और डा० हीरालाल जैन की भांति) यह भी स्वीकार कर बैठे हैं कि "जैन शौरसेनी मे महाराष्ट्री और अर्धमागधी के अनेक शब्द मिलते हैं"—(मुन्नुडि पृ. ६) उक्त सपादक अपने को प्राकृत भाषा के प्रारम्भिक और क्रमबद्ध विकास के ज्ञाता भी मानते हैं। (जैन प्रचारक नवम्बर ८८)

जो सम्पादक महोदय कुन्दकुन्द के समय की सिद्धि में डा० ए. एन. उपाध्ये के कथन को प्रमाण मान रहे हैं वे ही जैन-शौरसेनी के रूप के सम्बन्ध मे (अपनी प्रवृत्ति से) उन्हें झुठला रहे हैं—उनके कथन की अवहेलना कर रहे हैं। उपाध्ये का स्पष्ट कथन है—"In his observation on the Digamber texts Dr. Dencke discusses various paint above some Digamber Prakrit works. He remarks that the Language of there works is influened by Ardhamagdhi, Jain Maharashtri which approaches it and Shaurseni

—Dr. A. N. Upadhye.

(Introduction Pravachansar P. 116)

उक्त कथन के अनुसार दि० आगमो मे होइ, होदि, हवदि, हवइ जैसे सभी शब्द रूप मिलते है और लोए लोगे आदि भी मिलते है तब उनमे एक शुद्ध शब्द को बदलकर दूसरा शब्द रखने की क्या आवश्यकता थी? क्या इससे भाषा की व्यापकता नष्ट नही होती?

हाल ही मे आ० श्री विद्यानन्द जी के सम्प्रेरकत्व में उदयपुर से प्रकाशित 'शौरसेनी प्राकृत व्याकरण' जो कुंदकुद भारती दिल्ली से भी प्राप्य है, मे लिखा है—

"प्राकृत शब्द का अर्थ है—लोगो का **व्याकरण आदि के संस्कारों से रहित स्वाभाविक वचन व्यापार।** उस वचन व्यापार से उत्पन्न अथवा वही वचन-प्रयोग ही प्राकृत भाषा है। इस लोक प्रचलित प्राकृत-भाषा को भगवान महावीर और बुद्ध जैसे क्रान्तिकारी महापुरुषों ने अपने विचारो के सम्प्रेषण की भाषा स्वीकार की थी।" ......"आज कोई भी ऐसी प्राकृत नही है, जिसमें अपनी समकालीन अन्य प्राकृतों का मिश्रण न हुआ हो''''...।"

इसमे यह भी लिखा है—'......और न ही शौरसेनी के सिद्धान्त ग्रन्थों अथवा नाटकों की शौरसेनी की भाषा के सम्पादन कार्य मे मनमाने पाठ देने चाहिए। सम्पादन-कार्य की जो पद्धति है एवं प्राचीन पाण्डुलिपियों में जो

पाठ स्वीकृत हैं, उपलब्ध हैं। उनके अनुसार ही इन ग्रंथों का सम्पादन होना चाहिए; सिद्धान्त मोह या सम्पादन मोह के कारण नहीं।"—हमारी दृष्टि से तो समयसारादि के शुद्धिकर्ता (?) उक्त व्याकरण ग्रन्थ को अवश्य ही प्राकृत भाषा के प्रारम्भिक और क्रमबद्ध ज्ञाताओं द्वारा लिखा गया मानते होंगे ? ग्रन्थ को मुनिश्री का शुभाशीर्वाद भी प्राप्त है।

उक्त स्थिति मे भी यदि जैन आगमों की भाषा शौरसेनी है और उसे व्याकरण-सम्मत बनाने का प्रयास किया जा रहा है, तब संशोधित-समयसार की गाथाओं और उक्त व्याकरण पुस्तक मे उद्धृत पाठो में शब्दरूप-भेद क्यों ? अब तो बदलाव की उपस्थिति मे यह नया सन्देह भी हो रहा है कि उक्त व्याकरण-पुस्तक मे दिये गए समयसार के पाठ ठीक है या कुन्दकुन्द भारती द्वारा प्रकाशित (संशोधित) समयसार के पाठ ? यदि दोनो ही ठीक है तो बदलाव क्यो ? क्या व्याकरण पुस्तक गलत है ?

पाठकों की जानकारी के लिए दोनों ग्रन्थो के कुछ रूप नीचे दिए जा रहे है :-

व्याकरण का पृष्ठ	समयसार का गाथा क्रम	उक्त व्याकरण मे उद्धृत समयसार का शब्द रूप	समयसार (कुंदकुद भारती) में शब्द रूप
५५	२७	इक्को	एक्को
६१	५	चुक्किज्ज	चुक्केज्ज
३४	३४	मुणेयव्व	मुणेदव्वं
४	८२	एएण	एदेण
६३	९२	करितो	करतो
६१	९९	करिज्ज	करेंज्ज
६३	१५४	हेउ	हेदू
६४	१८७	रुंधिऊण	रुंधिदूण
४९	२०७	भणिज्ज	भणेज्ज
१	२६९	लोय-अलोय	लोग-अलोग
६५	२९६	घित्तव्वो	घेत्तव्वो
१	३०२	कुणइ	कुणदि
१	३०४	होइ	होदि
५५	३१५	विमुंचए	विमुचदे
४	२७३	मुणिऊण	मुणिदूण
६६	३७५-३८१	विणिग्गहिउं	विजिग्गहिदुं
६४	४०६	सक्कइ	सक्कदि
६४	४०६	घित्तुं	घेत्तुं
६२	४१५	ठाही	ठाहिदि
२	४१५	होही	होहिदि

इसके सिवाय इस व्याकरण मे एक-एक शब्द के अनेक रूप भी मिलते है, जिन्हें झुंठलाया नही जा सकता। तथाहि—

पृष्ठ १४ — लोओ, लोगो। पृ. ३६ लोअ।
पृष्ठ ८८, ९० — लोए
पृष्ठ २५, ९१, ८८ — पुग्गल। पृ. ३६ पोग्गल।
पृष्ठ ७७ — हवदि, हवेदि, हवइ, होदि। पृ. ८३, ९० होइ।
पृष्ठ ७७ — ठादि, ठाइ, ठवदि, ठवेदि।
पृष्ठ ६०, ७६ — भणदु, भणउ।
पृष्ठ ५५ — भणदि, भणइ, भणेदि, भणेइ।
पृष्ठ ६३ — गदो, गओ, गयो।
पृष्ठ ६३ — जादो, जाओ, जायो।
पृष्ठ ६४ — भणिऊण, भणिदूण।
पृष्ठ ९३ — जाण।

खेद तो तब होता है जब मीरा, तुलसी, सूर, कबीर जैसों की जन-भाषा मे निबद्ध रचनाओं को सभी लोग मान देने—उनके मूल रूपो को संरक्षण देने मे लगे हो, तब कुछ लोग हमारे महान् आचार्यों—कुन्दकुन्दादि द्वारा प्रयुक्त आगमो की व्याकरणातीत जन-भाषा को परवर्ती व्याकरण में बाँध आगम को विकृत, मलिन और सकुचित करने मे लगे हो। गोया प्रकारान्तर से वे भाषा को एकरूपता देने के बहाने—यह सिद्ध करना चाहते हों कि दीर्घकाल से चले आए भगवान महावीर व गणधर द्वारा उपदिष्ट और पूर्वाचार्यों द्वारा व्याकरणातीत जनभाषा मे निबद्ध धवला आदि जैसे आगम भी भाषा की दृष्टि से अशुद्ध रहे हैं और उन्हे शुद्ध करने के लिए शायद किन्ही नए गुणधर, कुंदकुंद, यतिवृषभ और वीरसेन जैसों ने अवतार ले लिया हो। जबकि जैनधर्म मे 'यदा यदाहि धर्मस्य ग्लानिर्भवति भारत' रूप अवतार सर्वथा निषिद्ध है। और जब जैन शौरसेनी का रूप जन-भाषा के रूप में पूर्व निर्णीत है—

"The Prakrit of the Sutras, The Gathas

as well as of the commentary, is Shaurseni influenced by the order Ardhamagdhi on the one hand and the Maharashtri on the other, and this is exatly the nature of the language called 'Jain Shaurseni."

—Dr. Heeralal

(Introduction to षट्खंडागम P IV)

हमारा अनरग कह रहा है कि स्वर्गो मे बैठे हमारे दिवंगत दिगम्बराचार्य उनकी व्याकरणातीत जनभाषा मे किए गए परिवर्तनो को बडे ध्यानपूर्वक देख रहे है और उन्हे सन्तोष है कि कोई उनकी ध्वनि-प्रतिकृतियो के सही रूप को बडी निष्ठा और लगन से निहार, उनकी सुरक्षा मे प्राण-पण से सलग्न हैं। भला, यह भी कहाँ तक उचित है कि शब्द-रूपों को बदल मे दिगम्बर-आगम-वचन तो गणधर और आचार्यों द्वारा परम्परित वाणी कहलाए जाते रहें और बदलाव-रहित दिगम्बरेतर आगमो के तद्रूप-वचन बाद के उद्भूत कहलाएँ ? हमे भाषा की दृष्टि से इस विन्दु को भी आगे लाकर विचारना होगा। भविष्य मे ऐसा न हो कि कभी दिगम्बर समाज को इस बदलाव का खमियाजा किसी बडी हानि के रूप मे भुगतना पड जाय ? ऐसा खमियाजा क्या हो सकता है, यह श्रद्धालुओं को विचारना है—वैज्ञानिक पद्धति के हामी कुछ प्राकृतज्ञ तो सही बात कहकर भी किन्ही मजबूरियों मे विवश जैसे दिखते है। और वे आर्ष-भाषा से उत्पन्न उस व्याकरण के आधार पर विद्वान बने है, जो बहुत बाद का है। और शौरसेनी आदि जैसे नामकरण आदि भी बहुत बाद (व्याकरण निर्माण के समय) की उपज है। क्योंकि जन-भाषा तो सदा ही सर्वांगीण रही है। जो प्राकृत में डिगरीधारी नही है और प्राकृत-भाषा के आगमो का चिरकाल से मन्थन करते रहे है—उन्हें भी इसे सोचना चाहिए—हमें अपनी कोई जिद नहीं। जैसा समझे लिख दिया—विचार देने का हमे अधिकार है। और आगम-रक्षा धर्म भी। हमारी समझ से बदलाव के लिए जो व्यय अभी रहा होगा; वह अत्यल्प होगा—उसका पूरा मूल्य तो भाषा-दृष्टि से आगम के अप्रमाणिक सिद्ध होने पर ही चुकता हो सकेगा।

—पडित प्रवर टोडरमल जी सा० प्रतिष्ठित ज्ञाता थे—उनके 'मोक्षमार्ग प्रकाशक' की पूर्ण ख्याति है। सम्पादक महोदय ने भी आचार्य कुन्दकुन्द की विदेह-गमन चर्चा के प्रसंग में उन्हे प्रामाणिक मानकर ही उनके मत का उल्लेख किया होगा। इन्ही प० टोडरमल जी ने 'मोक्षमार्ग प्रकाशक' मे दिगम्बर प्राकृत आगमों के गाथाओ के उद्धरण दिए है और उनमें लेइ, जाइ, अक्खेइ, थुणिऊण, हवइ, भणिऊण, भणइ और देइ जैसे दकारलोपी और लोओ जैसे ककार (गकार) लोपी शब्द मिलते हैं। क्या ये शब्दरूप, आगम मे अप्रमाण है ? जो इनको बदला जाय ? इसी मोक्षमार्ग प्रकाशक मे 'इक्क' शब्द का भी उद्धरण मिलता है। ऐसे मे भी यदि लोग दिगम्बर मूल आगमो की भाषा को बदल गई हुई मानते हैं; तो वे स्वय ही सिद्ध करते है कि उपलब्ध आगम परम्परित-आगम-वाणी नही है, अपितु बदली वाणी है, और बदली होने से उसकी प्रामाणिकता मे सन्देह है। क्या दिगम्बरो को ऐसा स्वीकार है ? हमारा कहना तो यही है कि हमारे आगमो मे व्याकरण की अपेक्षा किए बिना, जहाँ जो शब्दरूप मिलते है—भाषा की व्यापकता होने और अर्थ-भेद न होने से सभी प्रतियों मे वे ठीक है। क्योंकि बाद मे निर्मित हुए व्याकरण की उनमे गति नही। जबकि हमारे आगमो की भाषा (व्याकरणादि के सस्कारो से रहित) भगवान महावीर आदि की वाणी का स्वाभाविक वचन व्यापार है।

उक्त स्थिति के परिप्रेक्ष्य मे हमे सावधान रहने की जरूरत है। कही ऐसा न हो कि जिनवाणी भीड़ मे खो जाए ? और उसका क्रन्दन भी जयकारो की ध्वनि मे सुनाई ही न पड़े। क्योकि हमें भीड़ और जायकारे ही सबसे खतरनाक लगे जो धर्म को लुटवा रहे है—आत्म-चिन्तन मे बाधक हो रहे है। आशा है सोचेंगे तथा विद्वान् इस बदलाव को रुकवाएगे।

दरियागज, नई दिल्ली

आचार्य अमितगति : व्यक्तित्व और कृतित्व

□ कु० सुषमा जैन, सागर

सरस्वती देवी के साधक, आराधक, और उपासक आचार्य अमितगति ने अपनी तीक्ष्ण प्रज्ञा से मालव प्रदेश के परमार वंशी राजा मुंज की सभा को सुशोभित किया है। श्री अमितगति मात्र आचरण पक्ष के धनी नही थे, वरन् वे दार्शनिक महाकवि, अप्रतिम—चिंतक, धर्मतीर्थ प्रणेता, महान उपदेशक, आगम-ज्ञाता, वैयाकरणिक और समाज सुधारक भी है, इन्होंने दशमी शताब्दी में व्याप्त सामाजिक धार्मिक परिस्थितियो पर विजय प्राप्त करके युगानुरूप अपनी देशना से मानवमात्र को धर्मोन्मुख किया है।

आचार्य अमितगति गम्भीर प्रकृति के निरभिमानी, विवेकी, नि.स्पृही, आत्मानुभवी। स्व-पर कल्याण मे निरत रहे हैं। आचार्य जी की गम्भीर प्रकृति अग्रलिखित पद्य में अवलोकनीय हैं—

बिबुध्य ग्रह्णीय बुधा मनोदितं,
शुभाशुभ ज्ञास्यथ निश्चितं स्वयम्
निवेद्यमान शतशोऽपि जानते,
स्फुटं रस नानुभवन्ति न जन: ॥
(धर्मपरीक्षा, प्रशस्ति १५)

अर्थात्—हे विद्वज्जन ! मैंने जो यह कहा है उसे जानकर आप ग्रहण कर ले, ग्रहण कर लेने के पश्चात् उसकी श्रेष्ठता अथवा अश्रेष्ठता आप स्वय जान लेगे। जिस प्रकार मिश्री आदि वस्तु का रस बोध कराने पर मनुष्य सैकड़ों प्रकार से जान तो लेते है, परन्तु प्रत्यक्ष में उन्हें उसका अनुभव नही होता है—वह अनुभव ग्रहण करने पर ही होता है।

इसी प्रकार आचार्य की निरभिमानिता एव नि.स्पृहता निम्नलिखित पद्य मे निदर्शनीय है—

यद्रत्र सिद्धान्तविरोध भाषित,
विशोध्य सद्ग्राह्यमिम मनीषिभि:।
पलालमस्यस्य न सारकांक्षिभि:,
किमत्र शालि: परिग्रह्यते जनै: ॥
(अमितगति श्रावकाचार, प्रशस्ति ८)

अर्थात्—यदि इस ग्रन्थ मे कुछ सिद्धान्त-विरुद्ध कहा गया है, वह विद्वज्जनो को विशुद्ध करके ग्रहण करना चाहिए। जिस प्रकार धान्य को ग्रहण कहने के इच्छुक पुरुष लोक में क्या भूसा छोड़कर धान को ग्रहण नही करता हैं ? अत: छिल्का छोड़कर शालि ग्रहण करते है।

पूर्णत: आगमानुकूल ग्रन्थ-रचना के उपरान्त उपर्युक्त कथन आचार्य के व्यक्तित्व की महानता का परिचायक है।

कथनी, करनी और लेखनी से सुप्रभावक आचार्य अमितगति का जीवन साहित्य साधना के लिए समर्पित था, इन्होने अपनी परिष्कृत बौद्धिक प्रतिभा द्वारा विविध विषयो मे ग्रंथ प्रणयन किये हैं। जिसमे अज्ञानी जीवो को अज्ञान अन्धकार नाशक ज्ञान का स्वरूप और महत्ता का उपदेश, मात्र ज्ञान को सब कुछ मानने वालों को रत्नत्रय का निरूपण, विषय-भोगो में आसक्त मानवो को विषय-भोगो की अनासक्ति हेतु उसकी हेयता का प्रतिपादन, जातिगत अहकारी जीवों को उसकी नि:सारता का उपदेश तथा मात्र बाह्य आडम्बर में आसक्त मानवो को आध्यात्मिक अथवा आत्म आराधना की प्रेरणा पद-पद पर द्रष्टव्य है।

माथुर संघ के दिगम्बर जैनाचार्य अमितगति नैतिक नियमो, लोकबुद्धि से पूर्ण हितकर उपदेशों एव सारगर्भित बिवेचनों के निरूपण में विशेषत: सिद्धहस्त हैं। भोग-विलास और सांसारिक प्रलोभनों की निन्दा करने में वे अधिक वाक्पटु हैं। गृहस्थ और मुनियों के लिए आचार-शास्त्र के नियमानुसार जीवन के प्रधान लक्ष्य को प्रतिपादन करने का कोई भी अवसर वे हाथ से नहीं जाने

देते। अतः विषय को पृथक्-पृथक रूप से निबद्ध करने के लिए उन्होने निम्नलिखित मौलिक ग्रथों की रचना की है—

(१) सुभाषितरत्नसदोह,
(२) अमितगति श्रावकाचार,
(३) धर्मपरीक्षा,
(४) तत्त्वभावना,
(५) भावना द्वात्रिंशतिका (सामयिक पाठ),

इसके साथ ही आचार्य श्री ने अग्रलिखित ग्रथों को प्राकृत भाषा से सस्कृत भाषा मे रूपान्तरित किया है—

(१) पञ्चसंग्रह,
(२) मूलाराधना,

उपर्युक्त रचनाओं के अतिरिक्त वर्धमान-नीति, जम्बूद्वीप प्रज्ञप्ति, चन्द्र प्रज्ञप्ति, व्याख्या प्रज्ञप्ति एवं सार्द्धद्वय द्वीप प्रज्ञप्ति की रचना का श्रेय भी श्री अमितगति को दिया जाता है, परन्तु ये रचनायें अद्यावधि अनुपलब्ध है।

श्रुतपरम्परा के सारस्वत आचार्य अमितगति अपनी निरूपण कला मे पूर्ण कुशल है। विषय की सरल-सरस स्वाभाविक अभिव्यक्ति के लिए इनके साहित्य मे विविधता का दिग्दर्शन होता है। जिसमें भाषा, शैली, गुण, रीति, रस छन्द और अलकारों का वैविध्य मुख्य है।

विलक्षण प्रतिभा के धनी अमितगति का सस्कृत एवं प्राकृत भाषा पर असाधारण अधिकार है, जिसे इन्होने स्वय स्वीकार किया है। धर्म-परीक्षा नामक मौलिक ग्रथ-रचना मात्र दो मास और मूलाराधना नामक प्राकृत ग्रथ का सस्कृत रूपान्तरण चार मास की अल्पावधि मे ही पूर्ण किया है। आचार्य की समग्र मौलिक कृतियो की भाषा प्राञ्जल, ललित, सरस, विशुद्ध सस्कृत है। सस्कृत के साथ ही प्राकृत व्याकरण एव कोश पर भी इनका प्रकाम अधिकार है।

विषयानुरूप आचार्य ने अपनी कृतियो मे विविध शैलियों को प्रश्रय दिया है। जिसमे मुख्यत; शैलियां इस प्रकार है—माधुर्य और प्रसादगुण युक्त प्राञ्जल शैली, उपदेशात्मक शैली, तार्किक शैली, द्रष्टान्त शैली, व्यग्यात्मक शैली, प्रश्नोत्तर शैली, समाहार शैली, सर्जक शैली, आध्यात्मिक शैली, विवेचनात्मक शैली एव सामासिक शैली। पद्य के पूर्वार्द्ध में प्रश्न और उत्तर दोनों को सन्निविष्ट करके प्रश्नोत्तर शैली के सुन्दर निरूपण से आचार्य का कला-कौशल निदर्शित है—

किमिह परमसौख्यं निःस्पृहत्वं यदेतत्,
किमथ परम दुःखं सस्पृहत्वं यदेतत्।
इति मनसि विधाय त्यक्तसंगाः सदा ये,
विदधति जिनधर्मं ते नराः पुण्यवन्तः॥

(सुभाषितरत्नसदोह, १४)

अर्थात्—ससार मे उत्कृष्ट सुख क्या है? निःस्पृहता—विषयभोगों की अनिच्छा ही उत्कृष्ट सुख है। उत्कृष्ट दुःख क्या क्या है? सस्पृहता—विषयभोगाकांक्षा ही उत्कृष्ट दुःख है। इस प्रकार विचार करके जो भव्य जीव परिग्रह का त्याग करते हुए निरन्तर जिनधर्म की आराधना करते है, वे पुण्यशाली है।

महाकवि अमितगति के साहित्य मे माधुर्य और प्रसाद गुण का बाहुल्य है, परन्तु यथास्थान ओजगुण की भी सुदृढ़ स्थिति है। जिसके अनुरूप वैदर्भी, गौडी, लाटी एवं पाञ्चाली रीतियों का सन्निवेश है। विनोक्ति अलंकार से अलकृत प्रसाद गुण युक्त प्रस्तुत पद्य की मनोहरता निदर्शनीय है—

सस्यानि बीजं सलिलानि मेघ,
घृतानि दुग्धं कुसुमानि वृक्षं।
काङ्क्षत्यहान्येष बिना दिनेश,
धर्मं विना काङ्क्षति यः सुखानि॥

(अमितगति श्रावकाचार ६,२६)

अर्थात्—धर्म सेवन के बिना सुख की इच्छा करना; बीज के धान, मेघ के बिना जल, दूध के बिना घी, वृक्ष के बिना पुष्प, सूर्य के बिना दिन चाहने के समान मूर्खता है। अतः धर्म धारण करने पर ही सुखो की प्राप्ति संभव है।

छन्दोवैविध्य अमितगति की काव्यगत प्रधान विशेषता है। जिसमें मुख्यतः आर्या, अनुष्टुप्, विद्युन्माला, इन्द्रवज्रा, उपेन्द्रवज्रा, उपजाति, द्रुतविलम्बित, वशस्थविल, भुजंगप्रयात, वसन्ततिलक मालिनी, शिखरिणी, मन्दाक्रान्ता, शार्दूलविक्रीडित और स्रग्धरा जैसे प्रचलित छन्दो के साथ ही स्वागता, शालिनी, अनुकूला, दोधक, रथोद्धता तोटक

रुचिरा, प्रहरणकलिका, हरिणी, पृथ्वी एवं सरसी जैसे अप्रचलित छन्दों का भी विपुल प्रयोग है।

श्री अमितगति साहित्य के अध्ययन-अनुशीलन से प्रतीत होता है कि कवि ने जान-बूझकर अलंकारों का प्रयोग नहीं किया है, वरन् अलकारिक सौन्दर्य विषय की सहज अभिव्यक्ति मे स्वाभाविक रूप से अभिभूत है। उनकी रचनाओं में शब्दालंकार और अर्थालकार दोनो के लक्षण पर्याप्त मात्रा में घटित होते हैं, जिनमे अनुप्रास, यमक, श्लेष जैसे मुख्य शब्दालंकार और उपमा, मालोपमा उत्प्रेक्षा, समन्देह, रूपक, अतिशयोक्ति, दृष्टान्त, दीपक, अर्थान्तरन्यास, विरोधाभास, स्वभावोक्ति, व्याजस्तुति, सहोक्ति, विनोक्ति, परिसंख्या, व्यतिरेक, उत्तर, कारण-माला, काव्यलिग एव भ्रान्तिमान आदि अर्थालकारों की पुनरावृत्ति दर्शनीय है।

विद्याधर नरेश जितशत्रु के गुणो के वर्णन में परिसंख्या अलंकार का सौन्दर्य प्ररूपित है—

अन्धोऽन्यनारीरवलोकितुं यो,
न हृद्यरूपा जिननाथमूर्तिः।
निःशक्तिकः कर्तुमवद्यकृत्यं,
न धर्मकृत्यं शिवशर्मकारी।
(धर्मपरीक्षा, ६,३४)

अर्थात्—विद्याधर नरेश जितशत्रु यदि अन्धे थे तो परस्त्रियों को देखने में, न कि मनोहर आकृति को धारण करने वाली जिनेन्द्र प्रतिमाओं के दर्शन करने में। इसी प्रकार असमर्थ थे तो पापकार्यों को करने मे, न कि मोक्ष-सुख प्राप्त कराने वाले धर्मकार्यों में।

प्रकृति के सर्वथा अनुकूल तपस्वी आचार्य की लेखनी का चमत्कार शान्तरस की अतिशयता है, परन्तु काव्य में यत्र-तत्र विषयानुरूप द्विविध शृंगार, हास्य, करुण, रौद्र, वीर, वीभत्स एव अद्भुत रस की अनुभूति भी होती है। कवि द्वारा शृगार, हास्य, करुण आदि रसो का वर्णन प्रधान रूप से न होकर मात्र उपदेशात्मक शैली के माध्यम से इनकी हेयता के प्रतिपादन मे हुआ है। इस प्रकार भयानक रस के अतिरिक्त अष्ट रसों का अनुपमेय चित्रण पाठको अथवा श्रोताओ को स्थायी रसानुभूति की ओर प्रेरित करते हैं, षटरसों से परिपूर्ण व्यंजनो के रसास्वादन के क्षणिक आनन्द की भांति नही।

युगद्रष्टा श्री अमितगति का मात्र काव्यशास्त्रीय पक्ष ही प्रबल नही है। उन्होंने सैद्धान्तिक गूढ़ विषयों को भी अपने चिंतन द्वारा अल्प पद्यों में ग्रथित करके धारावाहिक शैली मे सुसज्जित किया है। जैन वाङ्मय के गूढ़तम सिद्धांत—कर्मसिद्धांत को भी प्रस्तुत मात्र दो पद्यो द्वारा प्रतिपादित किया है—

स्वयं कृतं कर्म यदात्मना पुरा,
फल तदीय लभते शुभाशुभम्।
परेण दत्तं यदि लभ्यते स्फुटं,
स्वय कृत कर्म निरर्थकं तदा॥
निजार्जितं कर्म विहाय देहिनो,
न कोऽपि कस्यापि ददाति किंचन।
विचारयन्नेवमनन्यमानसः,
परो ददातीति विमुञ्च शेमुषीम्॥

अर्थात्—अपने पूर्वोपार्जित कर्म ही प्राणियों को शुभ और अशुभ फल देते हैं, अन्य कोई नहीं। यदि अन्य कोई भी सुख-दुःख देने लगे तो अपने किए कर्म निष्फल ही ठहरेंगे; परन्तु ऐसा नहीं होता, जो कर्म कर्ता है वही फल भोगता है, यही सत्य है। ससारी प्राणियो को स्वय उपार्जित कर्मों के सिवाय अन्य कोई व्यक्ति किसी को कुछ भी नही देता। इस प्रकार विचार करके 'पर देता है' ऐसी बुद्धि का त्याग कर निज शुद्ध स्वरूप मे रमण करना चाहिए।

आचार्य अमितगति का साहित्य प्रायः उद्बोधन प्रधान है। जिसमे आचार्य श्री ने अपने उपदेशो को सुभाषितों के माध्यम से व्यंजित किया है। लौकिक और अलौकिक अभ्युदय के लिए धार्मिक, नैतिक और आध्यात्मिक सुभाषित पद्यों की कही-कही तो निर्झर के जलप्रवाह के समान झड़ी-सी लगाई है। जिनका अनुपम सौन्दर्य पद-पद पर द्रष्टव्य है। यथा—

संपन्नं धर्मतः सौख्यं निषेव्य धर्मरक्षया।
वृक्षतो हि फलं जातं भक्ष्यते वृक्षरक्षया॥

अर्थात्—प्राणियों को धर्म के निमित्त मे ही सुख प्राप्त हुआ है। अतएव उन्हें धर्म की रक्षा करते हुए ही

(शेष पृष्ठ १९ पर)

प्राप्त कुछ प्रश्नों के उत्तर

□ जवाहरलाल मोतीलाल भीण्डर

१. प्रश्न—"समयसार" कुन्दकुन्द की कृति है, इसका मूल उल्लेख कहाँ है ?

उत्तर—A कुन्दकुन्द ग्रन्थोंके टीकाकार अमृतचन्द्र सूरि तथा जयसेन ये दो आचार्य प्रधनतः हुए हैं। अमृतचन्द्र ने अपने मूल ग्रन्थकर्ता के विषय मे कुछ भी निर्देश नहीं किया है। पर जयसेन आचार्य ने समयसार की टीका के प्रारम्भ मे लिखा है—

अथ शुद्धात्मतत्त्वप्रतिपादनमुख्यत्वेन विस्ताररुचि-शिष्यप्रतिबोधनार्थं श्रीकुन्दकुन्दाचार्यदेवनिर्मिते समयसार-प्राभृतग्रन्थे अधिकारशुद्धिपूर्वकत्वेन पातनिकासहितं व्याख्यान क्रियते।

अर्थ—यहाँ शुद्धात्मतत्त्वप्रतिपादन को मुख्यता से विस्तार मे रुचि रखने वाले शिष्यो को प्रतिबोधन करने श्री कुन्दकुन्द द्वारा बनाए हुए समयसारप्राभृत ग्रन्थ मे अधिकार की शुद्धिपूर्वक पीठिका सहित व्याख्यान किया जा रहा है।

B उन्ही जयसेन आचार्य ने अन्तिम मगलाचरण में कहा है--

जयउ सिरि पउमणंदी जेण महातच्चपाहुडसेलो।
बुद्धिसिरेणुद्धरिओ समप्पिओ भव्वजीवस्स ॥१॥

अर्थ—ऋषि पद्मनदि (कुन्दकुन्द) जयवन्त वर्तो, जिनके द्वारा महातत्त्वप्राभृत यानी समयप्राभृतरूपी पर्वत बुद्धि-रूपी शिर पर धारण कर (उठाकर) भव्य जीवो के लिए समर्पित किया।

कुन्दकुन्द का नाम पद्मनन्दि है यह निर्विवाद है। [तीर्थंकर महावीर और उनकी आचार्य परम्परा भाग २।१०२-३]

C गोगामृत, ३ मे लिखा है—

आचार्योत्तमराप्तरि तिलिद तत्वज्ञानिगत **कोंडकुं-डाचार्य** मकलानुयोग दोलग तत्सारमकोडु पूर्वाचार्यत्रलि-योजेयिं **समयसार** ग्रंथमंमाडि विद्याचातुर्य मनी जगक्के मेरेदर चारित्र चक्रेश्वरर् ॥

अर्थ—आप्तस्वरूप, आचार्यों में उत्तम, महान् तत्त्व-ज्ञानी, चारित्रचक्रवर्ती आचार्यश्री कुन्दकुन्द ने सम्पूर्ण अनुयोगों के सार का मन्थन कर पूर्वाचार्य परम्परा से प्राप्त आध्यात्मिक ज्ञान को "समयसार" की रचना के द्वारा, अपनी स्वानुभव विद्या चातुरी के रूप मे, इस जगत् में सुकीर्ति को प्राप्त हुए। [रयणसार। पुरोवचन। पृ० ८।डा० देवेन्द्रकुमार शास्त्री, नीमच]

उक्त प्रमाण भी समयसार को कुन्दकुन्द रचित बताता है।

D श्री नेमिचन्द्र ने सूर्यप्रकाश मे कहा है—

अन्ते समयसार च नाटक च शिवार्थद।
पंचास्तिकायनामाढ्य वीरवाचोपसंहितम् ॥

(पृ० १८ का शेषांश)

प्राप्त सुख का सेवन करना चाहिए। जैसे—सज्जन पुरुष वृक्ष की रक्षा करते हुए ही उससे उत्पन्न फलों को खाया करते हैं।

दार्शनिक कोटि के साहित्यकार अमितगति ने जीवन के मानव मूल्यो को सुसंस्कृत करने के लिए सत्वेषु मैत्री की उद्घोषणा, सदाचरण की प्रतिष्ठा, धर्मनिष्ठा, देव-महत्ता, आध्यात्मिकता, कर्मफल, जातिवाद की निःसारता, यौगिक प्रवृत्तियाँ, और साहित्य सिद्धातों की विवेचना आदि विभिन्न पक्षों को उद्घाटित किया है। इस प्रकार अमितगति के साहित्य रूपी उद्यान मे विविध वर्णिक चमत्कारजन्य कल्पना शक्ति का वैशिष्ट्य, भावों की मोह-कता, भाषा की सुगमता, लालित्य और आलंकारिक छटा रूपी विभिन्न पुष्पों की सुरभि प्रत्येक पद्य में पाठक, श्रोता और अनुयायियों को अपने वैशिष्ठ्य अद्यावधि सुवासित कर रही है, तथा युग-युगों पर्यन्त सुवासित करती रहेगी।

—:०:—

आद्यं, प्रवचनं चैव मध्यस्थं सारसंज्ञकम् ।
सम्बोधनार्थं भव्यानां चक्र सत्यार्थदम् ॥
स्तवनं चित्तरोधार्थं रचयामास स मुनिः । [सूर्यप्रकाश ३४५-३५०]

भावार्थ—यहाँ कुन्दकुन्द की रचनाओं का विवरण दिया जा रहा है। जिसमे नेमिचन्द्र ने कहा है कि कुंदकुन्द मुनि ने पहले पचास्तिकाय और अन्त मे समयसार रचा। मध्य मे प्रवचनसार रचा। अतः मुनि कुदकुद ने सभी रचनाओं के अन्त मे समयसार रचा। (रयणसार। प्रस्ता०।पृ० १६, डा० देवेन्द्रकुमार शास्त्री)

E समयसार तो निर्विवाद रूप से कुदकुद की ही रचना है इसमे समस्त विद्वान् तथा सभी पक्ष (तेरह पथ, बीस पंथ, तरणपथ, गुमानपंथ, मूमुक्षुमण्डल) एकमत है। A. N. उपाध्ये, जुगलकिशोर मुख्तार एव नाथूराम जी प्रेमी जैसे इतिहासज्ञो ने भी समयसार को तो निर्विवाद रूप से कौन्दकुन्दीय कृति ही माना है। 'विमतानामपि ऐक्य यत्र किं प्रमाणेन तत्र।" भिन्न-भिन्न मत वाले भी जिस विषय में ऐकमत्य रखते हो उसमें प्रमाण की आवश्यकता ही क्या है ?

F आध्यात्मिक सत्पुरुष श्रीमद् राजचन्द्र ने एक पत्र में लिखा था—

"पत्र और समयसार की प्रति मिली। कुंदकुंदाचार्य कृत समयसार ग्रन्थ भिन्न है। ग्रन्थकर्ता अलग है, और ग्रन्थ का विषय भी अलग है। (ग्रन्थ उत्तम है) यह पत्र श्रीमद् जी ने० सं० १६५६ ज्येष्ठ शु० १३ सोमवार को श्री मुमुक्षु सुखलाल छगनलाल को वीरमगाम लिखा था। उक्त तिथि को श्रीमद् जी ववाणिया विराजमान थे। (श्रीमद्० २।७४४ व ६८०) इसमे अत्यन्त स्पष्ट है कि समयसार ग्रन्थ दो हैं। इतना अत्यन्त स्पष्ट है। पर कुंदकुदाचार्य कृत ४१५ गथाओं या ४३७ गाथाओं वाला समयसार तो निर्विवादतः कौन्दकुन्दीय ही है।

२. प्रश्न—मंगल भगवान् वीरो···आदि श्लोक किसकी रचना है ? इस श्लोक में मगलं कुंदकुंदार्यो ठीक है या मंगलं कुंदकुंदाद्यो ठीक है ? यह श्लोक किसने रचा ?

उत्तर—कुदकुंदप्राभृतसग्रह प्रस्ता० पृ० १, तीर्थंकर महावीर और उनकी आचार्य परम्परा भाग २, पृ० ६६, प्रवचनसार प्रस्ता० पृ० १२ (सोनगढ) आदि ग्रंथों में एवं अन्यत्र यह श्लोक सैकड़ो जगह मिलता है। शास्त्र-स्वाध्याय के प्रारम्भ मे मगलाचरण में भी इसे बोला जाता है। पर यह किसका है और कबका है, यह कही नही मिला। अतः मूल पाठ बताना सम्भव नही है। वैसे दोनों मे से कोई भी सिद्धांतघातक तो है नही। अनुष्टुप श्लोक भी किसी भी पाठ से भग नही होता।

३. प्रश्न—मयुर पिच्छी का चलन कबसे हुआ ? किस शास्त्र मे विधान है ?

उत्तर—आगम मे लिखा है कि—जो धूलि और पसीने को न पकड़ती हो, कोमल स्पर्श वाली हो, सुकुमार हो और हल्की हो उस पिच्छी की गणधर-देव प्रशसा करते है। मूल गाथा इस प्रकार है—

रयसेयाणमगहणं मद्दव सुकुमालदा लघुत्तं च ।
जत्थेदे पच गुणा तं पडिलिहण पससति ॥

यह गाथा मूलाचार समयसाराधिकार ६१२ तथा भगवती आराधना ६७ के रूप मे बिना पाठान्तर के, दोनों ग्रथो मे उपलब्ध है। लगभग ६०० वर्ष पूर्व सिद्धांत-चक्रवर्ती वसुनन्दि ने इसी मूलाचार की आचारवृत्ति मे लिखा था—

A मयूर पिच्छग्रहणं प्रशसति अभ्युपगच्छन्ति आचार्या गणधरदेवादय -

(अर्थ—मयुरपिच्छी का ग्रहण करना गणधरादिक द्वारा भी प्रशसनीय है)। (गा० ६१२ मूलाचार)

B आगे भी देखिए—

प्राणसयमपालनार्थ प्रतिलेखनं धारयेत् मयुरपिच्छिकां गृह्णीयात् भिक्षुः साधुरिति। (गा० ६१३ की आचारवृत्ति)

अर्थ—···प्राणिरक्षा हेतु मुनिराज मयुरपंखों की पिच्छिका ग्रहण करे। (पृ० १२१, भाग २ मूलाचार ज्ञानपीठ)

C आगे लिखा है(गाथा ६१५, पृ० १ २ ज्ञानपीठ):

न च भवति नयनपीडा चक्षुषो व्यथा अक्षिण नयनेऽपि भ्रामिते प्रवेशिते प्रतिलेखे मयुरपिच्छे

अर्थ—मयुरपिच्छी को तो नेत्रों में फिराने पर भी पीड़ा नही होती, इतनी नरम होती है।

वही आगे लिखा है—न च प्राणिघातयोगात्तेषा-

(शेष पृ० २८ पर)

व्रत : स्वरूप और माहात्म्य

(लेखक— क्षुल्लकमणि श्री शीतल सागर महाराज)

व्रत के सम्बन्ध मे, हमारे ऋषि-महर्षियों के भाव को, कविवर दौलतराम ने छहढाला की चौथी ढाल मे कितना सुन्दर लिखा है—

"बारह व्रत के अतिचार, पन-पन न लगावे।
मरण समय संन्यास धार, तसु दोष नशावे॥
यों श्रावक व्रत-पाल, स्वर्ग सोलम उपजावे।
तहतै चय नर-जन्म पाय, मुनि ह्वै शिव जावे॥"

यहाँ इस छन्द मे अतिचार-सहित बारह व्रतो का पालन करने वाले तथा निर्दोष सल्लेखना व्रत को धारण करने वाले श्रावक की महिमा का गुणगान किया है, कि ऐसा श्रावक पहले तो सोलहवें स्वर्ग तक उत्पन्न होता है एवं फिर मनुष्य-जन्म धारण कर व मुनिव्रतो को अंगीकार करके मोक्ष को प्राप्त करता है।

व्रतो के धारण-पालन का इतना महान जब महत्त्व है, तब क्यों नही हम इस विषय को विशेष रूप मे समझे। अर्थात् अवश्य ही इस विषय को समझने की कोशिस करना चाहिए।

हाँ तो व्रत कहिए या सयम अथवा सदाचार-सच्चरित्र या सम्यक्चारित्र; एक ही बात है। श्री उमास्वामी सूरि ने तत्त्वार्थसूत्र अध्याय सात सूत्र संख्या एक में व्रत की परिभाषा इस प्रकार की है—

"हिंसाऽनृतस्तेयाब्रह्मपरिग्रहेभ्यो विरतिर्व्रतम्।"

अर्थात् हिंसा, झूठ, चोरी, कुशील और परिग्रह; इन पाच पापों का त्याग करना, व्रत कहलाता है।

यहाँ आचार्य श्री ने मुख्य रूप से पाच पापों के त्याग को व्रत कहा है। परन्तु यहाँ यह ध्यान देने योग्य है कि इन पांचों-पापों के अन्तर्गत, संसार के अन्य जितने भी पाप-बुराइयाँ हैं, वे सब इनमे गर्भित हो जाते है। जैसे—

"जुआ खेलना मास मद, वेश्यागमन शिकार।
चोरो पररमणी-रमण, सातों व्यसन विचार॥"

अपेक्षा से इन जुआ खेलना आदि सात-व्यसनों का समावेश उक्त पापों में ही होता है। इसी प्रकार—

"ओला घोर बड़ा निशिभोजन, बाहुबीजा बेंगन संधान।
बड़ पीपल गूलर कठूम्बर, पाकर जो फल होय अजान॥
कदमूल माटी विष आमिष, मधु मक्खन अरु मदिरा-पान।
फल अति तुच्छ तुषार चलित रस, जिनमत ये बाईस बखान॥"

इन अभक्ष्य-भक्षणरूप बाईस बुराइयो का समावेश भी अपेक्षा से उपरोक्त पंच-पापों मे ही होता है। हाँ हमारे ऋषि-महर्षियों ने इन्हे जो अलग-अलग बताया है, तो अपेक्षा से इनका अलग-अलग त्याग करना-कराना होता है।

पाप या बुराई का त्याग कर अपने को शुभ-कार्यों में सलग्न करने की प्रतिज्ञा लेने को भी व्रत कहते है; क्योकि पापों का त्याग किये बिना कोई भी जीवात्मा, शांतिपथ का पथिक नही हो सकता। शांतिपथ का पथिक होने के लिए, सांसारिक विषय-वासनाओ से भी मुख मोड़ना पड़ता है। इतना ही नही अपितु एकाग्रचित्त होकर सच्चे-देवशास्त्र गुरु और सात तत्त्वो को भी ठीक-ठीक समझना पड़ता है।

तत्त्वार्थसूत्र के ही अध्याय सात, सूत्र अठारह मे 'निःशल्यो व्रती' लिखकर आचार्यश्री ने यह चेतावनी दी है, कि मात्र व्रतो को धारण कर लेने से अपने को व्रती मत समझ बैठना; क्योकि व्रती-संज्ञा वास्तव मे शल्य रहित होने पर ही होती है। वे शल्य, माया, मिथ्यात्व और निदान के रूप में तीन है। एक कवि ने लिखा है—

"सयम की सीमा मत तोड़ो, अधे होकर तुम मत दौड़ो।
शाश्वत सुखकी है यह औषधि, तुम सब इससे नाता जोड़ो॥"

चारित्र-मोहनीय कर्म के उदय से जो सयम-व्रत धारण नही कर सकते ऐसे सम्यग्दृष्टियों के विषय मे कवि दौलतराम जी ने एक भजन में लिखा है—

"चिन्मूरति दृगधारी की, मोहि रीति लगत है अटापटी।
सयम धर न सके पै संयम, धारणकी उर चटापटी॥"

संसार के सभी धर्मों सम्प्रदायों ने व्रत-सयम को किसी न किसी रूप में स्वीकार किया ही है, क्योंकि व्रत ही प्रत्येक धर्म की मूल-जड़ कहो या नीव-आधारशिला

है। आत्मकल्याण की भावना से स्वेच्छा पूर्वक जीवन भर के लिए अथवा परिमित, दिन, पक्ष, मास, वर्ष, दो वर्ष आदि के लिए शुभ-पुण्य कार्य करने का संकल्प करना या हिंसादि पाप कार्य का त्यागना भी व्रत कहलाता है। पुरुषार्थ सिद्धि उपाय श्लोक चालीस के अनुसार चारित्र (व्रत) की परिभाषा इस प्रकार है—

"हिंसातोऽनृतवचनात् स्तेयादब्रह्मतः परिग्रहतः।
कार्त्स्न्यैकदेशविरतेः, चारित्रं जायते द्विविध॥"

यहाँ यह समझाया गया है कि हिंसादि पांचों पापो का त्याग करना तो चारित्र-व्रत है ही; पर इन पापो का सर्वथा त्याग किया जाता है तो वह महाव्रत कहलाता है और एक देश पापों का त्याग करने पर वह देशव्रत-अणुव्रत सज्ञा को प्राप्त होता है।

लगभग इसी उक्त भाव की पुष्टि समन्तभद्राचार्य द्वारा रत्नकरण्ड में हुई है। श्लोक ४९ इस प्रकार है—

"हिंसाऽनृतचौर्येभ्यो, मैथुनसेवा-परिग्रहाभ्या च।
पापप्रणालिकाभ्यो, विरतिः सज्ञस्य चारित्र॥"

यहाँ इतना विशेष उल्लेख है कि ये हिंसादिक पांचो दोष, पाप के आस्रव द्वार है और इनका त्याग जब ज्ञानी व्यक्ति के होता है तभी ये चारित्र या व्रत कहलाते है।

श्रीअमृतचन्द्र सूरि ने तत्त्वार्थसार मे भी लगभग उक्त अभिप्राय को ही निम्न तरह से व्यक्त किया है—

"हिंसाया अनृताच्चैव, स्तेयादब्रह्मतस्तथा।
परिग्रहाच्च विरतिः, कथयन्ति व्रत जिनाः॥"

अर्थात् हिंसा, असत्य, चोरी, अब्रह्म और परिग्रह से विरति छुटकारा पाना व्रत है और यह या ऐसा श्रीजिनदेव कहते है।

इस प्रसग में द्रव्यसग्रह महाशास्त्र की गाथा ४५ इस प्रकार है जो कि ध्यान देने योग्य है—

"असुहादो विणिवित्ति, सुहे पवित्ती य जाण चारित्त।
वदसमितिगुत्ति रूव, ववहारणया दु जिण-भणिय॥"

अर्थात् अशुभ से छुटकारा होना तथा शुभ मे प्रवृत्ति होना चारित्र-व्रत है; तथा यह व्रत, समिति और गुप्ति-स्वरूप है एवं यह व्यवहाररूप से श्रीजिनदेव ने कहा है।

द्रव्यसग्रह की ही गाथा पैंतीस मे इस प्रकार विवेचन है—

"वदसमिदिगुत्तिओ, धम्माणुपिहापरीसहजओ य।
चारित्तं बहुभेयं, णायव्वा भावसंवर विसेसा॥"

इस गाथा मे व्रत, समिति और गुप्ति के साथ-साथ; उत्तमक्षमादि दस धर्म, अनित्यादि बारह अनुप्रेक्षा तथा क्षुधा-तृषादि बाईस परीषहजय को भी चारित्र मे ही सूचित किया है तथा इन सबको भावसवर का कारण लिखा है।

संयम जो कि व्रत का ही एक रूप है, इसके विषय में सिद्धान्तचक्रवर्ती नेमिचन्द्राचार्य ने गोम्मटसार जीवकाड गाथा ४६५ में इस प्रकार विवेचन किया है—

"वदसमिदिकसायाणं, दंडाण सहिंदियाण पचण्ह।
धारण पालण णिग्गह, चागजओ सजमानावओ॥"

अर्थात् अहिंसादि व्रतों को धारण करना, ईर्यादि समितियों का पालन, क्रोधादिक कषायों का निग्रह, मन-वचन-काय की कुत्सित क्रियारूप दण्डो का त्याग तथा स्पर्शादि पाचो इन्द्रियो पर विजय प्राप्त करना, यही सयम (व्रत) कहा गया है।

व्रत के सम्बन्ध मे, स्वामी समन्तभद्र ने, श्रीरत्नकरण्ड महाशास्त्र श्लोक ८६ मे एक महत्वपूर्ण बात इस प्रकार लिखी है—

"यदनिष्टं तद्व्रतयेद्, यच्चानुपसेव्यमेतदपि जह्यात्।
अभिसधिकृताविरति, विषयाद्योग्याद् व्रत भवति॥"

अर्थात् जो वस्तु अनिष्ट हैउसका त्याग किया जावे और जो अनुपसेव्य है उसका भी त्याग किया जावे। इस प्रकार योग्य विषयोंसे भी भावपूर्वक छुटकारा पाना व्रत है।

श्रीपूज्यपाद स्वामी ने, इष्टोपदश मे, व्रत के सम्बन्ध मे, जो महत्वपूर्ण बात लिखी है, वह ध्यान देने योग्य है। वे लिखते है—

"वर व्रतैः पद दैव, नाव्रतैर्व तनारकम्।
छायातपस्थयोर्भेदः, प्रतिपालयतोर्महान्॥३॥"

अर्थात् अव्रतों से नारकी होने की अपेक्षा, व्रतो से देव-पर्याय प्राप्त करना श्रेष्ठ है। जिस प्रकार लोक मे एक व्यक्ति धूप मे खड़ा है उसकी अपेक्षा दूसरा छाया मे खड़ा रहने वाला श्रेष्ठ है।

इस व्रत के सम्बन्ध मे ही समाधितंत्र के श्लोक ८३, ८४ और ८६ मे जो उल्लेख है वह भी ध्यान देने योग्य है—

"अपुण्यमव्रतैः पुण्य, व्रतैर्मोक्षस्तयोर्व्ययः।
अव्रतानीव मोक्षार्थी, व्रतान्यपि ततस्त्यजेत्॥

अव्रतानि परित्यज्य; व्रतेषु परिनिष्ठितः ।
त्यजेत् तान्यपि सम्प्राप्य, परम पदमात्मनः ।।
अव्रती व्रतमादाय, व्रती ज्ञानपरायणः ।
परात्मज्ञानसम्पन्नः, स्वयमेव परोभवेत् ।।"

अर्थात् अव्रतों से अपुण्य (पाप) होता है तथा व्रतों से पुण्य होता है और इन दोनो के (पाप-पुण्य के) विनाश से, मोक्ष होता है। अतः मोक्षार्थी का कर्तव्य है कि वह अव्रतों की तरह व्रतो का भी त्याग करे। अव्रतोंका त्याग करके व्रतों मे संलग्न हुआ आत्मा; परमपद (मोक्ष) को प्राप्त करके व्रतो का भी त्याग कर देता है। व्रत-विहीन व्यक्ति व्रतों को ग्रहण करके व्रती होकर ज्ञान मे तत्पर होवे। फिर परमात्म ज्ञान मे सम्पन्न होकर स्वयं ही परमात्मा हो जाता है।

सिद्धान्त चक्रवर्ती श्रीनेमिचन्द्राचार्य ने द्रव्यसंग्रह गाथा ५७ मे जो 'तप ओर श्रुत के साथ व्रतों का धारक आत्मा ही ध्यानरूपी रथ की धुरा को साधने मे समर्थ होता है।' ऐसा लिखा है वह वास्तव मे ध्यान देने योग्य है। गाथा इस प्रकार है —

"तवसुदवदव चेदा, झाणरह धुरधरो हवे जम्हा ।
तम्हा तत्तिय णिरदा, तल्लद्धीए सदा होइ ।।"

इसका सरल व सुन्दर हिन्दी पद्यानुवाद इस प्रकार है—

"तप श्रुत और व्रतोंका धारक, ध्यानसु रथ मे होय निपुण।
अतः तपादि तीन में रत हो, परम ध्यान के लिए निपुण ।।"

व्रत-संयम के विषय में जो स्व० डा० कामता प्रसाद जैन ने लिखा है वह भी विचारणीय है—

"व्रत चाहे छोटे रूप में किया जावे, परन्तु विधि से किया जावे तो बड़ा फल देता है। वट का वृक्ष देखा है, कितना बडा होता है, परन्तु इतने बडे पेड़ का बीज पोस्ता के दाने से भी नन्हा होता है। नन्हा-सा ठोस बीज जैसे महान फल देता है, वैसे ही नन्हा-सा व्रत भी सार्थक होकर जीवन मे बड़ी से बड़ी सफलता देता है।"

भारत के महामहिम राष्ट्रपति श्री नीलम सजीव रेड्डी का स्वाधीनता दिवस पर सादगी का सन्देश है—

"शान शौकत का जीवन बिताने पर अकुश जरूरी···
अदूरदर्शी-समाज पतन के गर्त मे बह गये ···।"

एक कवि ने कितना हृदय-स्पर्शी उल्लेख किया है —

"जीवन को महकाने वाला, व्रत ही फल अरु फूल है।
व्रत के बिना शांति सुख होवे, यह आशा निर्मूल है ।।"

एक अच्छे लेखक ने भी लिखा है—

"अणुव्रतों अथवा महाव्रतोंके धारण-पालन से आत्मिक श्रद्धा मजबूत होती है, विवेककी वृद्धि होती है, साथ ही स्वानुभूति रूप आनन्द की अभिवृद्धि होकर निराकुलता रूपी मुक्तिरमा के साथ अनंतकाल तक रमण होता है।"

एक अन्य विद्वान ने भी लिखा है--

"व्रतों का मूल उद्देश्य तृष्णा को तिलांजलि देकर आत्मिक आनंद की ओर अग्रसर होना है; परन्तु जो कुछ व्यक्ति देखा-देखी या जोश मे आकर अथवा होश खोकर भी व्रत धारण करते है, तथा उन्हें सहर्ष सोत्साह पालन नही करते, अतिचार-दोष लगाते रहते है, इससे स्वपर का पतन ही होता रहता है।"

वैराग्य भावनाके अन्त में कितना मार्मिक उल्लेख है

"परिग्रह-पोट उतारि सब, लीनो चारित-पंथ ।
निज-स्वभावमें थिर भये, वज्रनाभि निर्ग्रन्थ ।।"

समस्त संसार को अपने चरणों में झुकाने की शक्ति यदि किसी में है तो वह है व्रत-सयम। व्रत की शक्ति व्यक्ति की निजी शक्ति-आत्मशक्ति है। इसमें व्यक्ति की आत्मा का निवास होता है, या यो भी कह सकते है कि व्रत-संयम, व्यक्ति की वास्तविक सम्पदा है, जिसके बल पर ससार की अधिक से अधिक मूल्यवान वस्तुयें प्राप्त की जा सकती हैं। राजा-महाराजा, सेठ-साहूकार, पंडित-विद्वान, सभी व्रती-सयमी के चरणों के चेरे हो जाते है।

व्रत; व्यक्ति में वह सामर्थ्य सम्पन्न करता है, जो अन्य किसी भी शक्ति से दब नही सकता। धन-बल, तन-बल, कुटुम्ब-बल, यह बहुतों को दबा सकता है, लेकिन व्रती-सयमी को नही। अन्य भी कितने ही बल अन्यो को पराजित कर सकते है परन्तु व्रती-संयमी के समक्ष तो उन सभी को स्वयमेव नतमस्तक होना पड़ता है।

व्रत-विहीन का जीवन भी क्या कोई जीवन है? कौन बुद्धिमान उसे जीवन कहता है? वह जी रहा है इतने मात्र से उसमे जीवन की कल्पना करना निरर्थक है। हाँ उसे तो मृत कहिए अथवा जीवित लाश या मुर्दा। व्रत-विहीन के निस्तेज-मुख, ज्योतिहीन नेत्र और विकारयुक्त आंगोपांग पहली ही नजर में, देखने वालो के अन्तरंग मे, एक ग्लानि-सी पैदा कर देते है। उसके प्रति श्रद्धा नही हो पाती;

जबकि व्रती-संयमी का देदीप्यमान मुखमण्डल प्रसन्न-मन एवं समताभाव, प्राणिमात्र को अपनी ओर आकर्षित कर लेता है।

व्रत के सम्बन्ध मे श्रीउत्तरपुराण (७६–३७४) मे आया है—

"अभीष्टं फलप्राप्नोति, व्रतवान् परजन्मनि।
न व्रतादपरो बंधु,र्नाव्रतादपरो रिपु.॥"

अर्थात् व्रती-व्यक्ति, आगामी भव मे, मनोवांछित फल को प्राप्त करता है। अहिंसादि व्रतों के समान जीव का कोई भी अन्य बन्धु नही है और हिंसादि के समान अन्य शत्रु नहीं है।

लोक मे तीन प्रकार के व्यक्ति है। एक तो वे है जो विघ्न के भय से व्रतो को धारण ही नही करते। ऐसे व्यक्ति निकृष्ट या जघन्य कहलाते है। दूसरे वे हैं जो व्रतों को तो धारण करते है, लेकिन विघ्न-बाधा आने पर उन्हें छोड देते हैं। ऐसे व्यक्ति मध्यम श्रेणी के है और तीसरे व्यक्ति वे है जो व्रतो को धारण करने के पश्चात् कितने ही विघ्न आने पर भी उन्हें छोड़ते नही। जीवन-पर्यन्त व्रतों का निर्वाह करते है और ऐसे व्यक्ति उत्तम श्रेणी के कहे जाते है। सो ही सम्यक्त्व-कौमुदी मे उल्लेख है —

"प्रारभ्यते न खलु विघ्नभयेन नीचै.,
प्रारभ्य विघ्नवहिता विरमति मध्याः।
विघ्नैः पुनः पुनरपि प्रतिहन्यमानाः,
प्रारभ्य चोत्तमजना न परित्यजन्ति॥"

हमें 'देहस्य सार व्रतधारणं च' इस संस्कृत सूक्ति को ध्यान मे रखते हुए कि 'मानव जीवन की शोभा व्रतों के धारण करने से है'; कभी भी व्रतों मे पराङ्मुख नही होना चाहिए। हमारे गुरू महाराज जी कहा करते थे कि—

"घोड़ा चढ़े पड़े, पड़े क्या पीसनहारी।
द्रव्यवंत ही लुटे, लुटे क्या जन्म-भिखारी॥"

पर यहा उनके कहने का यह अभिप्राय नही था कि व्रत लेकर पालन नही करना। वे स्पष्ट रूप में कहते थे कि — "सोच समझकर व्रत अवश्य धारण करो। कर्मयोग से व्रत छूट भी जाय तो पुनः धारण करो। व्रत सहित मरण को प्राप्त होने से नियम से देवगति की प्राप्ति होती है फिर परम्परा से मुक्ति प्राप्त होती है।

व्रत के विषय मे सागारधर्मामृत अध्याय ७ का श्लोक ५२ इस प्रकार है—

"प्राणान्तेऽपि न भक्तव्यं, गुरुसाक्षिश्रितं व्रतं।
प्राणान्तस्तत्क्षणे दुःख, व्रतभंगो भवे भवे॥"

अर्थात् गुरु की साक्षी-पूर्वक लिए गये व्रत को प्राणांत होने पर भी भंग नहीं करना चाहिए, क्योंकि प्राणान्त मरण से तो उसी क्षण दुःख होता है लेकिन व्रत को भंग करने से भव-भव मे कष्ट प्राप्त होता है और इसीलिए एक आचार्यश्री ने उल्लेख किया है कि—

"वरं प्रवेष्टुं ज्वलित हुताशनं,
न चाऽपि भग्नं चिरसचितं व्रत।"

अर्थात् भीषण अग्नि में प्रवेश करना तो श्रेष्ठ है, लेकिन चिर सचित व्रत को भग करना अच्छा नहीं।

हमे एक आचार्यश्री के निम्न श्लोक के भाव को भी सदैव स्मरण रखना चाहिए—

"वृत्त यत्नेन सरक्षेत्, वित्तमेति च याति च।
अक्षीणो वित्ततः क्षीणो, वृत्ततस्तुहतो हतः॥"

अर्थात् व्रत तो धारण करना ही चाहिए, साथ ही उसका यत्नपूर्वक पालन भी करना चाहिए। क्योकि लोक मे धन तो आता-जाता रहता है, परन्तु जो व्रतों से च्युत हो जाता है उसका तो सर्वस्व ही विनष्ट हुआ समझना चाहिए।

सामान्य से देखा जाय तो व्रत के कोई भेद नही हैं, क्योकि व्रत कहने से ही सभी प्रकार के व्रत आ जाते है। सक्षेप मे भेद किये जाये तो व्रत दो प्रकार के है। सो ही श्रीउमास्वामी ने तत्त्वार्थसूत्र अध्याय सात सूत्र सख्या दो मे इस प्रकार बताया है—

'देश-सर्वतोऽणुमहती' अर्थात् व्रत दो प्रकार के है, एक तो अणुव्रत और दूसरे महाव्रत। हिंसादि पापो का एक-देश त्याग 'अणुव्रत' और इन्ही पापो का सर्वदेश-पूर्णतया नवकोटि से त्याग करना 'महाव्रत' है।

दुनियां मे वस्तु का विभाजन एक तो भोगवस्तु के रूप में है और दूसरा उपभोग वस्तु के रूप मे और इस अपेक्षा भी व्रत के दो भेद हो सकते हैं। भोगवस्तु का त्याग

करने रूप 'भोगव्रत' तथा उपभोग वस्तु का त्याग करने रूप 'उपभोग व्रत'। भोग-उपभोग का स्वरूप श्रीरत्न-करण्ड मे इस प्रकार बताया है—

"भुक्त्वा परिहातव्यो, भोगो-भुक्त्वा पुनश्च भोक्तव्यः।
उपभोगोऽशनवसन, प्रभृतिपंचेन्द्रिय-विषयः ॥८३॥"

अर्थात् जिसका एक बार भोगकर त्याग हो जाता है तथा पुनः भोगने में नही आवे वह भोगवस्तु है। जैसे—भोजन, लड्डू, पेढ़ा, रोटी आदि। जो एक बार भोगने के बाद पुनः भी भोगने मे आ सके वह उपभोग वस्तु है। जैसे—वस्त्र, आभूषण, नल, बिजली, मकान, पलंग आदि।

कोई भी संकल्प, प्रतिज्ञा, त्याग अथवा व्रत, या तो जीवन भर के लिए किया जाता है अथवा सीमित काल के लिए और इस प्रकार भी व्रत के दो भेद हो सकते है। एक तो जीवन भर के लिए धारण किया जाने वाला व्रत (यम) और एक सीमित काल के लिए लिया जाने वाला व्रत (नियम)। सो ही स्वामी समन्तभद्र ने रत्नकरण्ड श्लोक ८७ मे इस प्रकार प्रकट किया है—

"नियमो यमश्च विहितौ, द्वेधा भोगोपभोगसहारे।
नियमः परिमितकालो, यावज्जीव यमोध्रियते ॥"

आगे आचार्यश्री ने नियम के विषय में श्लोक ८८ व ८९ में स्पष्ट किया है—

"भोजनवाहनशयन, स्नानपवित्रांगरागकुसुमेषु।
ताम्बूलवसनभूषण, मन्मथसंगीततीतेषु ॥
अद्य दिवा रजनी वा, पक्षो मासस्तथर्तुरयन वा।
इति काल परिच्छित्या, प्रत्याख्यानं भवेन्नियमः ॥"

इसका सरस-सुन्दर और सरल हिन्दी पद्यानुवाद इस प्रकार पठनीय है—

"भोजन वाहन शयन स्नान रुचि, इत्रपान कुंकुम लेपन।
गीत वाद्य सगीत कामरति, माला भूषण और वसन ॥
इन्हे रातदिन पक्षमास या वर्ष आदि तक देना त्याग।
कहलाता है'नियम'और 'यम', आजीवन इनका परित्याग ॥"

हमे इस प्रसग में महर्षियों के निम्न वाक्यो व सूक्तियो को भी ध्यान में लेने की आवश्यकता है।

"व्रतेन यो विना प्राणी, पशुरेव न सशयः।
योग्यायोग्य न जानाति, भेदस्तत्र कुतो भवेत् ॥"

अर्थात् इसमें कोई भी सन्देह नही है कि व्रतविहीन प्राणी; पशु-अज्ञानी ही है क्योंकि अव्रती योग्य-अयोग्य के विवेक से विहीन होता है। उसमें विवेक होता ही नही।

"राग-द्वेष-निवृत्त्यै चरणं प्रतिपद्यते साधुः।"

अर्थात् साधु-आत्महितैषी भव्यात्मा, राग-द्वेषादि विकारों को दूर करने के लिए, चारित्र (व्रत) धारण करता है।

"ये नित्यं व्रतमंत्रहोमनिरताः"

अर्थात् साधु पुरुष नित्य ही व्रत, मंत्र और होम-कषायो को दूर करने में संलग्न रहते हैं।

"व्रतसमुदयमूलः" अर्थात् व्रतों का समुदाय ही धर्म-वृक्ष की जड़ है।

"सद्वृत्तानां गुणगणकथा" अर्थात् जब तक मोक्ष सुख की प्राप्ति न हो तब तक हे परमात्मन्! मैं शास्त्रानुकूल व्रतों की महिमा का गुणगान किया करूँ।

पाक्षिक-प्रतिक्रमण में उल्लिखित निम्न गाथायें भी व्रत के सम्बन्ध में आदरणीय है—

"धिदिमतो खमाजुत्तो, झाणजोगपरिट्ठिदो।
परीसहाण उरं देंतो, उत्तमं वदमस्सिदो ॥"

अर्थात् जो धैर्यवान है, उत्तम क्षमा को धारण करने वाला है, सब ओर से ध्यानयोग मे स्थित है, साथ ही क्षुधा तृषादि परीषहों को सहन करने वाला है, वही उत्तमव्रत-महाव्रतों को धारण-पालन करने वाला होता है। इसी प्रकार—

"पाणादिवादं च हि मोसगं च, अदत्तमेहुण्णपरिग्गहं च।
वदाणि सम्म अणुपालइत्ता, णिव्वाणमग्गं विरदा उवेंति ॥"

अर्थात् हिंसा, झूठ, चोरी, कुशील और परिग्रह इनके त्यागरूप अहिंसादि व्रतो को पालन करने वाले दि० मुनि, निर्वाण-मोक्षमार्ग को प्राप्त करते है।

इस प्रकार इस लेख में आचार्यों आदि के उद्धरण देकर व्रत का स्वरूप, व्रत की आवश्यकता, व्रत का माहात्म्य और सक्षिप्त भेदों के विषय मे प्रतिपादन किया है। वास्तव मे व्रत, नियम, चारित्र के बिना, मनुष्य जीवन पंगु या नेत्रविहीन व्यक्ति के समान निरर्थक है। अन्त मे—

"द्रढ़ता से व्रत धारकर, पाले द्रढ़ता पूर्व।
स्वपर का कल्याण हो, फिर निर्वाण अपूर्व ॥"

—इत्यलम्

जैन ग्रन्थों में विज्ञान

□ श्री प्रकाशचन्द्र जैन प्रिंसिपल स. भ. सं. वि. दिल्ली

जैन ग्रन्थों मे वैज्ञानिक तत्त्व प्रचुर मात्रा में उपलब्ध है। आज विज्ञान के जो आधुनिकतम आविष्कार है उनके मूल सिद्धान्त जैन शास्त्रो में यत्र-तत्र विखरे हुए है।

जैनाचार्य उमा स्वामी अथवा उनके पूर्व और उत्तरवर्ती आचार्यों ने जो सिद्धान्त थ्योरी लिखे है उन्ही का आधार लेकर वैज्ञानिको ने प्रेक्टीकल किया है। प्रेक्टीकल करने वालों की सबसे बड़ी भूल यह हुई कि उन्होंने थ्योरी सिद्धान्त देने वाले आचार्यों की मानव कल्याण एवं आत्मोन्नति की मंगल भावनाओं को उपेक्षित करके अपने प्रेक्टीकल द्वारा ऐसे-ऐसे उपकरणों, यंत्रों और मशीनों का निर्माण आरम्भ कर दिया है जिनको पाकर आज का मानव समाज सांसारिक विषयभोगों मे लिप्त हो रहा है। आपस में लड रहा है, पारस्परिक ईर्ष्या-द्वेष बढ़ रहे है तथा विविध प्रकार की वैज्ञानिक सुविधाये पाकर मानव पुरुषार्थहीन हो गया है।

ससार के निर्माण के सम्बन्ध में आज की वैज्ञानिक मान्यता यह है कि यह ब्रह्माण्ड कोई क्रियेटीड वस्तु न होकर एक घास के खेत के समान है। जहां पुराने घास घास तिनके भरते रहते है और उनके स्थान पर नये तिनके जन्म लेते रहते है। परिणाम यह होता है कि घास के खेत की आकृति सदा एक-सी बनी रहती है। यह वैज्ञानिक सिद्धान्त जैन धर्म के साहित्य मे वर्णित विश्व रचना के सिद्धान्त से अधिक मेल खाता है। इसके अनुसार इस जगत का न तो कोई निर्माण करने वाला है और न किसी काल विशेष मे इसका जन्म हुआ। यह अनादिकाल से ऐसा ही चला आ रहा है, और ऐसा ही चलता रहेगा। यह विश्व छह द्रव्यो के समूह का नाम है। यह छः द्रव्य है जीव, पुद्गल, धर्म, अधर्म, आकाश और काल। वैज्ञानिक इन द्रव्यो को सबस्टेन्स के नाम से पुकारते हैं।

वर्तमान विज्ञान द्रव्य को स्थायी मानने के साथ परिवर्तनशील भी मानता है। प्रत्येक द्रव्य की अवस्थायें बदलती रहती हैं। जैसे लकड़ी है, वह स्कध पर्याय है। उसको जला दिया जाये तो कोयला बन जायेगा, उसका नाश नही होगा पर्याय बदल जायेगी और कोयले को भी जला दिया जाये तो राख बन जायेगी। मगर मूल तत्त्व का नाश नहीं होगा। यह वैज्ञानिक मान्यता वही है जो आज से कई हजार वर्ष पहले लिखे गये जैन ग्रन्थ तत्त्वार्थ सूत्र में प्राप्त है। उत्पाद-व्यय-ध्रौव्य युक्त सत्। सद् द्रव्य लक्षणम्—अर्थात् उत्पाद, व्यय और ध्रौव्य जहा पाये जाएँ उसका नाम सत् है। तथा सत् ही द्रव्य का लक्षण है।

जैनाचार्यों ने प्रकृति को पुद्गल के नाम से पुकारा है। और पुद्गल शब्द की व्याख्या उन्होने—'पूरयन्ति गलयन्ति इति पुद्गलाः' अर्थात् पुद्गल उसे कहते है जिसमे पूरण और गलन क्रियाओ के द्वारा नई पर्यायों का प्रादुर्भाव होता है। विज्ञान की भाषा मे इसे फ्यूजन व फिशन या इन्टिगेशन व डिसइन्टिगेशन कहते है। वैज्ञानिको ने पुद्गल का नाम मेबर दिया है। वे कहते है कि पुद्गल स्कध में हरमाणु मिलते भी है और बिछड़ते भी है।

वर्तमान वैज्ञानिकों ने सिद्धान्त दिया है कि दो हाईड्रोजन और एक आक्सीजन का अनुपात मिलाया जाए तो जल तैयार हो जायेगा। जैन दर्शन मे कहा गया है कि जल कोई स्वतत्र द्रव्य नही है वह तो पुद्गल का स्कंध पर्याय है।

द्वयधिकादिगुणानां तु। स्निग्ध-रुक्षत्वात् बधः। न जघन्यगुणानाम्। गुण साम्ये सदृशानाम्। जैन ग्रन्थ तत्त्वार्थ सूत्र के इन चारों सूत्रों का आशय यह है कि स्निग्ध और रुक्षत्व गुणो के कारण एटम एक सूत्र मे बंधा रहता है। इससे स्पष्ट होता है कि जैन आचार्य आज के वैज्ञानिक

शब्दों पोजीटीव और नेगेटिव से परिचित थे। उन्होंने यह भी कहा है कि अणुओ मे साम्य गुण होने पर बंध नही होगा। वह बंध तभी होगा जब गुणों मे अन्तर होगा। और वह गुणों में अन्तर दो डिग्री का होगा। आधुनिक वैज्ञानिक डा० रमण ने भी यही कहा था कि बध तभी होगा जब दोनों अणुओं मे दो डिग्री का फरक होगा। परमाणुओं मे जो कण भरे हुए है उनको जैन शास्त्रो की परिभाषा में यह कहा जायेगा कि पारा और सोना भिन्न पदार्थ नही है, वे पुद्गल द्रव्य की ही पर्याय है।

जैन ग्रन्थ गोम्मटसार मे परमाणु को षट्कोणी, खोखला और सदा दौड़ता-भागता हुआ बताया गया है। परमाणु की रचना स्निग्ध और रुक्ष कणो के सहयोग से होती है। विज्ञान ने १८४१ मे यह सिद्ध किया कि १९८ अश डिग्री का पारा लेकर उसको योगिक क्रिया करने पर २०० अश डिग्री वाला सोना तैयार किया जा सकता है। यही बात जैन ग्रन्थो में भी उल्लिखित है। दो अधिक अश हो तो बध होगा और कम हो तो बध नही होगा। जैन सिद्धान्तानुसार संसार की जितनी भी वस्तुएं दृष्टिगोचर होती है वे सब पुद्गल की ही पर्याय है। वैज्ञानिक भी उन्हें मेटर की भिन्न-भिन्न अवस्थाएं मानता है।

मेटर को स्वीकार करने के बाद विज्ञान ने मेटर के दो भेद किए। इस विश्व मे कुछ तो लिविंग सबस्टेन्स है और कुछ नोन लिविंग सबस्टेन्स है। लिविंग सबस्टेन्स मे उन्होंने जीव और पुद्गल को माना है। नोन लिविंग सबस्टेन्स मे उन्होने शेष द्रव्यो को माना है। जीव जब गमन करता है तो उसके गमन मे एक मीडियम होता है। उस मीडियम का नाम वैज्ञानिको ने ईथर रखा है। जैन ग्रंथों में इस गमन के माध्यम मे सहायक को धर्म द्रव्य कहा है। मीडियम आफ मोशन—ईथर या धर्म द्रव्य के बिना पुद्गल और आत्मा गमन नही कर सकते। वैज्ञानिक ईथर को नोन लिविंग सबस्टेन्स मानते है जैन ग्रन्थो में ईथर के पर्यायवाची धर्म द्रव्य को अरूपी–न दिखाई देने वाला कहा है। उन्होने कहा है कि धर्म द्रव्य मात्र अनुभव की वस्तु है। वैज्ञानिक भी ईथर को इन्द्रिय ग्राह्य नही मानते है। जैसे पानी मछली को गमन करने में सहायक होता है उसी प्रकार यह धर्म द्रव्य भी जीव और पुद्गलो के गमन करने मे सहायक होता है।

वैज्ञानिको ने माना है कि वस्तुओं के गिर कर रुकने मे ग्रेवेटी पावर गुरुत्वाकर्षण काम करता है, इसी गुरुत्वाकर्षण को जैन शास्त्रों मे अधर्म द्रव्य माना गया है। जो कि जीव और पुद्गलों के ठहरने में सहायक होता है।

इसी प्रकार विज्ञान ने स्पेस को भी माना है। स्पेश होने के कारण ही जीव और पुद्गल इस विश्व मे रहते हैं। यदि स्पेश ना हो तो कोई कहां रहे। जैन ग्रन्थों मे इस स्पेश का नाम आकाश दिया गया है। आकाशस्यावगाहः। यह आकाश द्रव्य के उपकार है कि पूरे विश्व में जीव और पुद्गल समाए हुए है।

जैन शास्त्रों मे काल को भी एक स्वतत्र द्रव्य स्वीकार किया गया है। वैज्ञानिक भी टाइम को स्वीकार करते है। यह टाइम ही समय को बदलने मे सहायक हो रहा है। वैज्ञानिक मानते है कि टाइम (काल द्रव्य) को स्वीकार करे बिना काम नही चल सकता। मिन्को नामक वैज्ञानिक ने यह सिद्ध किया था कि काल द्रव्य एक स्वतंत्र सबस्टेन्स है।

इस प्रकार जगत निर्माण मे सहायक जिन छः तत्त्वो का जैन साहित्य मे उल्लेख है उन सभी को आज के वैज्ञानिक भी जैसा का तैसा स्वीकार करते है।

जैनाचार्यों ने प्रत्येक द्रव्य का कोई न कोई गुण माना है। वैज्ञानिक भी प्रत्येक सबस्टेन्स को क्वालिटी स्वीकार करते है। सभी द्रव्यों मे एजिस्टेन्स गुण वैज्ञानिक स्वीकार करते हैं। उसे ही जैनाचार्यों ने द्रव्यों का अस्तित्व गुण कहा है। वैज्ञानिक सबस्टेन्स को कोई न कोई युटिलिटी मानते हैं। जितने भी द्रव्य है वे सभी गुण वाले है और गुण वाले होने के कारण उनका कोई न कोई उपयोग है। प्रत्येक द्रव्य कोई न कोई क्रिया करता रहता है। इसलिए साइन्स प्रत्येक द्रव्य मे फंगसनेलिटी गुण मानता है। जैन साहित्य मे इसे द्रव्यत्व गुण कहा है।

जैन शास्त्रों मे कहा है कि एक द्रव्य दूसरे द्रव्य के रूप को नही ग्रहण कर सकता। उसके गुण भी कभी नही बिखर सकते। इस गुण को अगुरु लघुत्व गुण कहा

है। आज के वैज्ञानिक भी यह बात स्वीकार करते हैं कि द्रव्य-सबस्टेन्स का रूप नहीं बदलता। वैज्ञानिकों ने सबस्टेन्स का एक गुण यह भी कहा है कि उसका कोई आकार होना चाहिए। जैन दर्शन मे इसको प्रदेशत्व गुण कहा गया है। जैन शास्त्रो मे पेड़-पौधों मे—वनस्पति में चेतन स्वीकार की गई है। जैनो की यह मान्यता हजारो कालों से चली आ रही है। आज के वैज्ञानिको ने बहुत बाद मे यह सिद्ध कर पाया कि वनस्पति मे भी जान है, वे सांस लेते है और सास छोड़ते है। प्रत्येक वनस्पति मे जैन मान्यतानुसार बल, आयु, श्वाच्छोश्वास आदि होते है। वैज्ञानिक भी इसे स्वीकार करते है।

जो वस्तुयें आखो से दिखाई देती है उनको जैन दर्शन मे चाक्षुश्व कहा गया है। यह चाक्षुश्व पदार्थ भेद संघात और दोनों के मिश्रण से बनते है। वैज्ञानिकों ने भी यही सिद्ध किया है कि एक मार्क्स नाम की गैस होती है। मार्क्स गैस मे क्लोराईड को प्लस करने से हाइड्रो क्लोरीक एसिड बन जाता है। मार्क्स गैस अदृश्य होती है परन्तु क्लोराइड के मिलने से वह चाक्षुश्व हो जाती है। इसी प्रकार जैन सिद्धान्त मे अन्य भी ऐसे प्रकरण मिलते है जिनकी प्रमाणिकता को नही नकारा जा सकता है। जैन साहित्य मे जैनों को सूर्यास्त से पूर्व भोजन करना, पानी छान कर पीना, गेहूं के आटे का कुछ ही अवधि तक सेवन करना, दूध-दही के उपयोग मे सतर्कता रखना आदि की जो शिक्षायें दी गई है वे पूर्णतया वैज्ञानिक है। जैन साहित्य मे कर्मवाद का सिद्धान्त बहुत विस्तार मे वर्णित हुआ है। यह सिद्धान्त भी पूर्णतया वैज्ञानिक है।

नोट :—उक्त लेख दिनांक ११ दिसम्बर १९८८ को आकाशवाणी पर प्रसारित हुआ।

(पृष्ठ २० का शेषांश)

मुत्पत्तिः कार्तिकमासे स्वत एव पतनात्।

अर्थ—मयुरपंख की जीवघात से उत्पत्ति हो, ऐसी बात भी नही है, क्योकि मोर के पंख कार्तिक मास में स्वय झड़ जाते है उनसे यह बनती है। (पृ० १२३, ज्ञानपीठ प्रकाशन)

D श्रीयुत प्रेमी जी ने जैन हितैषी भाग १०, पृ० ३६९ पर ज्ञान-प्रबोध ग्रन्थ से एक कथा लिखी उसमे उसमे कहा है—

दो चारण मुनि जो पूर्व भव मे कुदकुंद के मित्र थे, कुदकुंद को सीमन्धर स्वामी के समवसरण मे ले गए। जब वे उन्हे आकाश मार्ग से भेज रहे थे तो मार्ग मे कुन्दकुन्द की "मयुर पिच्छिका" गिर गई। तब कुन्दकुन्द ने गृद्ध के पंखों से काम चलाया। कुन्दकुन्द वहाँ एक सप्ताह रहे और उनकी सब शकाए दूर हो गईं। कुन्दकुन्द प्राभृत संग्रह प्रस्ता० पृ० ३-४, तीर्थंकर महावीर और उनकी आचार्य परम्परा २।१०१)

बम्बई से प्रकाशित श्लोक वार्तिक की प्रस्तावना मे लिखा है--अपनी तत्व शका का समाधान करने के लिए उमास्वामी विदेह क्षेत्र मे गए थे। मार्ग में उनकी मयुर-पिच्छी गिर गई। तब उन्होने गृद्ध के पिच्छ से काम चलाया। इसी से; बाद मे ये गृद्धपिच्छाचार्य कहलाए। (कुन्दकुन्द प्राभृतसग्रह प्रस्ताव० पत्र १३)

यदि उक्त सब बाते सत्य है तो शुरू से ही मयुर पिच्छिका के प्रचलन की सिद्धि हो जाती है। मयुर-पिच्छिका मे पाँचो गुण विद्यमान होने से साधु के लिए अनुचित भी नही है। पूज्य आचार्य अजितसागर जी (पट्टाधीश) की परम्परा मे तो श्रावकों के माध्यम से ही अहिंसक विधि से; स्वतः गिरे पंखो की मयुरपिच्छियों का ही उपयोग किया जाता है। उक्त तीनों प्रश्न इतिहास से सम्बद्ध है; अतः इतिहासज्ञ विशेष प्रकाश डाल सकेंगे।

जरा-सोचिए !

१. कुन्दकुन्द द्विसहस्राब्दी की सफलता ?

जब सन्देश मिलते है—श्रीमान् जी, हम आचार्यश्री कुन्दकुन्द द्विसहस्राब्दी के उपलक्ष्य म अमुक तिथि मे गोष्ठी या सेमीनार कर रहे है। अनेका विद्वानो की स्वीकृति आ चुकी है। आप भी आइए—विचार प्रकट करने। किराया दोनो ओर का दिया जायगा, कुछ भेट भी देगे। भोजन और ठहरने की सभी सुव्यवस्थाये रहेगी, आदि।

तब हम सोचते है—क्या लिखे? इन घिसे-पिटे प्रोग्रामो के सम्बन्ध मे, सिवाय यह सोचने के कि—हम पहुच तो सकते है बिना किराया और भेट लिए ही। और विचार भी प्रकट कर देगे बिना कुछ खाए-पिए भी। पर, लोकेषणा के इस माहोल मे सचाई को सुनेगा और मानेगा कौन? सभी तो मान-सम्मान और पैसे के नशे मे है—कोई ज्यादा कोई कम। क्या श्रोताओ और संयोजको के लिए गोष्ठी की सफलता (जैसा चलन है) किराया आदि देकर, हो हल्ला मचाने-मचवाने तक ही तो सीमित न रह जायेगी? या होगे कुछ सयोजक और कुछ श्रोता वहाँ? जो कुन्दकुन्द जैसे आदर्शों को आत्मसात् करेगे—उनके जीवन और उपदेशों को आदर्श मान प्राण-पण से उन पर चलने को तैयार होगे? आदि। जैन तो आचार-विचार मे समुन्नत होता है। आज तो कई त्यागी भी शिथिल है।

हमें याद है—कभी २५००वा निर्वाणोत्सव भी मनाया गया था। तब बड़ी धूप थी और लोगो मे जोश-खरोश भी। तब लोगो ने प्रभूत द्रव्य का हस्तातरण भी किया। तब बड़े-बड़े पोस्टर लगे, किताबे छपी, पण्डाल बने। सम्मेलन, भाषण और भजन कीर्तन भी हुए। कही-कही महावीर के नाम पर पार्क भी बने, भवन बने और कई सड़कें भी अपने मे महावीर मार्ग नाम पा गई। यह जो हुआ शायद भावावेश मे कदाचित् अच्छा हुआ हो। कुछ थोथे नेता नाम पा गए हो उसकी भी हम आलोचना नहीं करते। पर, लोग आचार की दृष्टि से जहा के तहां भी न रह सके वे स्वय नीचे ही खिसके—सबके आचार-विचार गिरते गए, इसका हमे दुख है। और—आज स्थिति यह आ गई कि जो मोटी-मोटी बाते जैनेतरो को समझाई जाती थी वे जैनियो को सबोधित करके स्वयं ही कहनी पड़ रही है। जैसे—

भाई जैनियो! रात्रिभोज का त्याग करो, सप्त व्यसनो से बचो, पानी छान कर पिओ, नित्य देव दर्शन करो, अहिंसा आदि चार अणुव्रतो का पालन और पाँचवें परिग्रह मे परिमाण को करो। और पूज्य-पद मे विराजित मुनिराज भी अन्तरग बहिरंग सभी भाँति से निर्ग्रन्थ रहने के लिए तीर्थंकर महावीर और कुन्दकुन्दवत् निज-ज्ञान, निज-ध्यान और निजतप मे लीन रहने की कृपा करें। समाज और अन्यों के सुधार चक्करो, भक्तों के अनिष्ट निवारण-हेतु मंत्र-तत्र जादू-टोना आदि करने से विरत हों। संघ के निमित्त वाहन आदि के सग्रह से विरत हों। अन्यथा, हमे डर है कि—कही वे स्टेजो, फोटुओ, जयकारों और भीड़ के घिराओ मे ही न खो जाँय और आर्ष-परपरा से च्युत न हो जाँय। वे पूर्वाचार्यों कृत आगमो का अपने हेतु अध्ययन करे। यदि आचार्यगण नई-नई रचनाओ के चक्कर में पड़ेगे तो व भले ही छोड़ी हुई जनता मे पुनः आ जाँय—नाम पा जाएँ, जिनवाणी का अस्तित्व तो खतरे मे ही पड़ जायगा—उसे कोई नही पढ़ेगा और काल्पनिक नवीन ग्रन्थ ही आगम बन बैठेगे।

आचाररूप धर्म की रक्षा व वृद्धि करने में ही उत्सव मनाने की सफलता और प्रभावना है। वरना, जैसा चल रहा है, वह बहुत दुखदायी है। कभी-कभी तो श्रावकों और मुनियो से सम्बन्धित कई अटपटे समाचारो और प्रश्नावलियो के पढ़ने और सुनने से रोना तक आ जाता है। जहाँ दिन था वहाँ रात जैसी दिखाई देती है। ऐसा क्यो? यह सोचने की बात है।

एक ओर जहाँ आचार्य कुन्दकुन्द की द्विसहस्राब्दी मनाने के नारे लग रहे है वही दूसरी ओर कुछ जैनी ही कुन्दकुन्द के आचार-विचार को तिलाजंलि दे, जैनियो की

जैन-मान्यताओं को झुठलाने के प्रयत्न में लगे हैं। कोई आदि तीर्थंकर ऋषभदेव और महादेव (रुद्र) को एक ही व्यक्ति मानने-मनवाने के प्रयत्न में हैं तो कहीं एक कोशिश यह भी है कि महावीर तीर्थंकर को मौजूदा निर्धारित समय से १२०० साल पूर्व ले जाया जाय, आदि। और यह सब कुछ हो रहा है—कुछ विद्वानों, कुछ नेताओं और कुछ समर्थ श्रावकों की छाया मे—धन के आसरे या यश-लिप्सा में। क्या, ऐसे मे जैन की पहिचान और आत्म-कल्याणभूत आचार-विचार सुरक्षित रह सकेंगे? क्या इसी को द्वि-सहस्राब्दी की सफलता कहा जायगा? जरा सोचिए।

२. ऋषभ और महेश्वर : दो व्यक्तित्व :

प्रसिद्ध जैनकोश—अभिधान राजेन्द्र के भाग ६ पृष्ठ ५६७ मे रुद्र शब्द के अर्थो में एक अर्थ महादेव भी दिया है। वहाँ पर श्वेताम्बर-आगम 'आवश्यकवृहद्वृत्ति' से महादेव की उत्पत्ति की कथा को भी उद्घृत किया गया है। यह कथा प्राकृत भाषा में है। श्वेताम्बर आचार्य भद्रबाहु स्वामी प्रणीत 'निर्युक्ति' की दीपिका टीका मे भी पृ० १०८ पर ऐसी कथा सस्कृत मे निबद्ध है। यही महादेव-महेश्वर जैनियो में ग्यारहवे रुद्र हैं और इनका समय तीर्थंकर महावीर का काल है—भगवान ऋषभदेव के लाखों वर्षों बाद का काल है। जैन मान्य महेश्वर (रुद्र) की कथा इस प्रकार है :—

"अत्र महेश्वरोत्पत्तिः—चेटकजा सुज्येष्ठा दीक्षितोपाश्रयान्तराता-पयति, इतः पेढालः परिव्राड् विद्यासिद्धो विद्या दातु नरं दिदृक्षुश्चेद् ब्रह्मचारिण्याः सुतः स्यात्तदा तस्मै दिद्यां दद इति तस्या धुमिकाव्यामोहेन विद्यया शील-विपर्यासः कृतस्तत ऋतुकालत्वाद्गर्भे जाते ज्ञानिभिरुक्तं नैतस्याः कोऽपि दोष इति छन्नं स्थापिता सुतो जातः श्राद्धगृहे वर्धते। ततः समवसृति गतः साध्वीभिः सह कालसन्दीपनो विद्याभृत्प्रभुमपृच्छत्—कुतो मे भीः? प्रभुराहाऽस्मात्सत्यकेरिति। स पित्रा हृत्वा विद्याः शिक्षितो महारोहिणी साधयत्ययं सप्तमो भवः। पञ्चसु विद्यया हतः, षष्ठे षण्मासशेषायुषा विद्या न स्वीकृता, इह साधयितुमारब्धा। अनाथमृतकचितां कृत्वाऽऽसन्ने आर्द्रचर्म विस्तार्य तदूर्ध्वं काष्ठज्वलनावधि वामाङ्गुष्ठेन चलति, अत्रान्तरे कालसन्दीपनः काष्ठान्यक्षिपत्। ततः सप्तरात्र सुर्यूचेऽस्य मा विघ्नं कृथास्ततः सिद्धाङ्गे प्रवेश याचन्ती भाले दत्तेऽतिगता, बिले जाते तृतीय नेत्रमकृत। तेन पिता हतो मन्माता राजसु र्घर्षितेति ततो रुद्राख्या। तद्भयात्कालसन्दीपनो नश्यन् पुरत्रयं कृत्वाऽर्हदंह्रचोस्तस्थौ, रुद्रेण पुरेषु हतेषु सुर्यः आहुर्वय विद्याः सोऽर्हत्पार्श्वेऽस्ति ततस्तेन तत्र गत्वा क्षामितः। अन्य आहुर्लवणे महापाताले हतस्ततः स विद्याचक्रचभृत्। त्रिसन्ध्यं सर्वविहरदर्हतो नत्वा नाट्य कृत्वा ततो रमते। तस्येन्द्रो महेश्वराख्यां ददौ, स द्विष्टो द्विजकन्याना शतं शतमन्यस्त्रीश्च रमयति, तस्य नन्दीश्वरो नन्दी च मित्रे पुष्पक विमान, सोऽन्यदोज्जयिन्या प्रद्योतस्य शिवां मुक्त्वाऽन्यराज्ञीषु रमते, राड् दध्यौ मारणे क उपायः? उमा वेश्या सुरूपा तस्मिन्नागते धूप दत्तेऽन्यदा स मुकुलितं प्रबुद्धं च पुष्पं करे लात्वाऽस्थात् स प्रबुद्ध ललौ तयोक्त मुकुलार्हस्त्व नाऽस्य, यतोऽस्मासु न रमते। ततस्तस्यां रतस्त्व कदाऽविद्यः स्याः? इत्युमापृष्टोऽवग् मैथुनक्षणे। राज्ञा तज्ज्ञात्वा स तदोमासहितो घातितस्ततो नन्दीश्वरः खे शिला कृत्वा तत्रैतः, राजा सार्द्रपटो नत्वा क्षामितवान्, सोऽब्रवीद्गृरूपेण महेश्वरस्याऽर्चने पुरे पुरेऽस्य स्थापने च मुञ्चे, ततो लोकैस्तथा प्रासादाः कारिता इति रुद्रोत्पत्तिः।"—आवश्यक निर्युक्तिः दीपिका—पृ० १०८

श्वे० जैन मान्यतानुसार उक्त कथा महादेव-महेश्वर की उत्पत्ति के सम्बन्ध मे है। कथा के अनुसार इन महादेव का मूल नाम सात्यकि है और सात्यकि को महेश्वर संज्ञा इन्द्र द्वारा प्रदान की गई है और इनको रुद्र भी कहा गया है। यद्यपि कथा में उमा, नन्दी जैसे नाम भी है। इस कथा में महेश्वर द्वारा नाट्य करने का भी उल्लेख है पर ये ज्येष्ठा के पुत्र है। ज्येष्ठा महावीर कालीन राजा चेटक की पुत्री है और महावीर और ऋषभ के काल मे लाखो वर्षों का अन्तराल है फलतः इन महादेव को ऋषभ नही माना जा सकता।

दिगम्बरों के आराधना कथाकोश की सत्यकिरुद्र की कथा भी इसी कथा से प्रायः मिलती-जुलती है। और दोनो ही सम्प्रदाय ऋषभ और महावीर में लाखों वर्षों का अन्तराल मानते है। ऐसी अवस्था मे भी इन महेश्वर और ऋषभ को एक ही व्यक्ति मानने-मनवाने की किन्ही जैन

विद्वानों की सूझ है? जब कि जैनी तो जैन-कथानक (प्रथमानुयोग) को अप्रमाण मानेगा ही नहीं और मानेगा तो वह श्रद्धानी नही होगा। इसके सिवाय हमारी दृष्टि मे तो उक्त जैन-महेश्वर और त्रिमूर्ति—ब्रह्मा, विष्णु, महेश-गत महेश्वर भी पृथक् २ दो व्यक्तित्व ही होने चाहिए। जैसी कि जैनेतरो की मान्यता है। महेश्वर सहारक शक्ति रूप, ब्रह्मा उत्पादक और विष्णु रक्षा करने मे तत्पर। उनकी दृष्टि मे ये शक्तियां ऋषभ से बहुत पूर्व की है और ऋषभ को उन्होंने भी आदि अवतार न मान बाद का—आठवां अवतार ही माना है। ऐसे मे इन महेश्वर और ऋषभ को भी एक व्यक्ति नही माना जा सकता। दोनो के स्वतंत्र अस्तित्व हैं और दोनो सम्प्रदायो मान्य दोनो की महिमाये भी पृथक् है और दोनों ही अपने में महान् है।

एक ओर तो हम कुन्दकुन्द द्विसहस्राब्दी मनाने के नारे लगाए और दूसरी ओर शक्ति, समय और पैसा बरबाद कर जैनाचार्यों की सही कथनी और आचार प्रक्रिया पर पानी फेरे—यह कैसे न्याय्य है? वर्तमान वातावरण को देखते हुए हम तो यही उचित समझते है कि हमारा सारा जोर ऐसी निरर्थक शोधो मे हट जैन की चारित्र-शुद्धि पर हो, प्राचीन मूल-आगम रक्षा पर हो, इसी मे द्विसहस्राब्दी की सार्थकता है—इसे सोचिए!

३. क्या कभी शास्त्र भी नहीं मिलेंगे?

समाज मे काफी अर्से से चिन्ता व्याप्त है और जगह-जगह चर्चाए भी होती है कि अब विद्वान नही मिलते। पर, हमे तो इसके सिवाय कुछ और ही दीखता है—अब बहुत कुछ वातावरण ऐसा भी बनता जा रहा है कि कुछ काल बाद ऐसी भी आवाजे आने लगगी कि पढ़ने को शास्त्र ही नहीं मिलते—नई किताबों के ढेर है। कारण यह कि लेखक अपनी भाव-भगिमा मे नित नए-नए रोचक ग्रन्थो का निर्माण करने मे लग बैठे है—कुछ का यह व्यापार आर्थिक दृष्टि से है और कुछ लोग अपना नाम-यश छोड जाने की लालसा में इन्हें लिखते है कि मर जाने के बाद लोग कहें—अमुक विद्वान ने अमुक ग्रन्थ लिखे। वे सोचते हैं—'गर तू नहीं तेरा तो सदा नाम रहेगा।'

इसका तात्कालिक फल यह हुआ कि—लोगों की रुचि प्रामाणिक प्राचीन शास्त्रों से हटकर नित नवीन-२ रचनाओं के पढने में लग बैठी—कोई पुस्तक खरीदने कहीं दौड रहा है तो कोई कहीं। यानी अब शोलापुर और अगास जैसे स्थानों से लोगों का लगाव न के बराबर जैसा रह गया हो। हां,

यह तो निश्चय है कि शास्त्रों के पढने में श्रम की अपेक्षा है। उनकी भाषा प्राकृत-संस्कृत अपभ्रंश या पूर्वकालीन देश-भाषा हिन्दी होने से वे सुगम-ग्राह्य न हो रागियों की दृष्टि से उनमें वर्तमान भाषा जैसी चटक-मटक और भाव-भगिमा भी नहीं और ना ही अब उन भाषाओं के सरल-बोध देने वाले विद्यालय और पाठशालायें हैं—वे तो हमारे देखते देखते खँडहर हो गए। भला, जब पडित ही बे मौत मारे गये, तो उनके आसरे भी कहां? सब का लोप हो गया। आप पूछेगे ऐसा क्यो हुआ? सो यह मत पूछिए, इसकी कहानी बड़ी लम्बी और दर्दनाक है—फिर कभी सुना देगे—पडितो और सस्थाओं के लोप में समष्टि का ही हाथ है। खैर,

अब समय ऐसा आ गया है कि समाज को इस दिशा मे सावधान होना चाहिए। प्राचीन मूल आगमो के अधिक संख्या में पठन-पाठन और प्रचार के उपाय होने चाहिए। उनमें अनुकूल-मूल भी विभिन्न भाषाओ मे दे दिए जाँय। इस दिशा मे प्रगति के लिए जगह जगह पाठशालायें खुलें, जिनमें मूल के अर्थ पढ़ाने का प्रबन्ध हो। तभी आगम सुरक्षित रह सकेंगे।

आपने देखा होगा—अन्यमतावलम्बियो मे वेद, गीता, उपनिषद, गुरु ग्रन्थसहित और कुरान के (लोगो की श्रद्धा मे) आज भी वे ही स्थान है जो पहिले जमाने मे थे। जब कि हमारे बहुत से जैनी अपने शास्त्रो के नाम तक नही जानते—वे आधुनिक रचनाओं को ही शास्त्र मान रहे है। जरूरत इस बात की है कि नई रचनाओं के प्रकाशन व निर्माण मे व्यय होने वाली शक्ति और धन को रोका जाय और उसका सदुपयोग प्राचीन आगमो की रक्षा में किया जाय। अन्यथा, वह समय दूर नही जब लोग यह कहने को मजबूर होगे कि—अब शास्त्र ही नही मिलते। जरा सोचिए!

४. प्रतिष्ठा में उभरे प्रश्न :

समाज में पंचकल्याणक उत्सवों का प्रचलन प्राचीन है और पचकल्याणक अब भी होते हैं। कहा जाता है ऐसी सब क्रियायें मूर्ति-शुद्धि के बहाने धर्म प्रभावना के लिए और तीर्थंकर-चरित्रों को आत्मसात् करने के लिए होती है। बीच के काल मे जब जैन सामान्य मे पन्थ होते हुए भी परस्पर भेद-भाव का ज़ोर नही पनपा था; तब पंच-कल्याणको, प्रतिष्ठाओं आदि की प्रक्रियाओ के सम्बन्ध मे भेद उजागर नही थे। आज जब तरा, बीस का चक्कर जोरो पर पहुंच गया तब लोगो में नए-नए प्रश्न उभर कर सामने आने लगे—लोग आचार्यों तक के पास निर्णयों को पहुंचने लगे—हालाँ कि आज के साधु भी पथ-वाद मे फंसे है।

गत दिनो स्थानीय कैलाशनगर-दिल्ली मे हुई प्रतिष्ठा के बाद यहां अनेको प्रश्न उभरे है और कई लोगो ने किसी मूर्ति के आसरे को लेकर हमसे कुछ समाधान भी चाहे है। पर, हम निवेदन कर दें कि हम उस प्रतिष्ठा म न जा सके और न ही हमें प्रतिष्ठा विषयक कुछ ज्ञान है। प्रतिष्ठाओ के विषय मे तो आगम और प्रतिष्ठाचार्य ही प्रमाण होते है—वे जैसा निर्णय ले। प्रश्नों को हम ज्यो के त्यो लिख रहे है। आशा है प्रतिष्ठाचार्य गण कोई निराकरण देंगे। यदि कोई निराकरण हमारे पास आए तो पाठको के लाभार्थ यथा शक्ति हम छाप भी देंगे।

प्रश्नावली :

(१) पंचकल्याणक तीर्थंकरो के ही होते है या सामान्य सभी अरहतो के भी ?

(२) क्या आगम में आचार्य उपाध्याय और साधु की प्रतिमायें बनने का विधान है ? यदि हां तो—

(३) क्या, इनकी मूर्तियो की प्रतिष्ठा का पंच कल्याणको में विधान है ? और इन पर छत्र क्यो ?

(४) सप्तर्षियो की प्रतिमाओ का चलन कौन से पथ का है—आगम प्रमाण दें।

(५) क्या, सहारा देने के लिए प्लेट मे पेचों से कस कर खड़ी की गई मूर्ति (छेदित होने के कारण) खडित नहीं होती ? क्या ऐसी मूर्ति प्रतिष्ठा के योग्य होती है ?

(६) क्या, आमूर्तिक सिद्ध भगवान का चरम आकार अरहतों की प्रतिमा के समान सशरीर (मूर्तिक) रूप मे और छत्रयुक्त बनाए जाने का आगम में विधान है ?

(७) क्या, जीवो की रक्षा निमित्त अग्नि, धूप, दीप और होम का निषेध करने वाले हमारे तेरापंथ सम्प्रदाय की प्रतिष्ठाओं में बड़े-बड़े आरम्भिक क्रियाकाण्ड करने कराने और हजारों २ बल्बों के जलाने आदि मे अहिंसा कायम रह जाती है ? या ये हमारे थोथे आडम्बर है ?

(८) क्या, अभिषेक-इन्द्र-सारथी आदि और पीछी-कमण्डलु की बोली लगाकर पैसा इकट्ठा करने का आगम मे विधान है ? जरा-सोचिए !

५. क्या ऐसे नहीं हो सकतीं प्रतिष्ठायें ?

हो सकता है कभी हमारे पूर्वजो ने धन दिया हो। पर, हम तो दान नही, अपितु वांछित यश की कीमत ही अग्रिम चुका रहे हैं। हम कहीं किसी को जो दे रहे है प्रशसा के लिए ही दे रहे हैं। ज्यादा क्या कहें ? आज तो प्रायः लोग धन के बहाने धर्म को भी व्यापार बना बैठे है—धर्म को विक्रय कर रहे है। जैसे—हमने कभी नहीं सुना कि कहीं शास्त्रो में ऐसा उल्लेख हो कि चन्दा इकट्ठा करके चौका लगा हो और किसी मुनि ने—उसमें आहार लिया हो। यह परिपाटी तो सदावर्तों जैसी हुई—उद्दिष्ट आहार से भी बदतर जैसी ही हुई। मुनि उसमें क्यों और किस विधि से आहार ले सकते हैं ? वे तो लौट जाएँगे। यदि अब कोई लेते हों तो यह शास्त्रों के विपरीत चर्या ही होगी।

आज ठीक ऐसी ही परम्परा कई पचकल्याणको के कराने मे भी देखी जा रही है। लोग चन्दा इकट्ठा करते है और पचकल्याणक कराने का झण्डा गाड़ देते है। उनका लक्ष्य होता है—चन्दा इकट्ठा कर खर्चे की पूर्ति करना और कुछ बचा भी लेना। और वे इसमे सफल भी होते है—'हर्रा लगे न फिटकरी रग चोखा ही आय।' इस तरह पचकल्याणक भी हो जाते है और कहीं-कहीं तो अच्छी खासी बचत भी हो जाती है। और वह अन्य धार्मिक

या सामाजिक कार्यों के लिए रिजर्व रख ली जाती है। इस प्रकार घूम फिर कर समाज का द्रव्य समाज के पास ही सुरक्षित रह जाता है—जो पहिले व्यष्टि रूप में था वह अब समष्टि रूप में हो जाता है और व्याज में मिल जाती है मूर्तियों की प्रतिष्ठा। ऐसे मे दान और धर्म कहाँ हुआ? भावो मे तो उस दान-द्रव्य के प्रति स्वत्व हा बैठा रहा। दान तो वहां होता है जहा स्वत्व का त्याग हो और धर्म वहाँ होता है जहाँ आत्मा मे निखार हो। यहाँ तो ममत्व और राग के सिवाय अन्य कुछ भी नही हुआ। उलटा ममत्व—और वह भी दान के—पर के सामूहिक द्रव्य के संरक्षण आदि मे बना रहा। जब कि जैन धर्म अपने द्रव्य मे भी ममत्व के त्याग का उपदेश देता है।

पहिले नही सुना गया कि मूर्ति निर्माण, पचकल्याणक या गजरथ आदि कभी चन्दे से होते रहे हों—चन्दे की परिपाटी तो इसी काल मे पडी दिखती है। पहिले तो ऐसे पुण्यकार्य किसी एक के द्रव्य से ही होते रहे सुने है और ऐसे मे ही ममत्व-त्याग सभव है—चन्दे का प्रश्न ही नही। इन्हे कराने वाला व्यक्ति उदारभाव से निःशल्य होकर द्रव्य का सदुपयोग करता था। संपादन कराने वाले को स्व-ख्यातिमर्ग मे रुचि होती थी! वह बोलियो जैसी कुप्रथाओ के सहारे सग्रह नही, अपितु स्वय की शक्ति के अनुसार स्वय के द्रव्य से प्रतिपादित कराता था। भला, वह भी कोई धर्म है जिसमें अभिषेक, पूजा, आदि जैसे अधिकारो की खरीद फरोख्त रुपयों से होती हो; इन्द्र और सारथी आदि के आसन रुपयों मे बिकते हो; आदि। क्या जैनियो मे भी व्रत-तप आदि से प्राप्त होने वाली पदवियाँ भी पैसे से खरीदी जा सकती है?

निःसन्देह इसमे शक नही कि चाहे कार्य कैसे ही किन्ही उपायो से भी सपन्न हुए हों, चन्दे या बोलियो से ही सही—भविष्य मे तो लोगो को धर्म के आधार होते ही है। प्रतिष्ठाये होती है तो जनता को सदा-सदा दर्शन पूजन की सुविधायें भी तो मिल जाती हैं। पर सोचना यह है कि क्या इस सबके लिए ऐसी बडी द्राविड़ी-प्राणायामो के सिवाय कुछ और भी सरल मार्ग हो सकते हैं? सभी जानते हैं कि हमारे यहां णमोकार मत्र महामत्र माना गया है। इसके प्रभाव मे कठिन मे कठिन सकट तक टल जाते है और यह आत्मा तक को शुद्ध कराने मे समर्थ है और मुनिगण भी हर बाह्य-अन्तरग शुद्धि के लिए प्रतिक्रमण मे इसका उपयोग करते हैं। तो क्या मूर्ति की शुद्धि, प्रतिष्ठा के लिए इस मंत्र के लाखो लाखो जपों का प्रयोग करके मूर्ति की प्रतिष्ठा का कार्य सम्पन्न नही किया जा सकता? शुद्धि और संकट निवारण के लिए मरते दम तक इस मत्र का जप किया जाता है। कहा भी है—

'एसो पच णमोयारो, सव्वपावपणासणो।
मगलाणं च सव्वेसिं पढम होइ मगल॥'

हम बिना किसी पूर्वाग्रह के जानना चाहते है कि, प्रतिष्ठाओ में जो बोली, चन्दे चिट्ठे और दिखावे आदि जैसे अनेकों आडम्बर घुस बैठे है वे कहा तक धर्म सम्मत है। हमारी दृष्टि से या तो प्रतिष्ठाएँ प्रतिष्ठाशास्त्रों के अनुसार बिना किन्ही आडम्बरो के हो यदि नही तो, क्या प्रतिष्ठा के निमित्त कोई ऐसी व्यवस्था उपयुक्त न होगी कि सामूहिक रूप मे णमोकार मत्र के लाखो-लाखो की संख्या मे जप कर लिए जायँ। इसमे मूर्ति तो प्रतिष्ठित होगी ही, मत्र जप करने से सैकडों-हजारों भक्तो के तन-मन भी पवित्र होगे। बडे से पण्डाल मे जब हजारो भक्त धोती दुपट्टा पहिने मन्द स्वर मे मत्र बोल रहे होगे तब समाँ और ही होगा और व्यर्थ के झझटो से मुक्ति भी होगी। तब न तो गाजे बाजे का प्रबन्ध करना पडेगा और न ही प्रभूत द्रव्य की चिन्ता होगी। परिग्रह और आरम्भ से भी छुटकारा मिलेगा—जो जैन धर्म का मुख्य लक्ष्य है। जरा सोचिए!

—सम्पादक

आजीवन सदस्यता शुल्क : १०१.०० रु०
वार्षिक मूल्य : ६) रु०, इस अंक का मूल्य : १ रुपया ५० पैसे

विद्वान् लेखक अपने विचारों के लिए स्वतन्त्र होते हैं। यह आवश्यक नहीं कि सम्पादक-मण्डल लेखक के विचारों से सहमत हो। पत्र में विज्ञापन एवं समाचार प्रायः नहीं लिए जाते।

Regd. with the Registrar of Newspaper at R. No. 10591/62

वीर-सेवा-मन्दिर के उपयोगी प्रकाशन

जैनग्रन्थ-प्रशस्ति संग्रह, भाग १ : संस्कृत और प्राकृत के १७१ अप्रकाशित ग्रन्थों की प्रशस्तियों का मंगलाचरण सहित अपूर्व संग्रह, उपयोगी ११ परिशिष्टों और पं० परमानन्द शास्त्री की इतिहास-विषयक साहित्य-परिचयात्मक प्रस्तावना से अलंकृत, सजिल्द। ६-००

जैनग्रन्थ-प्रशस्ति संग्रह, भाग २ : अपभ्रंश के १२२ अप्रकाशित ग्रन्थों की प्रशस्तियों का महत्त्वपूर्ण संग्रह। पचपन ग्रन्थकारों के ऐतिहासिक ग्रंथ-परिचय और परिशिष्टो सहित। सं. पं. परमानन्द शास्त्री। सजिल्द। १५-००

समाधितन्त्र और इष्टोपदेश : अध्यात्मकृति, पं० परमानन्द शास्त्री की हिन्दी टीका सहित ५-५०

श्रवणबेलगोल और दक्षिण के अन्य जैन तीर्थ : श्री राजकृष्ण जैन ३-००

जैन साहित्य और इतिहास पर विशद प्रकाश : पृष्ठ संख्या ७४, सजिल्द। ७-००

कसायपाहुडसुत्त : मूल ग्रन्थ की रचना आज से दो हजार वर्ष पूर्व श्री गुणधराचार्य ने की, जिस पर श्री यतिवृषभाचार्य ने पन्द्रह सौ वर्ष पूर्व छह हजार श्लोक प्रमाण चूर्णिसूत्र लिखे। सम्पादक पं हीरालालजी सिद्धान्त-शास्त्री। उपयोगी परिशिष्टों और हिन्दी अनुवाद के साथ बड़े साइज के १००० से भी अधिक पृष्ठों में। पुष्ट कागज और कपड़े की पक्की जिल्द। २५-००

ध्यानशतक (ध्यानस्तव सहित) : संपादक पं० बालचन्द्र सिद्धान्त-शास्त्री १२-००

श्रावक धर्म संहिता : श्री दरयावसिंह सोधिया ५-००

जैन लक्षणावली (तीन भागों में) : स० प० बालचन्द सिद्धान्त शास्त्री प्रत्येक भाग ४०-००

जिन शासन के कुछ विचारणीय प्रसंग : श्री पद्मचन्द्र शास्त्री, सात विषयों पर शास्त्रीय तर्कपूर्ण विवेचन २-००

मूल जैन संस्कृति अपरिग्रह : श्री पद्मचन्द्र शास्त्री २-००

Jaina Bibliography : Shri Chhotelal Jain, (An universal Encyclopaedia of Jain-References.) In two Vol. (P. 1942) Per set 600-00

सम्पादन परामर्शदाता : **श्री लक्ष्मीचन्द्र जैन**, सम्पादक : **श्री पद्मचन्द्र शास्त्री**

प्रकाशक—बाबूलाल जैन वक्ता, वीरसेवामन्दिर के लिए मुद्रित, गीता प्रिंटिंग एजेन्सी, डी०-१०५, न्यूसीलमपुर, दिल्ली-५

BOOK-POST